समालोचनार्थ

प्रतिष्ठा प्रदीप

श्री दिगम्बर जैन प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि-विधान

लेखक एवं सम्पादक

नाथूलाल जैन शास्त्री

न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, सिद्धान्ताचार्य, जैन सिद्धान्त महोदधि,
संहितासूरि, प्रतिष्ठा दिवाकर,
प्राचार्य
सर हुकमचन्द दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय
जंवरीबाग, इन्दौर

समालोचनार्थ

प्रकाशक

वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर

55, सीतलामाता बाजार
इन्दौर, मध्यप्रदेश
452 002

यह प्रतिष्ठा प्रदीप ग्रंथ कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परीक्षा बोर्ड, इन्दौर की 'प्रतिष्ठा रत्न' परीक्षा के लिये स्वीकृत किया गया है। इसके पूर्व नैतिक शिक्षा १ से ७ भाग ह. से. स्कूलों की कक्षा ६ ठी से १२ वीं तक व 'जैन संस्कार विधि' प्रतिष्ठा विशारद के लिए स्वीकृत किये जा चुके हैं।

समालोचनार्थ

प्रतिष्ठा प्रदीप

श्री दिगम्बर जैन प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि-विधान

लेखक एवं सम्पादक

नाथूलाल जैन शास्त्री

न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, सिद्धान्ताचार्य, जैन सिद्धान्त महोदधि,
संहितासूरि, प्रतिष्ठा दिवाकर,

प्राचार्य

सर हुकमचन्द दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय
जंवरीबाग, इन्दौर

समालोचनार्थ

श्री वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति

प्रकाशक

वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर

55, सीतलामाता बाजार
इन्दौर, मध्यप्रदेश
452 002

यह प्रतिष्ठा प्रदीप ग्रंथ कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परीक्षा बोर्ड, इन्दौर की 'प्रतिष्ठा रत्न' परीक्षा के लिये स्वीकृत किया गया है। इसके पूर्व नैतिक शिक्षा १ से ७ भाग हु. सं. स्कूलों की कक्षा ६ ठी से १२ वीं तक व 'जैन संस्कार विधि' प्रतिष्ठा विशारद के लिए स्वीकृत किये जा चुके हैं।

दो शब्द

विश्व का मानव धार्मिक भावना को जीवन में स्थान देकर कर्त्तव्यों के पालन में संलग्न रहता है। मानवी कल्पना के अनुसार देवता मानवों से सशक्त हैं। साधारणरूप में देवता लोकोपकारी होते हैं। मानव की रक्षा तथा दुष्टों को दण्ड देना उनका विशेष कार्य है। ऋग्वेद (७।८६।५) में ऐसा ही वर्णन मिलता है। देवताओं का मानवरूप में प्रकट होकर (मूर्तिमान होकर) मानवोचित कार्यों के करने की कथाएँ प्रायः मिलती हैं।

भारतीय विचारधारा में उस पूर्ण ब्रह्म के असीमित प्रकाश की अभिव्यक्ति एवं अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि के निमित्त पूजा का विधान किया गया है। भारतीय धर्म में प्रतिमा-पूजन की यही विशेषता है। इसी कारण तीर्थों तथा मंदिरों में देव-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गई। सर्वत्र विभिन्नता में एकता है। भेद में अभेद है। निम्न पंक्तियों में यही विचार मिलता है—

"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्
नृणामेको गम्यः त्वमसि पयसामर्णव इव।" (महिम्न०)

प्रतिमा का अर्थ है तुल्यता, समानता या रूप। भारत में प्रतिमा अनन्त ब्रह्म का प्रतीक मात्र है। सगुण ब्रह्म की कल्पना में ही प्रतिमा का स्थान है। ब्राह्मणमत में ब्रह्म की उस मूर्ति में प्रविष्ट होने की भावना को ही "प्राण-प्रतिष्ठा" कहते हैं।

उस ब्रह्म की आराधना के निमित्त प्रतीकोपासना को समाज में स्थान दिया गया। वेदान्त में इस मार्ग का उल्लेख मिलता है कि विश्व ब्रह्ममय है। अतएव किसी न किसी वस्तु को उसका प्रतीक माना जा सकता है। प्रतीकवाद के सिद्धान्त में अमूर्त, अदृश्य एवं अप्रस्तुत विषय के प्रतीक का विधान मूर्त पदार्थों के द्वारा भी करते हैं। इसीलिए अप्रस्तुत या अदृश्य ब्रह्म का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा करती है। वर्तमान काल में प्रतिमा के साथ प्रतीक-पूजन भी प्रचलित है जैसे, यज्ञ तथा शिवलिङ्ग।

प्रतिमा तथा कला में पारस्परिक सम्बन्ध है। मूर्ति-पूजन के निमित्त कलाकार ने प्रतिमा-निर्माण किया। वह ब्रह्म को रस-स्वरूप मानता है तथा "रसो वै सः" वाक्य से अपने आन्तरिक विचार की अभिव्यक्ति करता है। रस के द्वारा कलाविद् उपासकों के मन पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है अतएव सगुणोपासना के लिए प्रतिमा की

स्थिति परमावश्यक है। योगी के लिए भी ध्यान को केन्द्रित करने के लिए मूर्ति की उपादेयता प्रतीत होती है। दार्शनिकों ने भी प्रतिमा की उपयोगिता तथा महत्त्व को समझा था।

बौद्धमत में महायान-दार्शनिकों ने प्रतिमा-पूजन को प्रोत्साहित किया। इसी कारण बुद्ध की प्रतिमाएँ भारतीय कला में निर्मित की जाने लगीं। कलाकार देव-प्रतिमा को भी मनन या चिन्तन की अवस्था में प्रदर्शित करने लगे, जिससे उपासकों का ध्यान आकृष्ट कर सकें। श्रद्धा के द्वारा मनुष्य का मन केन्द्रित हो जाता है। यह कहना सर्वथा उचित है कि धार्मिक कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण देव-प्रतिमाएँ निर्मित हुई हैं। भारतीय कला में महान् शासकों की आकृतियां कला के विषयान्तर (Secular) मानी गई हैं। किन्तु धार्मिक जगत् में उपासना की पृष्ठभूमि में ही प्रतिमा का निर्माण हुआ।

उपनिषद् में उल्लेख मिलता है—

"सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापार उपासनम्।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥"

उस स्वरूप को सतत देखने, चिन्तन करने तथा ध्यान को केन्द्रित करने के कारण उपासक ध्यानावस्थित हो जाता है तथा ब्रह्म की उपलब्धि में सफल होता है। यद्यपि प्रतिमा को साधारण अर्थ में मूलवस्तु की प्रतिकृति मानते हैं, किन्तु अनुभूति में प्रतिमा कलाकार के मानस का प्रत्यक्षीकरण है। उसे अनुभूति मानना उचित होगा, अनुकृति नहीं। कलाकार की आन्तरिक भावना से प्रतिमा स्वयमेव उदित होती है।

भारतीय संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं में प्रतिमा-पूजन को अधिक महत्त्व दिया गया है। भारतीय धर्म से सम्बन्धित मूर्तिकला के सम्यक् परिज्ञान के लिए हमारी राष्ट्र-भाषा में ऐसी पुस्तक का अभाव था, जो सामाजिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर लिखी गई हो। इस अभाव की पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत पुस्तक के तीन खण्ड हैं—

(१) भारत में कला का उद्गम तथा कला-केन्द्रों के विकास की वार्ता। यहाँ प्राचीन भारत के प्रधान केन्द्रों—गान्धार, मथुरा, सारनाथ तथा मगध का कलात्मक परिचय उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। पश्चात् उनकी विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित कर क्रमशः विकासोन्मुखी कला का इतिहास प्रथम खण्ड में दिया गया है।

(२) ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं का साङ्गोपांग विवरण तथा कला की प्रगति का उल्लेख द्वितीय खण्ड की विशेषता है।

(३) हिन्दू मूर्तियों के अतिरिक्त बौद्ध तथा जैनमत से सम्बद्ध कलाकृतियों का वर्णन तृतीय खण्ड में प्रस्तुत है। बौद्ध कला एवं विचारधारा पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव स्पष्टरूप से वर्णित है। इसी खण्ड में बृहत्तर भारत में प्रचलित प्रतिमाओं का बिवरण भी प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रन्थ में समस्त देवकुल का वर्णन न कर प्रमुख देवता का परिज्ञान कराने का प्रयत्न है। परिस्थितियों के कारण ब्राह्मण धर्म के कुछ गौण देवता, बौद्धमत में पांचध्यानी बुद्ध के कुल (वंशज) तथा जैनमत के सहायक देवताओं का उल्लेख संक्षिप्त रूप में किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक का यह उद्देश्य नहीं है कि समस्त प्रतिमाओं की सूची पाठकों के सम्मुख उपस्थित की जाय, अपितु मूर्तिकला की वैज्ञानिक पद्धति एवं विकास से समाज को परिचित कराना ही इसका ही लक्ष्य है। यहाँ जो कुछ कहा गया अथवा प्रतिपादित किया गया है वह अन्तिम वाक्य नहीं है। ज्ञान की सीमा अनन्त है। केवल ज्ञान-प्रसार ही लेखक की एकमात्र अभिलाषा है। मानव की धार्मिक पिपासा को शान्त करने में यदि यह ग्रन्थ सहायक हो सका तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

अन्त में मैं अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता आचार्य बलदेव उपाध्याय भूतपूर्वनिदेशक संस्कृत शोध संस्थान, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अनेक बहुमूल्य सुझावों द्वारा मुझे इस कार्य में प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्रदान किया। अनुज डा० कृष्णदेव उपाध्याय मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं, जिन्होंने इस कार्य में सहायता प्रदान की।

परम पूजनीया माताजी के चरण-कमलों में इस तुच्छ कृति को समर्पित कर मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ, क्योंकि उन्हीं की भगवत्-भक्ति एवं निष्ठा ने मुझे इस ग्रंथ के प्रणयन मे रत होने की प्रेरणा दी। अन्त में मैं महाकवि कालिदास के शब्दों में यही कहना चाहता हूँ कि—

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्"।

पाटलिपुत्र
वसन्त पंचमी सं० २०२६ वि०
१०–२–७० ई०

—वासुदेव उपाध्याय

संक्षेप और संकेत

अ०	= अध्याय
आ० स० ए० रि०	= आर्कलाजिकल सर्वे एनुअल रिपार्ट
इ० ए०	= इंडियन एण्टीक्वेरी
ई० पू०	= ईसवी पूर्व
ई० स०	= ईसवी सन्
ए० इ०	= एपिग्राफिया इण्डिका
ऐ० ब्रा०	= ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ० वे०	= ऋग्वेद
का० इ० इ०	= कारपस इन्सक्रिप्शनं इंडिकेरम्
ज० इ० सो० ओ० आ०	= जनरल आफ इंडियन ओरियण्टल सोसाइटी आफ आर्ट
ज० आ० ए० सो०	= जनरल आफ एशियाटिक सोसाइटी
ज० बि० रि० सो०	= जनरल बिहार रिसर्च सोसाइटी
जै० सू०	= जैमिनिसूत्र
दि०	= दिन
पं० म्यू० क०	= पंजाब म्यूजियम कैटलाग
पृ०	= पृष्ठ
भा०	= भाग
यू० पी०	= उत्तर प्रदेश
राम०	= रामायण
रे०	= ऋतु
वा० पु०	= वायुपुराण
वि० स०	= विक्रमसम्वत्
श० का०	= शककाल
शा० प०	= शान्तिपर्व
स०	= सम्वत्
सं०	= संख्या
साधन०	= साधनमाला

विषय-सूची

खण्ड : प्रथम

खण्ड : द्वितीय

परिशिष्ट

प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान

खण्ड : प्रथम

अध्याय : १

विषय-प्रवेश

'कला' की परिभाषा

मानव की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का नाम 'कला' है। इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को ही पण्डितों ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति या सत्य की अभिव्यक्ति भी कहा है। कुमारस्वामी ने दूसरे शब्दों में कहा है कि प्रतीक या मूर्ति आत्मतत्त्व ज्ञान के लाभार्थ भाषा का काम करते हैं। 'कला' केवल भावों का प्रदर्शन ही नहीं करती किन्तु आध्यात्मिक सन्देश की वाहक भी है। 'कला' इतिहास का स्वयं एक शक्तिशाली प्रभाव है। अभिव्यक्तियों की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित होने के कारण वह व्यापक और अमर है। आदिम जीवन समाप्त हुआ, परन्तु 'कला' जीवित है। इतिहास के विकास क्रम में कला का उदय कब हुआ और किन परिस्थितियों में हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। 'कला' की असंख्य अभिव्यक्तियों में बहुत विचित्रता है। जीवन के विभिन्न अनुभवों का मूल्य समझने के लिए 'कला' की आवश्यकता अनिवार्य है। संस्कृति की पहचान भी इसी के द्वारा होती है। कला चेतन है। परमात्मा की अनुकृति की विशिष्टतम संज्ञा 'कला' है जिसके पीछे सत्य, शिव और सौन्दर्य का समन्वयात्मक भाव-निदर्शन है। विभिन्न देशों के विद्वानों ने 'कला' की व्याख्या की है परन्तु 'कला' के अर्थ की वास्तविक व्याख्या कठिन है। सबके मूल में अलौकिकता, अमरता तथा सनातनता ही है। 'कला' के माध्यम में किसी देश के सांस्कृतिक गौरव तथा उसके विकास और उत्थान का परिचय मिलता है।

भारत में कला-विषय आत्मपरक है। भारतीय कला के समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। कलाकार सत्य का उपासक होता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक कला-साधना द्वारा भारतीय कलाकार और उनकी लोककल्याण कला अमर है।

'कला' संस्कृत भाषा का शब्द है। इस शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। कई अर्थों में 'कला' शब्द का प्रयोग होता रहा है। साधारणतः तीन तरह की व्युत्पत्ति दी गई है। 'कल' शब्द का अर्थ सुन्दर या कोमल है। इसका 'कल्' धातु (=शब्द करना, बजना) से भी सम्बन्ध बतलाते हैं। अन्य विद्वान् 'कड' (=प्रसन्न करना) धातु भी जोड़ने के पक्ष में हैं। इसी प्रकार 'क' से आनन्द का भी बोध होता है। संस्कृत साहित्य में बीस प्रकार से 'कला' शब्द का प्रयोग किया गया है। कार्य कौशल या शिल्प के अर्थ में 'कला' शब्द का कदाचित् सर्वप्रथम प्रयोग भरत नाट्यशास्त्र में मिलता है—'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।' (नाट्यशास्त्र १।११३) परन्तु भरत मुनि का ज्ञान, शिल्प तथा कला से क्या आशय था, कहना कठिन है। भारतीय दृष्टि में

सामान्य रूप से कला कार्यविषयक कौशल है किन्तु विशिष्ट अर्थ में उसे ललित एवं उपयोगी समझते हैं। कला की यूरोपीय दृष्टि भी वही है। 'आर्ट' शब्द के मूल में 'अर' धातु है जिसका अर्थ बनाना या पैदा करना होता है।

प्रत्येक काल में विज्ञान की वार्ता अथवा विज्ञान को कार्यरूप में परिणत करने के लिए कला की आवश्यकता होती है। कला की यथार्थता की ओर विज्ञान सहायक होता है। अभिव्यक्ति के लिए सारे साधन प्रदान करता है। यही कारण है कि विज्ञान की सहायता से कला ने विस्तार एवं विकास के लिए इस लोकजीवन में तथा होनेवाली घटनाओं में पर्याप्त अवसर प्राप्त किया। इस प्रकार विज्ञान ने कला की अभिव्यक्ति के लिए उपकरण दिये। विस्तार के लिए नई दिशाएं बतलायीं। नवीन रूपों के विकास और मंगल के लिए स्वतंत्रता दी। कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान के माध्यम से कला ने अपने वैभव का सभी देशों में विस्तार किया।

कला तथा धर्म में से कौन पहले आया इसका निर्णय करना कठिन है। परन्तु दोनों का आगमन साथ माना जा सकता है। धर्म मर्यादा का मापदण्ड है। कला सौन्दर्य और रूप को लेकर सामने उपस्थित होती है। आरम्भ से ही प्रतीक, स्तूप, मंदिर, प्रतिमाओं का यथाकाल विकाश हुआ, उसी के साथ चित्रकारी, संगीत नृत्य एवं साहित्य का सृजन हुआ। धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया। धार्मिक भावना के साथ कला में विकास तथा परिवर्तन हुए। कला ने भी धर्म को अपना सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति का साधन माना। इस तरह धर्म तथा कला में पारस्परिक सहयोग की भावना काम करती रही है। कला धर्म की मर्यादा से सदा सीमित नहीं रही। वह राजा, धनी, दरिद्र मूर्ख तथा विद्वान् के लिए प्रिय रही है। कला का जन-मन-रंजन कार्य महत्त्वपूर्ण है। जिन युगों में धर्म जन-जीवन का केन्द्र रहा, इसने कलात्मक अभिव्यक्तियों के लिए प्रबल प्रेरणा दी। राजशक्ति के कारण सदियों के अथक परिश्रम से कलाकारों ने गुफाएं, स्तूप तथा मन्दिरों आदि का निर्माण किया। उसमें आध्यात्मिक भावों को कला ने ग्रहण किया और गौरव तथा अमर जीवन उसे प्राप्त हुआ। बुद्ध के त्याग, वैराग्य, ज्ञान, निर्वाण आदि अनुभूतियों को कला में संचारित किया गया,जो आज तक उदाहरण द्वारा जन-जीवन में उदात्त भावनाओं को उपस्थित करती हैं। इसी प्रकार जैन, हिन्दू आदि धर्मों ने कला को अपनी आत्मा समर्पित की। अत एव कला और धर्म का सम्बन्ध चिरकालीन है, जिसमें शिथिलता के लिए स्थान कम है। कुछ विद्वान् तो पुरुषार्थ में में कला को मोक्षस्वरूपा मानने लगे हैं। त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) से संयुक्त होकर प्राणी-मात्र को आनन्दमय साम्राज्य (निवृत्ति) में ले जाती है। इसलिए यह कहना युक्ति-संगत होगा कि कला ने त्रिवर्ग को समान रूप से प्राणान्वित किया है। उसमें सत्य का दर्शन होता है।

कला का प्रधान साधन 'कल्पना' है। कलाकार सामाजिक जीवन से दूर जाकर केवल आश्चर्य का सृजन करता है। भय यह रहता है कि आध्यात्मिक एव हृदय के भावनाओं का स्थान कहीं विज्ञान न ले। कल्पना के पश्चात् कलाकार चित्त को

एकाग्रित कर ध्यानयोग द्वारा कृतियों का सृजन करता है। अत एव चित्त एवं ध्यान योग को भी कला में प्रमुख स्थान देते हैं।

कला पर साहित्य का अमूक प्रभाव पड़ता है। मंत्र, गीत तथा कथानक से थोड़ी सी उत्तेजना मिलती है, जिसका कलात्मक प्रदर्शन साधारण घटना नहीं है। इसमें नाम को रूप में परिवर्तित देखते हैं। कला का कार्य मूर्ति में भाव, अवस्था तथा गुण आदि की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है पर उसमें जीवनदान तथा सत्य का प्रतिबिम्ब आवश्यक हो जाता है। अग्निपुराण में वर्णन आता है कि कलाकार भगवान से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! मुझे कार्य की शक्ति तथा उच्च विचारों के सफलीभूत करने की क्षमता दो। कला की रचनात्मक भाषा द्वारा सूक्ष्म को मूर्तिमान करना उसका कार्य है। यही कारण है कि आवश्यक बातों को समष्टि रूप से साकार बनाने की अवस्था किसी भी वाक्शक्ति से अधिक शक्तिशाली है। कला का उद्‌गम आन्तरिक विधान पर निर्भर करता है। अतः कलाकार ध्यान की ज्वाला में 'अहं' को भस्म कर ही अलौकिक बातों को कला में उपस्थित करने की क्षमता रखता है। कला केवल सौन्दर्य का आनन्द ही नहीं देती किन्तु जीवन दर्शन एवं आध्यात्मिक चिन्तन का आधार भी है।

कला एवं धर्म

मनुष्य विश्व का केन्द्रबिन्दु है उसकी लक्ष्यसिद्धि के लिए और कल्याण साधन के लिए धर्म उदित होता है। भारतीय धर्म उदार होने के कारण मानव-जीवन की पारलौकिक भावनाओं के ही साथ धर्म का क्षेत्र सीमित नहीं करता प्रत्युत उसका सम्बन्ध इहलोक से भी जोड़ता है। धर्म वह साधन है जो प्राणियों के ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस को सिद्ध करता है। मानव हृदय की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। मनुष्य संसार में रहकर चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। वैदिकधर्म में इसकी प्राप्ति के निमित्त त्रिविध पक्ष (क्रियापक्ष–कर्म, बुद्धिपक्ष–ज्ञान तथा हृदयपक्ष–भक्ति) का विधान किया गया है। भक्ति के द्वारा भक्त भगवान के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर मोक्ष की प्राप्ति करता है। सुगमता तथा सार्वजनीनता के कारण भक्ति-पंथ का विपुल प्रचार जगत में विद्यमान है। इस जगत के मूल शक्ति 'ईश्वर' की विविध रूपों की नाना प्रकार से स्तुति की जाती है। वैदिक साहित्य का अनुशीलन यह बतलाता है कि कर्म तथा ज्ञान का उदय वैदिक युग में हुआ। उसी प्रकार वेद ही भक्ति का उद्‌गमस्थान हैं। यद्यपि संहिताओं में कर्मकाण्ड का प्राबल्य था परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस समय ज्ञान तथा भक्ति का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। यह आश्चर्यमय घटना हो जाती है कि कतिपय देवताओं की स्तुति के समय उपासक के हृदय में अनुराग न हो या भक्ति भावना का अभाव रहा हो। ब्राह्मण ग्रंथों में कर्मकाण्ड की प्रधानता होते हुए भी भक्ति की भावना शून्य नहीं दीख पड़ती।

कला तथा धर्म का सम्बन्ध ही कला की प्रवृत्तियाँ, रीति, परम्परा एवं वृद्धि का मूल कारण है। धर्म ने कला को सर्वप्रथम प्रभावित किया। भारतीय कला सर्वदा

धर्म की सहचरी रही है। आर्य या हिन्दू धर्म ने सहिष्णुता तथा अन्य संस्कृतियों के विशिष्ट गुणों को आत्मसात करने में योग्यता दिखलाई है। समस्त कलाकृतियाँ धार्मिक तथा सांसारिक भावनाओं को व्यक्त करते हुए बनाई गयी थी। यज्ञ को ध्यान में रख कर ही वैदिक युग में वेदिका तैयार की गई, क्योंकि वैदिककालीन दैनिक जीवन का यज्ञ एक अङ्ग था। वैदिक कर्मकाण्ड को मिटाने के लिए ही बौद्ध तथा जैन मतों का उदय हुआ। बौद्धमतानुयायी निवृत्ति-प्रधान जीवन को लेकर चले थे। वर्णाश्रम संस्था की तरह उनका संघ स्थापित तथा आधारित नहीं था। बालक, युवा तथा वृद्ध समान रूप से संघ में प्रवेश पाते थे और भिक्षु का जीवन निर्वाह करते रहे। संघ के अधिकारियों को बालकों की शिक्षा, दीक्षा का प्रबन्ध करना था। धर्म से सम्बन्धित शिक्षा एक आवश्यक कार्य-क्रम हो गया। इस कारण भिक्षुओं के निवास के लिए विहार तथा प्रवचन अथवा पूजा के लिए चैत्य का निर्माण होने लगा। इस प्रवृत्ति ने कला को प्रभावित किया तथा सामाजिक एवं धार्मिक आवश्यकता ने कला में नवीनता पैदा की। कलाकारों को प्रोत्साहन मिला और उन लोगों ने सुन्दर चैत्यो तथा विहारों का निर्माण किया। ईसा से शताब्दियों पूर्व यह काय (बुद्ध के निर्वाण के बाद) सम्पन्न होने लगे थे।

बुद्ध के जीवन की एक घटना से भी वास्तुकला में नवीनता आई। महापरिनिर्वाण सूत्र में बुद्ध तथा आनन्द के बीच वार्तालाप का संदर्भ आता है। आनन्द ने तथागत से पूछा था कि निर्वाण के पश्चात् आप के शरीर (शव जलाने के बाद राख) का क्या होगा? बुद्ध ने उत्तर दिया कि—चार मार्गों के मुहाने पर शरीर के ऊपर स्तूप बनाया जाय।

आनन्द—कथं मयं भन्ते तथागतस्स सरीरे परिपज्जामाति।
बुद्ध—चातुम्महापथे रञ्जो चक्कवतिस्स थूयंकरोति
एवं चातुमहापथे तथागतस्स थूयो कातव्वो ॥

महापुरुष के राख पर स्मारक बनाया जाता है उसी प्रकार बुद्ध के शरीर पर भी स्तूप बनाया गया। बौद्ध ग्रन्थ के इस कथन का निर्वाह बुद्ध के अनुयायियों ने किया। कुशीनगर के निर्वाण के पश्चात् उनके भस्म को आठ भागों में विभक्त कर दिया गया और विभिन्न स्थानों पर स्तूप बनाए गए। इस साहित्यिक वर्णन के आधार पर सांची तोरण के एक पट्टी पर आठ हाथियों के सिर पर एक छोटा सन्दूक दिखलाया गया है जिस पर छत्र भी दृष्टिगोचर होता है। इससे प्रकट होता है कि उन सन्दूकों में बुद्ध के शरीर (राख) का कुछ भाग रक्खा था। कहने का यात्पर्य यह है कि इस आधार पर अशोक ने भी चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण किया और उसने पूजा का क्रम Cult of Stupa) आरम्भ किया था। अशोक के सारे स्तूप में मूल भस्म था या नहीं; पर धर्मराजिका स्तूप (सारनाथ) के नष्ट किये जाने पर स्तूप के मध्य भाग से प्रस्तर की एक गोलाकार डिबिया मिली थी, जिसमें राख मौजूद था। काशीराज चेतसिंह की आज्ञा से राख नदी में प्रवाहित कर दिया गया। डिबिया मात्र कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित है।

अशोक द्वारा स्तूप की परिपाटी ने कला में जीवन डाल दिया। मौर्य सम्राट् ने समतल भूमि पर स्तूप का निर्माण कराया। किन्तु शुङ्ग काल में पहाड़ों में अनेक चैत्य खोदे गए। सह्याद्रि पर्वतमाला के सभी गुहाओं में स्तूप का आकार मिलता है। हीनयान चैत्य में स्तूप मात्र वर्तमान है परन्तु महायान चैत्य में सुन्दर बुद्ध प्रतिमा दिखलाई पड़ती है जो स्तूप के साथ पर्वतशिला को खोद कर तैयार की गई थी। इस तरह भाजा, पितलखोरा, नासिक, कार्ले तथा अजन्ता के चैत्यों में स्तूप का सुन्दर रूप दिखलाई पड़ता है। संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि भगवान् बुद्ध के वार्त्तालाप तथा धार्मिक भावना से प्रोत्साहित होकर वास्तुकला तथा तक्षणकला में पर्याप्त वृद्धि हुई।

स्तूप पवित्र भावना तथा पूजा के मूल आधार बन गए। इस कारण विकारपूर्ण संसार से पवित्र स्तूप को पृथक करने के लिए शुङ्गकाल में वेदिकाएं तैयार की गईं, जो कला की अत्यन्त उत्तम, सुन्दर तथा आकर्षक नमूने हैं।

बोधगया, भरहुत तथा अमरावती की वेदिकाएं भारतीय कला में अद्वितीय स्थान रखती हैं। सांची का तोरण भी अपना सानी नहीं रखता। इन सभी का निर्माण धार्मिक प्रवृत्तियों तथा बौद्ध परम्परा को लेकर हुआ था। यह तो सर्वविदित है कि इन वेदिकाओं तथा तोरण का सम्बन्ध हीनयान मत से है। शुङ्गकालीन कला में बुद्ध-प्रतिमा का अभाव है तथा वह प्रधानतः प्रतीकात्मक है। बुद्ध के जीवन के प्रधान चार घटनाओं को (जन्म, ज्ञान, प्रथम प्रवचन तथा निर्वाण) क्रमशः हाथी, पीपलवृक्ष, चक्र तथा स्तूप द्वारा प्रदर्शित किया गया है। बुद्ध के प्रतीक प्राणीमात्र द्वारा पूजित दिखलाए गए हैं, यही कारण कि देव, मनुष्य; पशु, पक्षी, किन्नर आदि प्रतीक पूजा में संलग्न हैं। बुद्ध जीवन के कथानकों (जातक) का भी प्रदर्शन मिलता है। प्रतिमा के स्थान पर प्रतीक ही प्राणियों के श्रद्धा का पात्र था जो अजन्ता गुहा में जातक चित्रों के द्वारा प्रदर्शित हैं। इन सब का एक अन्य कारण भी था कि जनता बौद्धधर्म की ओर आकर्षित हो। यह भी सम्भव है कि कलाकार अपनी गुहा को सुन्दरता के लिए चित्रित करते रहे।

भारतीय कला के इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि मौर्य युग के पश्चात् बौद्ध कला में परिवर्तन आने लगे। उन पर सामाजिक तथा धार्मिक मिश्रित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अशोक ने अपने प्रथम प्रधान शिलालेख में निम्न लिखित शासन उत्कीर्ण कराया—

न च समाजो कत्तव्यो। बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानंप्रियोप्रियदसि राजा। अस्ति पितु एक चा समाजा साधुमता। पुरा महानससम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञों अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु।

अशोक मनोविनोद तथा आनन्द उद्बोधक समाज का विरोधी था तथा हिंसा के प्रतिकूल शासन प्रसारित करना तो उसका धर्म ही था। परन्तु उसकी मृत्यु पश्चात् अन्य धर्मावलम्बियों में समाज की कल्पना दूसरे रूप में दिखलाई पड़ती है। इस मानसिक परिवर्तन के कारण भरहुत की वेदिका पर सामाजिक दृश्य खुदा मिलता है।

उसमें अप्सराओं का नृत्य भी दीख पड़ता है। इसी प्रकार अमरावती में बोधिसत्व के सम्मुख नर्तकियाँ नृत्य करती दिखलाई गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अशोक के समाज की कल्पना को कालान्तर में आदर नहीं दिया गया। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने कलात्मक प्रदर्शन में नए विचार को स्थान दिया। समाज मनोविनोद तथा आनन्द का स्थान समझा गया। इसी कारण शुङ्गकाल में नृत्य का प्रदर्शन कला में मिलता है।

जहाँ तक पशुयज्ञ का प्रश्न था, मौर्यों की अवनति के पश्चात् हिंसा की भावना को शासकों ने वैदिक यज्ञ के निमित्त समादर नहीं किया। पुष्यमित्र शुंग की अयोध्या के लेख में "द्वि अश्वमेध याजिन:" कहा गया है। पतंजलि ने भी महाभाष्य में "इह पुष्यमित्रा: याजयाम" लिखकर इसकी पुष्टि की, कि अहिंसा का विचार समाज से जाता रहा। संक्षेप में यह कहना युक्तिसंगत होगा कि शुंगकालीन कला में नयी सामाजिक तथा धार्मिक कल्पनाएँ काम करने लगीं, जिनका प्रभाव कला पर भी दृष्टिगोचर होता है।

शुंगकालीन ब्राह्मणधर्म के उत्थान ने धार्मिक क्षेत्र में नया युग पैदा किया। तत्कालीन पुरातत्व प्रमाणों के विवेचन से प्रकट होता है कि भागवत धर्म का प्रचार हो रहा था। प्रथम सदी पूर्व के दक्षिण भारतीय नानाघाट गुहा अभिलेख में संकर्षण तथा वासुदेव की पूजा का विवरण मिलता है। विदिसा के समीप स्थित गरुड़ स्तम्भ-लेख में यवन दूत हेलियोडोरस को भी 'भागवत' कहा गया है जिसने गरुड़ध्वज की स्थापना की थी। तात्पर्य यह है कि महाराष्ट्र से लेकर विदिसा (मध्य प्रदेश) तक 'भागवत मत' का प्रचार हो गया था। ईसवी सन् भागवत सम्प्रदाय में 'व्यूह' की कल्पना के कारण ही संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न की पूजा का वर्णन अभिलेखों में उपलब्ध है। भागवत मत के दो मुख्य सिद्धान्तों-शक्ति तथा प्रसाद–ने बौद्ध-धर्म हीनयान को गहनरूप से प्रभावित किया जिस कारण महायान शाखा का उद्गम हुआ। इस यान में हीनयान के विचारधारा का लोप-सा हो गया। बुद्ध को महान नेता के स्थान पर दैवी शक्ति से पूर्ण भगवान का पद दिया गया। भक्तिभावना से प्रेरित होकर बौद्ध कला में प्रतिमा-निर्माण का समावेश हुआ। बौद्ध कलाकारों ने भगवान् बुद्ध की मूर्ति तैयार की और प्रतीकों के स्थान पर बुद्ध-प्रतिमा को मान्यता दी गई। ईसवी सन् पूर्व से लेकर कई सदियों तक भारतीय-कला बौद्ध-प्रतिमा से ओत-प्रोत हो गई, इतना ही नहीं बौद्धकला ने जैनकला को भी अछूता न छोड़ा। बुद्ध तथा तीर्थंकर प्रतिमाओं में इतना सूक्ष्म विभेद था कि साधारण दर्शक के लिए दोनों एक समान थे।

कुषाण युग में गान्धार तथा मथुरा के केन्द्र इसके लिए प्रसिद्ध थे। जिस भागवत सम्प्रदाय के कारण महायान की उत्पत्ति हुई तथा बौद्ध कला में परिवर्तन आया उसे गुप्त युग में सर्वोच्च स्थान मिला। गुप्त नरेश वैष्णवमतानुयायी थे, इसलिए उन्हें "परम भागवत" की उपाधि से विभूषित किया गया। सारनाथ में बौद्ध कला-केन्द्र होते हुए भी विष्णु-प्रतिमा का निर्माण सर्वत्र होने लगा। विष्णु-मन्दिर भी निर्मित किए गए। उत्तरी भारत के गुप्त स्वर्ण-मुद्राओं पर विष्णु के वाहन गरुड़ तथा पत्नी

लक्ष्मी की आकृतियाँ खुदी मिलती हैं। तत्कालीन विष्णु की अनेक मूर्तियाँ भी मिली हैं। कालान्तर में भगवान विष्णु के व्यूह कल्पना के स्थान पर अवतारवाद का सिद्धान्त सामने आया, जिसे ब्राह्मण कलाकारों ने गुप्तयुग से लेकर मध्ययुग तक (विष्णु के अवतार को) कला में प्रमुख स्थान दिया था। यह आश्चर्य का विषय है कि पूर्वी भारत के शासक पाल नरेश 'परम सौगत' कहे जाते थे परन्तु उनके शासन से विष्णु-प्रतिमाएँ प्रचुर संख्या में तैयार की गईं। धर्मपाल ने तो विष्णु मंदिर के लिए दान भी दिया जिसका वर्णन खालीमपुर ताम्रपत्र में मिलता है।

पूर्व मध्ययुग से बिहार प्रदेश में बौद्धमत की तीसरी शाखा-वज्रयान विकसित हुई। विभिन्न धार्मिक विचारधारा के सम्मिश्रण से ही वज्रयान (मंत्रयान या तंत्रयान का नाम भी दिया गया है) की उत्पत्ति हुई। जिस बुद्ध भगवान को महायान वालों ने दैवी शक्ति प्रदान की और देवत्व सम्बन्धी बातों का प्रचार किया, उसे वज्रयान में महत्वपूर्ण स्थान न मिल सका। इस तीसरे यान में सारे काल्पनिक देवता समूह (देवकुल) की कल्पना सामने लायी गई। वज्रयान के प्रमुख देवताओं में आदि बुद्ध, दैवशक्ति प्रज्ञापारमिका तथा पांचध्यानी बुद्ध की गणना होती है। पांच स्कन्धों को पांच ध्यानी बुद्ध तथा शक्ति तारा के सहयोग से सारे विश्व की उत्पत्ति मानी गई है। इसका दिग्दर्शन मगध के कलाकारों ने स्पष्टरूप से किया है। वज्रयान के समस्त देवता तथा देवी ध्यानी बुद्ध से उत्पन्न माने जाते हैं इसी कारण उनके सिरे भाग पर किसी न किसी ध्यानी बुद्ध की आकृति बनी है। ऐतिहासिक गौतम बुद्ध के लिए उस देवता समूह में कोई स्थान न था। यों तो पाल कला-शैली में सारनाथ बुद्ध की परम्परा निहित रही परन्तु वज्रयान देवता (हिन्दू-देवता के समान) अनगिनत संख्या में काल्पनिक स्वरूप में तैयार किये गए। उनकी प्रतिमाएँ भारत एवं बृहत्तर भारत में पाई जाती हैं। वैष्णव मत का बौद्धधर्म पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। पूर्वी भारत में वज्रयान (तंत्र या मंत्रयान) को समूल हिन्दूधर्म में सम्मिलित कर लिया गया जो मध्ययुग में "वैष्णव-सहजिया" के नाम से विख्यात हुआ। इसे प्रचारित होने पर तंत्रयान (बौद्धधर्म की तीसरी शाखा) का नाम लुप्त हो गया। मंत्र ही सारे धार्मिक पूजा, विचारधारा तथा वार्तालाप का केन्द्र बिन्दु बन गया।

वैष्णव मत के प्रचुर प्रसार के कारण मगध शैली में नवीनता दीख पड़ती है। भगवान् बुद्ध की जितनी प्रतिमाएँ ईसवी सन् आठवीं सदी तक उपलब्ध हुई हैं उनमें भिक्षु का वेष या चीवर दिखलाया गया है। परन्तु मध्ययुग के पालशैली में बुद्ध मूर्ति के सिर पर विष्णु-प्रतिमा के सदृश किरीट-मुकुट सुशोभित हैं। इतना ही नहीं बुद्ध को विष्णु का नवां अवतार मानकर उसे हिन्दूधर्म में अन्तर्हित कर दिया गया। केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे।

मध्ययुग में हिन्दु तथा बौद्ध मतानुयायियों में पारस्परिक द्वेष ने कला को अछूता न छोड़ा। धार्मिक मतभेद, वादविवाद तथा शास्त्रीय कटु आलोचना से कलाकार प्रभावित हुए और उन्होंने ऐसी प्रतिमाएँ तैयार की जो द्वेष को व्यक्त करती हैं। ब्राह्मण देवता-इन्द्र, ब्रह्मा, शिव, गणेश, विष्णु आदि को तन्त्रयान के देवताओं से पददलित दिखलाया गया। तंत्रयान देवता के सेवक रूप में इन्द्र एवं ब्रह्मा का

वर्णन साधनमाला में मिलता है। विष्णु तथा लक्ष्मी को पदवलित करके बौद्ध देवता के नाम मिलते हैं। त्रैलोक्य विजय की प्रतिमा बोधगया तथा नालंदा से उपलब्ध हुई हैं जिसके पैर तले शिव तथा पार्वती की आकृतियाँ खुदी हैं। इसी तरह वज्रयान देवी अपराजिता गणेश को पैरों से कुचलती दिखलायी गयी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि धार्मिक आलोचना, कटु व्यवहार तथा दूषित विचारधारा ने बौद्ध कलाकारों को द्वेषपूर्ण प्रतिमा (*Syncretic*) तैयार करने के लिए बाध्य किया होगा किन्तु इसकी प्रतिक्रिया ब्राह्मणकला में नहीं हुई।

मध्ययुग के ब्राह्मण कला में बौद्ध कलाशैली का प्रभाव दीख पड़ता है। इलौरा का कैलाशनाथ मन्दिर बौद्ध गुहा का अनुशरण मात्र है। ऐलेफेन्टा की गुहा भी बौद्धों की प्रतिलिपि है।

पूर्व मध्ययुग से भिक्षुओं ने भारतीय सीमा के बाहर भ्रमण कर—चीनी तुर्किस्तान, चीन, नेपाल, तिब्बत, एसिया के दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह में धर्म का प्रचार किया। उपदेश के साथ प्रतिमा द्वारा भी धर्म प्रचार किया गया। इस कारण बृहत्तर भारत में भारतीय कला का प्रसार हो गया। जावा, बालि, कम्बोडिया तथा चम्पा की कला में बंगाल की शैली का प्रसार दृष्टिगोचर होता है।

यह कहा जा चुका है कि कलाकार विशेषरूप से अपनी अनुभूतियों का ही प्रदर्शन करते रहे। वे अपने कार्यक्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुये भी समाज तथा धर्म से प्रभावित हुये। धर्म तथा कला सम्बन्ध अमिट था। कला में धर्म अन्तर्हित मानते हैं। जिसके पीछे धार्मिक भावना सदा काम करती है। एक को दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। ईसवी सन् पूर्व द्वितीय शती के धार्मिक ग्रन्थों में कला का संदर्भ प्रायः नहीं मिलता परन्तु कालान्तर में कई संहिताएँ इस पर विचार करती हैं। पांचरात्र-संहिता में तो "क्रिया" मोक्ष का मार्ग माना गया है इसीलिए शासक मोक्ष निमित्त मन्दिरों का निर्माण किया करते थे। पौराणिक कालीन हिन्दू धर्म में इतने विचार प्रवेश कर गए कि उनके प्रभाव से कला बच न सकी। पौराणिक कथानकों के आधार पर ही विभिन्न धार्मिक भावना जागृत हुई और उस पर आधारित कला भी परिवर्तित रूप में सम्मुख आई। विष्णु भगवान के अवतारवाद की कल्पना अत्यधिक रूप से प्रतिमावृद्धि का कारण मानी जाती है। दश अवतारों की विचारधारा ने ही कला को समुन्नत किया, या यों कहा जाय कि कलाकारों ने अपना चमत्कार दिखलाया।

बृहत्संहिता (१०१, १) में कला की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानते हैं, और यह भी कहा गया है कि कलाकार ने ब्रह्मा से उस विद्या को सीख कर संसार में प्रतिष्ठित किया। मानसार (शिल्पलक्षण) में भी शिल्पिन् की रहस्यमय उत्पत्ति मानी गई है। ब्रह्मा के द्वितीय नाम विश्वकर्मा को कला के साथ सम्बन्धित कर वास्तु या तक्षण कला को प्रतिष्ठा दी गई और कलाविद् विश्वकर्मा के वंशज प्रसिद्ध हुए। सारांश यह है कि शास्त्रकारों ने इस तरह के विचारों को सुप्रतिष्ठित कर कला एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रधानता दी।

भारतीय कलाओं में (जो धर्म के रूप तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का

आश्रय है) धार्मिक परम्पराओं तथा पौराणिक कथाओं का समावेश अनिवार्य था। भारतीय धर्म तथा दर्शन के अध्ययन से यह विदित हो जाता है कि अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत की भावनाओं ने अदृश्य रूप में कला को प्रभावित किया है। ब्रह्म का आत्मज्ञान करने के लिए साकार ब्रह्म की कल्पना उपस्थित की गई। कलाकारों ने मनुष्य आकार सदृश ब्रह्म की प्रतिमा तैयार की और साधारण विभेद के निमित्त अष्टताल अथवा नवताल में दैवी प्रतिमाएँ बनाईं।

आध्यात्मवादियों ने भगवान के नाना रूपों का परिज्ञान कराने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भावना को समाज में स्थापित किया। उनके कार्यों को भी ध्यान में रखकर देवताओं के विभिन्न स्वरूपों को कला में स्थान दिया गया। मनुष्य सदृश देव-मूर्ति को आत्मज्ञानी कलाविदों ने असंगत तथा अनुपयुक्त समझा, अत एव दैवी शक्तियों को प्रतिष्ठापित करने के लिए विष्णु तथा शिव की ऐसी प्रतिमाएँ निर्मित की, जिससे मनुष्य की आसक्ति बढ़े। आत्मविश्वास तथा ईश्वर में भक्तिभावना को आरोपित कर प्रतिमा की पूजा कर सकें। ईश्वर तथा प्रकृति की दार्शनिक विचारधारा तथा धार्मिक भावना ने ही युगलप्रतिमाओं का निर्माण कराया। देवियों (शक्तियों) की प्रतिमा देवता के साथ (Composit icons) प्रतिस्थापित की जाने लगी। राधाकृष्ण, लक्ष्मी नारायण तथा उमा-महेश्वर की मूर्तियाँ इस भावना के कारण ही तैयार हुई। देवी अपने देवता के आयुध तथा वाहन के कारण विभिन्न नामों से पुकारी गई। उदाहरण स्वरूप सप्तमातृका की मूर्तियाँ उल्लिखित की जाती हैं। देवी तथा देवता की प्रतिमाएँ (खड़ी या बैठी) युगल रूप में कलाकारों ने तैयार की थी परन्तु अद्वैत भावना ही अर्द्धनारीश्वर के मूर्तिनिर्माण में सहायक रही। अथर्ववेद (१०८, २७) में "त्वं स्त्री त्वं पुमान्" का वाक्य मिलता है। इसी भावना से प्रेरित होकर बुद्ध तथा मार, शिव तथा काम, दुर्गा एव महिष के पारस्परिक सम्बन्ध को कला द्वारा व्यक्त किया गया है। देवासुर संग्राम के वैदिक उपाख्यान में वही भावना अन्तर्हित है। इन सब कार्यों का एकमात्र कारण यह था कि आध्यात्म ज्ञान एवं अनुभव प्राप्ति की उत्कण्ठा भारतीय समाज के मूल में स्थित रही। यद्यपि आत्मज्ञान मे परतन्त्रता का विचार प्रदर्शित नहीं हो सका, किन्तु उसको विभिन्न पहलुओं और बाहरी मार्गों को दृष्टि में रखते कलाविदों ने अपना कार्य सम्पादन किया है।

कला में विश्व तथा सृष्टि रचना के विचारों को व्यक्त करने में भी कलाकार पूर्ण सफल रहे। कला में खुदाई द्वारा मनुष्य अपने ब्रह्म के स्वरूप से परिचित हो जाता है। शिवलिङ्ग तथा योनि का जो रूप कला में दृष्टिगोचर होता है उसे विश्व उत्पत्ति का प्रतीक मानते हैं। सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म को सीमित क्षेत्र में साकार बना कर भक्ति भावना से अर्चना के लिए ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की प्रतिमायें तैयार हुई थीं। सद्धर्मपुण्डरिक में यही विचार व्यक्त किए गए हैं कि योग की भावना से प्रेरित ध्यानावस्थित होकर मनुष्य ब्रह्म की पूजा करता है ताकि ब्रह्म तथा आत्मा में सम्बन्ध स्थापित कर सके। यद्यपि कलाकार सांसारिक आडम्बर और वस्त्राभूषण से सुज्जित देव को मनुष्य के आकार में दिखलाता है तथापि मूर्ति को आध्यात्मिक भावना रहित

नहीं किया जा सकता। ब्रह्म तथा शक्ति को शिव-पार्वती की युगल मूर्ति द्वारा "सत्यं शिवं सुन्दरम्" के प्रदर्शन में भारतीय कलाकार ने अद्वितीय काम किया है। संसार में रहकर जीवधारी मनुष्य विषयों से आप्लावित हो जाता है। उसी परिस्थिति में कलाकार इस ढंग से प्रतिमा निर्माण करता है जिससे धर्म, समाज तथा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो और मनुष्य अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति में सफलता प्राप्त कर सके। भारतीय कला में दैवी लावण्य है और ध्यानमुद्रा में प्रतिमा द्वारा आंतरिक अनुभव की अभिव्यक्ति होती है। प्रकृति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त वृक्ष, लता, पुष्प आदि को कला में स्थान देकर मनुष्य से इसका (प्रकृति) सामंजस्य स्थापित किया है।

निर्वाण की प्रधानता को दिखलाने के लिए बुद्ध की प्रतिमा योगी के रूप में रूप में तैयार की गई और महायान मत वालों ने आध्यात्म चिन्तन वाले बुद्ध को मनुष्य के रूप में दिखलाया तथा महाप्रदर्शन द्वारा उसके विराट् स्वरूप को प्रदर्शित किया। उस बुद्ध के चारों तरफ अद्भुत रस में विभोर मनुष्यों एवं अन्य जीवों के समूह को एक भाव (Chorus) में इस प्रकार दिखाया गया है कि आत्मा की अमरता तथा जीव के क्षणभंगुरता में (क्षणिक अस्तित्व) विश्वास हो जाता है। सर्वव्यापी ब्रह्म तथा मनुष्य के भाग्य का निर्णय विभिन्न देव प्रतिमाओं के अवलोकन से होने लगता है। देवता की श्रेष्ठता का प्रदर्शन आज की सूर्य प्रतिमा, उदयगिरी की वराह मूर्ति, महाबलिपुरम् का गंगावतरण, इलौरा का कैलास, त्रिविक्रम विष्णु (बादामी) तथा त्रिपुरान्तक शिव आदि की मूर्तियों द्वारा हो जाता है। उसी प्रकार कन्नौज का विश्वरूप विष्णु, देवगढ़ का अनन्तशायी विष्णु, नटराजशिव तथा अंकोरवट का समुद्र-मंथन तथा देवासुर संग्राम में देव की महत्ता का दर्शन कर सकते हैं। महाकाल, भैरव, तथा चामुण्डा से नित्यता तथा महाविद्या, महामाया एवं महाशक्ति की प्रतिमा से विश्व की शक्ति का आभास मिलता है। स्थापत्य कला में स्तूप के आकार द्वारा विश्व का स्वरूप, आकाश तथा स्वर्ग की अभिव्यक्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व की आत्मा कला द्वारा देखी जा सकती है।

मनुष्य जीवन के तीनों समय विभाजन (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) के निरूपण को ध्यान में रखकर कलाकारों ने त्रिविक्रम की प्रतिमा तैयार की थी। जिसके वामन तथा विराट् स्वरूप का वर्णन पुराणों में मिलता है। उसी तरह कल्पवृक्ष ऐसा प्रतीक है जो प्राणी की इच्छाओं की पूर्ति का विश्वास दिलाता है।

सामाजिक प्राणी का अस्तित्व ही मोक्षप्राप्ति के लिए माना गया है। दार्शनिक ढंग से विष्णुधर्मोत्तर में भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं। सरस्वती प्रतिमा से ज्ञान की भावना, शिवपार्वती के कल्याणसुन्दर प्रतिमा से काम और योगीश्वर शिव द्वारा मोक्ष के भाव प्रकट किए जाते हैं। इसी प्रकार योगी के रूप में बुद्ध निर्वाण की अवस्था को व्यक्त करते हैं। पुरुषार्थ के अतिरिक्त 'रस-प्रदर्शन' के कार्य में भारतीय कलाकार पीछे न रहे। शान्त, करुण, शृङ्गार, वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक-रसों का प्रदर्शन विभिन्न मूर्तियों में मिलता है। बुद्ध की प्रतिमा शान्त भाव प्रदर्शित करती है। यम करुणा, विष्णु शृङ्गार, इन्द्र वीर, ब्रह्मा अद्भुत,

शिव रौद्र तथा काल भयानक रस के प्रदर्शन में उल्लिखित किये जा सकते हैं। इस प्रकार विभिन्न आकृति तथा प्रतिमाओं द्वारा लौकिक सौन्दर्य तथा दैवी लावण्य के प्रदर्शन में भारतीय कलाकार दक्ष थे। उन्हीं की कृतियों का अध्ययन आगामी पृष्ठों में किया जायगा।

समाज और कला

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और समाज का व्यक्ति पर प्रभाव अवश्यमेव होता है। इसी रूप में कलाकार भी अपना व्यक्तित्व रखता है और कला के माध्यम से समाज को प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य तथा कला समाज के दर्पण हैं। एक में कल्पना की उड़ान तथा घटनाओं का विवेचन मिलता है तो कला-कृतियों में समाज का रूप दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक युग के कलात्मक नमूने उपलब्ध नहीं हैं, अत एव तत्कालीन सामाजिक प्रभाव का अध्ययन कठिन है। ऐतिहासिक युग से बुद्धधर्म का उत्थान तथा विकास हुआ। बौद्ध धर्म में वर्णभेद नहीं था तथा आश्रम संस्था के अभाव में सभी अवस्था एवं वर्ण के लोग सीधे संघ में प्रवेश करने लगे। यों तो बौद्ध समाज में वर्णाश्रम के लिए कोई स्थान था। निम्न वर्ण का उपालि भी प्रभावशाली अगुआ हो गया तथापि समाज के विभिन्न वस्तुओं का प्रभाव कला पर पड़ता ही रहा। ब्राह्मण सन्यासी गेरुआ रंग का कपड़ा पहन भ्रमण किया करता तो बौद्ध भिक्षु पीला वस्त्र पहन कर भिक्षा मांगते रहे। जैनमत में सफेद वस्त्र पहनना जैन साधुओं के लिए निश्चित था जिससे उन्हें श्वेताम्बर (श्वेत + अम्बर) कहा गया और जो नग्न रहने लगे उन्हें दिगम्बर की संज्ञा दी गई। सारे मतानुयायी अपने देवी देवता की प्रतिमा में सामयिक वस्त्राभूषण (दिगम्बर को छोड़ कर) का प्रयोग करने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्यमेव दृष्टिगोचर होता है। वंश परम्परा के कारण भी कलात्मक प्रवृति मनुष्य में आ जाती है। कलाकार जिस किसी धर्म का अनुयायी था, समाज के परिपाटी का पालन करता रहा। बौद्ध कलाकार किसी विशेष वर्ण से सम्बन्धित नहीं थे तथापि वंश परम्परा की हस्तकला में दक्ष थे। इन सब कारणों से समाज का प्रतिबिम्ब कला में देखना आवश्यक हो जाता है।

कला की प्रधानता के कारण ही प्राचीन युग में शिक्षाक्रम में कला को स्थान दिया गया। क्षत्रिय वर्ग में राजकुमार अन्य विद्याओं के साथ कला का भी अध्ययन करते थे। प्राचीन प्रशस्तियों में ऐसा वर्णन आता है कि शासक प्रायः सब विद्याओं में निपुण होता था। हाथी गुम्फालेख में कलिङ्ग नरेश खारवेल की प्रशंसा—"लेखरूप गणना व्यवहारविधि विशारदेन" शब्दों द्वारा की गई है। जूनागढ़ की प्रशस्ति में महाक्षत्रप रुद्रदामन के विद्यानुराग का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है—

शब्दार्थ-गान्धर्व्व-न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्त विपुलकीर्त्तिना। (ए० इ० भा० ८ पृ० ४२)

इसी तरह प्रयाग के स्तम्भलेख में गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशंसा की गई है। मध्ययुग में मालवा नरेश वाक्पतिराज कई शास्त्र में निपुण था, ऐसा उल्लेख

उसकी प्रशस्ति में आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजकुमार अध्ययन के क्रम में कला की शिक्षा ग्रहण करते थे।

याज्ञवल्क्य (२, १२४) तथा नारद (५, १९-२०) ने कला सीखने के निमित्त गुरुगृह को समुचित स्थान माना है। अमरकोष (२, १०) में विभिन्न हस्तकला के निगमों (श्रेणी) का नामोल्लेख है, जिससे पता चलता है कि कला की शिक्षा के लिए भी श्रेणीकार्य करती रही। ११ वीं सदी के एक लेख में चण्डशिव नामक कलाकार का वर्णन आता है जो वास्तु एवं तक्षण कला में बहुत निपुण था।

विश्वकर्म्मेव सर्वज्ञो वास्तुविद्यां—
निर्मितमिदं मनोहर शंकरस्य भवन। (ए० इ० भा० २, पृ० १२३)

इसी प्रकार धनिक के नगरलेख में तीन कलाकारों का वर्णन आता है जो राजपुताना के प्रसिद्ध कलाविद् थे (भारत कौमुदी भा० १, पृ० २७६)।

श्रीभिल्लमाल सूत्रधार-गृहभट्टोत्पन्न-सूर्यवर्म-गुहवर्म-नागावर्म-सूत्रधारत्वेन कुशले रूपकर्म-निपुणैः विद्यापारगैः।

प्राचीन युग की प्रतिमाओं के अध्ययन एवं निरीक्षण से प्रकट होता है कि कलाकार प्रतिमा-निर्माण में अत्यन्त कुशल एवं निपुण थे। राजपुताना से बंगाल तक उत्तरी भारत में सर्वत्र कला का प्रचार था। सम्भवतः शिक्षा संस्थाओं में इसे भी स्थान दिया गया था। वैश्य समाज के लोग अधिकतर इस विद्या से अनुराग रखते थे। श्रेणी के रूप में कार्य सम्पन्न करना सरल था अतः यथेष्ट रूप से कार्य होता रहा। कार्य को देखकर विद्याभ्यास की बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। कला की शिक्षा समाज के विकास के लिए नितान्त आवश्यक भी थी।

जातकों में (भा० १, २, ३) कला को विज्ञान कहा गया है और राजकुमारों के लिए कला की शिक्षा अनिवार्य-सी थी। गान्धार शैली के ऐसे उदाहरण मिले हैं जिनके प्रस्तरों पर बुद्ध द्वारा लिखना, वीणा बजाना तथा धनुर्विद्या सीखना दृष्टि-गोचर होता है। मध्ययुगी कलात्मक नमूनों में उड़ीसा से प्राप्त एक स्त्री की प्रतिमा सुन्दर तथा उत्कृष्ट है। पत्र लिखते हुए उस स्त्री की आकृति मनोभाव को व्यक्त करती है। इनके अतिरिक्त सूर्य प्रतिमा के साथ-साथ पिंगल की आकृति मिलती है जो विद्या के अन्य साधन लेखनी तथा मसीपात्र के साथ अंकित है। इस अध्ययन से प्रकट होता है कि समाज के शिक्षा-क्रम से विभिन्न कला की शिक्षा दी जाती थी। प्रस्तर की खुदाई में कलाकारों ने सर्वप्रथम प्रकृति के स्वरूप को अपनाया, तत्पश्चात् मनुष्य से सम्बन्धित आकार-प्रकार को स्थान दिया।

यद्यपि समाज में कलाकार स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है किन्तु सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उसके मानसिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। प्राकृतिक सुन्दरता से उसकी शक्ति का उद्बोधन होता है और अपनी शिक्षा, दीक्षा एव अनुभूतियों से कला में सहायता प्राप्त करता है।

सामाजिक विचारधारा का प्रभाव सदा से कला पर दृष्टिगोचर होता है। सर्व-प्रथम कलाकारों ने प्रस्तर की प्रतिमाएँ तैयार की परन्तु कालान्तर में धातु का प्रयोग

करने लगी। इसका कारण यह था कि चल-प्रतिमाओं के लिए धातु का ही प्रयोग अनिवार्य था। अधिकतर अष्टधातु, कांस्य तथा ताम्बे का प्रयोग मिलता है। प्रस्तर की अचल मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित होती रहीं। विधिवत् स्थापना के बाद उनको स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता था। चल मूर्तियों को पर्व के अवसर पर यात्रा में निकालते थे। उसी का वर्णन प्राचीन अभिलेखों में देवयात्रा अथवा रथयात्रा के नाम से किया गया है। सम्भवतः रथयात्रा के सामाजिक उत्सव में प्रतिमाओं का जुलूस निकाला जाता था, जिसमें हजारों नरनारी सम्मिलित होते थे। मौर्य सम्राट् अशोक के चौथे शिलालेख में 'विमान दसणा, च हस्त दसण च अग्निसंधानि' शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि समाज में समय-समय पर जुलूस निकाला जाता था। मध्य-युगी लेखों में उल्लिखित देव प्रतिमाके जुलूस (देवयात्रा) के लिए शासक की ओर से कर लगाया जाता था। राजपुताना के चहमान लेखों में राजाज्ञा प्रसारित करने का उल्लेख है कि देवयात्रा में जनता उत्तम वस्त्राभूषण धारण कर उत्सव में सम्मिलित हो तथा संगीत में भाग ले (यत्रदिने यात्रा भवति तत्रापर समस्तदेवानां सत्क प्रमादा कुलैः साकल्यैः सुवस्त्रैः वाद्यनृत्य गानादि विधिना यात्रा कर्तव्या—ए० इ० भा० ११ पृ० २८) ऐसे सामाजिक उत्सवों पर देवता की धातु-प्रतिमा को ही रथ पर स्थित कर यात्रा सम्पन्न की जाती थी। आजकल भी आषाढ़ मास शुक्लपक्ष के आरम्भ में रथयात्रा का पर्व मनाया जाता है। संक्षेप में यह कहना युक्तिसंगत है कि देवताओं की अचल या चल प्रतिमा (प्रस्तर या धातु) समाज के विभिन्न धार्मिक विचार के अनुकूल तैयार होती रही।

राजा भी ऐसे सामाजिक कार्यों की संरक्षता करता तथा उसकी सफलता के लिए सभी प्रकार के उपाय करता था। कला की अभिवृद्धि में शासकों ने बहुत हाथ बटाया। एक वर्ग के लोग राजाओं में देवत्व की भावना आरोपित करते और उन्हें ईश्वर का अवतार मानते थे। इसके विपरीत अनेक शासक गण विभिन्न धर्मानुयायी होने के कारण भारतीय कला को नष्ट करने में भी प्रयत्नशील रहे। अतः ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है शासकगण समाज के उन्नायक और उसकी विचारधारा के पालक थे। मध्ययुग में इस्लाम धर्मानुयायियों ने हिन्दू कला को प्रोत्साहन तो नहीं दिया पर अपने ढंग से किसी न किसी रूप में कलात्मक प्रवृत्ति को जागृत रक्खा।

सामाजिक प्रभाव का साक्षात् दृष्टान्त प्रतिमाओं के वस्त्राभूषण से विदित हो जाता है। प्रारम्भिक बौद्ध कला में धार्मिक प्रतीक को प्रधान स्थान दिया गया था। बुद्ध के विभिन्न प्रतीक प्राणीमात्र से पूजित होते थे। स्त्री-पुरुष विभिन्न प्रकार के वस्त्र धारण किये हुए दिखलाए गये हैं। मौर्यकाल से पूर्व यक्ष की प्रतिमाओं में अधोवस्त्र तथा उत्तरीय दिखलाई पड़ता है। दीदारगंज की यक्षी दो वस्त्रों के साथ (लहँगा तथा चादर) करधनी, पायल, कुण्डल आदि आभूषणों से सुसज्जित है। मौर्य तथा शुङ्गकालीन आकृतियों में धोती, चादर के अतिरिक्त पगड़ी भी वर्तमान है। स्त्रियों के शृङ्गार में केशविन्यास के नमूने अत्यन्त आकर्षक दिखलाई पड़ते हैं। आभूषणों में

कुण्डल, हार, चूड़ामणि, कंकण, वलय, केयूर, अगद, पायल तथा अंगूठियाँ आदि के नाम लिए जा सकते हैं। किसी किसी में हाथ के तलवे तक अलंकृत मिलते हैं। इसका मूल कारण यह है कि सामाजिक अलंकरण ने कला को मुख्यतः प्रतिमा-निर्माण को प्रभावित किया था।

प्राचीन मूर्तियों में सिले वस्त्र का अभाव दर्शक को अशोभनीय प्रकट होता है। कलाकार का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि वह नग्न शरीर (कमर से ऊपरी भाग) द्वारा किसी विषयी को आकर्षित करे या मूर्ति को विषय वासना में लिप्त दिखलाने का प्रयत्न करे। ऐसी विकृत या कामुक प्रवृत्ति को दर्शाने का उनका विचार कदापि न था किन्तु कलाविद् शरीर की वास्तविक अवस्था (नग्नावस्था) को दिखलाने में हिचकते नहीं थे। शिशु नग्न ही उत्पन्न होता है तत्पश्चात् सांसारिक आवरण-वस्त्रादि धारण करने लगता है। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर प्रागैतिहासिक युग में मातृदेवी की नग्न मूर्ति बनाई गई। शिवलिङ्ग को भी विश्व की उत्पत्ति का मूल प्रतीक समझते हैं। वस्त्राभूषण से सज्जित अंग को वास्तविक रूप से दिखाया भी नहीं जा सकता। परन्तु ईसवी सन् के पश्चात् देव प्रतिमा का विकास मनुष्य की आकृति लेकर हुआ, जिस कारण वस्त्राभूषण से सुसज्जित मूर्तियाँ बनने लगीं। इसे सामाजिक प्रभाव ही कहा जा सकता है।

समस्त प्रतिमाएँ अथवा आकृतियाँ निम्न प्रकार से अलंकृत मिलती हैं—

(१) वस्त्र

(२) आभूषण

(३) केश-विन्यास

(४) आयुध या प्रतीक

वस्त्र धारण करने की परिपाटी परिस्थितियों अथवा सामाजिक स्थान के ऊपर निर्भर है। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन साधु—गेरुआ, पीला एवं सफेद वस्त्र क्रमशः धारण करते थे। शासकों की आकृतियों में वीम तथा कनिष्क की मूर्तियाँ मथुरा से उपलब्ध हुईं, जिससे पता चलता है कि शक-नरेश ईरानी वस्त्र पहनने लगे थे। लम्बा कोट, चुस्त पायजामा, चादर, कमर में करधनी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रस्तर की आकृतियों के सदृश ही कुषाण-सिक्कों पर राजाओं के वस्त्राभूषण मिलते हैं।

देव-प्रतिमा तथा मनुष्य की आकृति में अधिक विभेद न था। सामाजिक अलंकरण सर्वत्र एक-सा ही दिखलाया गया है। प्रस्तर, धातु या मिट्टी की मूर्तियों में एक समान अलंकरण है। देव प्रतिमा में प्रभावली वर्तमान है जिस पर मालाधारी विद्याधर या गन्धर्व की आकृतियाँ खुदी हैं। धार्मिक-विश्वास के कारण हाथों में आयुध, वाद्य या यंत्र दिखलाई पड़ता है। सिर पर मुकुट या पगड़ी भी कहीं-कहीं वर्तमान है।

आभूषणों में पत्र-कुण्डल, मकर-कुण्डल, शंख आदि कानों में लटके दीख पड़ते हैं। पुरुष तथा स्त्री के परिस्थिति के अनुकूल ही आभूषण प्रतिमा पर अलंकरण के रूप में

दिखलाये जाते थे। कुण्डल के अतिरिक्त गले के आभूषण (हार), हाथों में मुक्ता-मणि, कंकण, वलय आदि, पैरों से पायल या मोठा कड़ा, अंगुलियों में अंगूठियाँ, करधनी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

केशविन्यास भी कई प्रकार के प्रकार के प्रचलित थे। देव-प्रतिमा में काकपक्ष, तथा कपर्दिन मुख्य थे। स्त्रियाँ नाना भाँति का जूड़ा बाँधती रहीं। ग्रन्थि बाँधने, एक वेणी या दो वेणी में पूरे केश को सँवारने का प्रचलन था। केश में रत्न जटित आभूषण भी दिखलाई पड़ते हैं। जिसे टीका का नाम दिया जा सकता है।

इन अलंकरणों के अतिरिक्त देव-प्रतिमा में आयुध को प्रमुख स्थान दिया गया है। शंख, चक्र, गदा और पद्म विष्णु-प्रतिमा में, शिवमूर्ति में डमरू, नाग एवं त्रिशूल, ब्रह्मा के लिए कमण्डलु, अक्षमाला तथा सरस्वती के लिए पुस्तक, वीणा आदि प्रतीक माने गए हैं।

कलाकारों ने समाज में प्रचलित पौराणिक कथानकों का स्वागत किया और उन कथानकों के आधार पर विभिन्न प्रकार की कलाकृतियाँ तैयार की। विष्णु के दश अवतार तथा कृष्णसम्बन्धी विभिन्न कथानक, देवी शक्तियों द्वारा राक्षसों का विनाश आदि के प्रदर्शन ने कला में स्थान ग्रहण कर लिया। वराह, वामन, नरसिंह, अर्द्धनारीश्वर, महिषमर्दिनी दुर्गा तथा सप्तमातृका की मूर्तियाँ उदाहरण के स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। नटराज की धातु-प्रतिमा भी उसी श्रेणी में रखना उचित होगा।

कला के माध्यम से समाज की आवश्यकताओं, उमङ्गों तथा आदर्शों का परिज्ञान हो जाता है। समाज में सूत्रधार, ललित कलाकार, नक्काशी करने वाला कलाविद् अपने कार्य से समाज को ऊँचा उठाने का सतत प्रयत्न करते हैं। समाज में धनी-मानी व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त दान-राशि के सूत्रधार मन्दिर बनाता था। उसी मन्दिर के संरक्षण निमित्त कई प्रकार के दान दिये जाते थे और मन्दिर के सुप्रबन्ध के लिए समाज के विशिष्ट व्यक्तियों की समिति बनाई जाती थी। मूर्तियों की पूजा, कथा, कीर्तन अथवा संस्कार का पूरा भार समाज पर था। शासकों द्वारा मन्दिर में पूजा निमित्त आगन्तुक अतिथियों को सदावर्त बाँटा जाता था। नये-नये त्यौहार तथा पुण्य-तिथियों पर मूर्तियों को नानाभाँति शृंगार कर वस्त्राभूषण से सजाया जाता और नृत्य तथा कीर्तन मन्दिर का निश्चित कार्यक्रम बन गया था। प्राचीन भारत में सामाजिक नीति अथवा नवीन विचारों के कारण मन्दिर शैली में परिवर्तन होते रहे। सारांश यह है कि समाज के प्रभाव से ही कला की योजना तथा शैली में परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन होने लगा।

प्राचीन बौद्ध कलाकृतियों के अध्ययन से समाज के आदर्श, कोमल भावना, सरल मनोवृत्ति तथा स्वार्थपरता से विमुख विषयों का परिज्ञान स्वतः हो जाता है। भरहुत, बोधगया, अमरावती वेदिका तथा सांची तोरण पर जितने जातकों का प्रदर्शन है उनमें आदर्शवाद तथा सदाचार की पराकाष्ठा दिखलाई पड़ती है। भगवान बुद्ध का जन्म जीवविद्या सम्बन्धी ज्ञान (Biological Conception) से परे है। यह तो सर्वविदित है कि महापुरुषों का जन्म जननी के गर्भ से नहीं

होता, किन्तु उनका अविर्भाव जगत में हो जाता है। तुलसीदास ने भी 'भए प्रकट कृपाला दीन दयाला' लिख कर उसी उच्च विचार को व्यक्त किया है। गौतम का जन्म मायादेवी के गर्भ से न दिखाकर, उसके अंग से स्पर्श करते हुए शिशु की उत्पत्ति बौद्ध कलाकारों ने दिखलाई है। अमरावती में बोधिसत्व का स्वर्ग में निवास तथा सफेद हाथी के रूप में उनका संसार में आगमन स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। वही हाथी बोधगया तथा भरहुत में माया देवी के सपने में दिखलाई पड़ता है। साँची तोरण में तो कपिलवस्तु के महल में सोई माया देवी दीख पड़ती हैं। उन खुदे प्रस्तरों पर प्रेममय जगत् का विशद् विश्लेषण किया गया है। अन्य कथानकों में ऐसे पवित्र, त्याग और कोमल भावना तथा सत्य विचार एवं ऊँचे सदाचार के दृष्टान्त भरे पड़े हैं जिन्हें सदियों तक लोग अनुकरण करते रहेंगे। जातक प्रदर्शन का अध्ययन तत्कालीन समाज में व्यक्तियों के उच्च विचार, गौरवमय जीवन, आदर्श चरित्र तथा कोमल मनोभाव को व्यक्त करता है। साँची तोरण पर वेसन्तर जातक-प्रदर्शन राजा के त्याग, जनकल्याण तथा स्वार्थ से विरत भाव को उपस्थित करता है। वेसन्तर ने प्रजा के आग्रह पर राज्य छोड़कर जंगल में शरण ली तथा स्त्री और पुत्रों का भी दान कर दिया। राजा हरिश्चन्द्र की वार्ता के सदृश ही वेसन्तर की कथावस्तु समझना चाहिए। 'महाकपि' के कथानक में परोपकारमय जीवन की बातें विदित होती हैं। काशीराज ब्रह्मदत्त ने पत्नी के प्रेममय आग्रह से सेना की एक टुकड़ी भेजी और मीठे फल खाने वाले जीव के हृदय को लाने का आदेश दिया सेना की टुकड़ी बन्दरों की सेना को नष्ट न कर सकी और अन्त में महाकपि ने अस्सी हजार बन्दरों को मृत्यु से बचा लिया। षडदन्त जातक में भी ब्रह्मदत्त की दूसरी कथा है, जिसमें पत्नी के आग्रह से हाथी के छः दाँत निकालने की आज्ञा का वर्णन है। राजा शिवि की कथा का चित्रण बौद्ध कलाविदों ने भी किया था। बाज से कबूतर के जीवन-रक्षा के लिए शिवि ने अपना मांस काट कर तराजू पर रख दिया था। इस प्रकार से शरणागत की रक्षा का भाव प्रस्तर के चित्रों द्वारा जनसाधारण में फैलाया गया। समाज में आदर्श की ऐसी परम्परा अन्यत्र नहीं मिलती। सत्य की रक्षा, आत्मत्याग एवं सदाचार के ऊँचे विचारों के उपस्थित करने का प्रयत्न कलाकारों ने अच्छे तथा सुन्दर ढंग से किया है।

अजन्ता के चित्रों के अवलोकन से भारतीय जीवन की झाँकी मिलती है। जिनसे लोगों का रहन-सहन, प्रेमालाप, आखेट तथा जुलूस आदि विषयों पर प्रकाश पड़ता है। सामाजिक अवस्था तथा जनसाधारण के जीवन की रूपरेखा प्रस्तर के खुदे चित्रों तैयार की जाती है।

पशु-पक्षी का सम्बन्ध तथा विभिन्न परिस्थितियों में उनकी अवस्था से प्रकृति के विज्ञान का आभास मिलता है। लोगों के आमोद-प्रमोद, मानवीय प्रवृत्तियों का अनुमान साधारणतया विदित हो जाता है। महान् पुरुष के दैवी आचरण तथा उनके समीप स्त्री-पुरुष के पवित्र मनोभाव जनसाधारण में बल तथा उत्साह पैदा करते हैं। संसार में मनुष्य के जीवन नाटक, प्रेम, विलाप, सुख, दुःख, जन्म, मरण की बातें

कलाकार इस रूप में उपस्थित करते हैं जिनसे मनुष्य को जीवन में उपदेश तथा उप-लब्धियाँ मिल सकें। कलाकार के दार्शनिक पक्ष को भी समझना एक कठिन कार्य हो जाता है। परन्तु उन्होंने ऐसा कोई भी क्षेत्र अछूता न रक्खा, जिसके द्वारा समाज का का कल्याण हो। कला तथा समाज का यही पारस्परिक संसर्ग था। कला के द्वारा प्राणिमात्र को कल्याण, हित, सुख तथा सदाचार का उपदेश देने का सतत् प्रयत्न प्राचीन भारत में किया गया; जो भारतीय कला की अपनी विशेषता है।

कला एवं राजनीति

प्राचीन समय में सामाजिक शिक्षा में कला को स्थान दिया गया था और राज-कुमार के शिक्षा क्रम में इसे स्थान मिल चुका था। शासक देश के उत्थान तथा समाज के हित का ध्यान रखते थे। उनके अनेक कार्यों में कला का संरक्षण भी था। राजा स्वयं स्वार्थ-दृष्टि से मन्दिरों का निर्माण कराता और मोक्ष प्राप्ति के लिए लालायित रहता था। इसी तरह प्रतिमा-निर्माण के कार्यों में राजनैतिक कारणों से पीठ चबूतरे (Pedestal) पर शासक का नाम तथा तिथि का उल्लेख कलाकार करने लगे। उस मूर्ति की स्थापना राजाज्ञा से की जाती, अत: शासक का नाम उत्कीर्ण मिलता है। कुषाण युग को प्रस्तर-मूर्तियों तथा मगध की धातु-प्रतिमाओं की चौकियों पर लेख अंकित मिलते हैं। उन उत्कीर्ण अभिलेखों से राजा की तिथि तथा अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का पता लगता है। सारनाथ की बौद्ध प्रतिमा की छत्रयष्टि पर कनिष्क के तीसरे वर्ष का लेख अंकित है, जिसे भिक्षु बल ने स्थापित किया था।

"भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो छत्रयष्टि च स्थापितो।"

कनिष्क के शासन काल में निर्मित बौद्ध या जैन प्रतिमाओं की चौकियों पर खुदे लेख मिलते हैं जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। (मथुरा–बुद्ध–प्रतिमा-लेख तिथि शक ३२) इसी शैली को लेकर सिक्कों पर देवी-देवता की आकृति तथा लेख उत्कीर्ण किये गए थे। उदाहरण के लिए कुषाण सिक्कों पर शिव प्रतिमाएँ अंकित हैं। जिन पर ओइशो नाम से भगवान् शिव का उल्लेख है। गुप्त युग की बुद्ध मूर्तियाँ सारनाथ से मिली हैं जिन पर तिथि गु० स० १५४ तथा १५७ सहित लेख खुदे हैं। 'गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपञ्चाशदुत्तरे, शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति।' इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त सम्वत् १५७ (=ई० स० ४७७) में बुधगुप्त नामक राजा शासन कर रहा था इस प्रतिमा का निर्माण सर्वथा राजनीतिक दृष्टि से हुआ था। मध्यप्रदेश के एरण नामक स्थान (जिला सागर) से बाहर की एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसके ऊपरी भाग पर हूण नरेश तोरमाण का लेख उत्कीर्ण है। (फ्लीट-गुप्त लेख पृ० १५८) उससे तत्कालीन राजनैतिक दशा का परिज्ञान हो जाता है। तोरमाण ने सम्भवत: अपनी सत्ता को व्यक्त करने के लिए वराह प्रतिमा का निर्माण कराया था। उसके प्रथम वर्ष में वह प्रतिमा निर्मित की गई जिसकी दूसरी पंक्ति में खुदे वाक्य— 'महाराजाधिराज श्री तोरमाण प्रशासति'–राजनैतिक स्थिति की घोषणा करता है। प्रतिमा की चौकियों के अतिरिक्त ताम्रपत्रों पर भी धार्मिक भावना को व्यक्त करने के निमित्त अनेक देव-आकृतियाँ मिलती हैं। भितरी राजमुद्रा के ऊपरी भाग में गरुड़ की

आकृति दिखलाई पड़ती है खालिमपुर ताम्रपत्र के सिरे पर धर्मचक्र खुदा है। सेन ताम्रपत्रों पर सदाशिव की आकृति है। कलकत्ता आशुतोष संग्रहालय में डोम्मनपाल का एक ताम्रपत्र सुरक्षित है जिस पर नारायण विष्णु गरुण रथ पर सवार दिखलाए गए हैं। इस तरह के उदाहरण अनगिनत हैं। सब के मूल में राजनीतिक विचार कार्य कर रहे थे। अत एव कला से राजनीति का सम्बन्ध स्थिर हो जाता है।

कला की सामग्री

भारतीय कला के दो प्रधान भेद माने गये हैं। (१) शब्द (काव्य) और (२) रूप (कला)। प्रथम विभेद में कवि या लेखक रोचक एवं मधुर शब्द-रचना से अपने काव्य को सुशोभित करता है। दूसरे विभेद में भी रूप को सँवारने के लिए कलाविद् अलंकरण के साधन को ढूढ़ता है। इसीलिए कलाकृतियों में रेखा कृति, पत्र-बल्लरी, पशु-पक्षी की आकृतियाँ तैयार की जाने लगीं। यदि समस्त कलात्मक नमूनों का परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होता है कि मिट्टी, काष्ठ, प्रस्तर तथा धातु का प्रयोग कलाकारों ने समयानुसार किया था। इन वस्तुओं के प्रयोग की कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती, परन्तु यह कहना युक्तिसंगत होगा कि मिट्टी का प्रयोग लोक-कलाकार सदा करते रहे हैं। लोककला सुसंस्कृत कला की पृष्ठभूमि थी। मातृदेवी, यक्ष तथा नाग की आकृतियाँ लोककला के प्रारम्भिक अवस्था में ही तैयार किये गए। संस्कृत कला में काष्ठ, धातु तथा प्रस्तर का अधिक प्रयोग मिलता है।

यों तो मिट्टी का प्रयोग वर्तमान समय में भी कुम्हार करते हैं परन्तु प्राग्ऐतिहासिक-युग में मिट्टी का प्रयोग पृथिवी अथवा मातृदेवी की मूर्ति के लिए किया जाता था। उस युग में मिस्र से लेकर भारत तक मातृदेवी की पूजा का विवरण मिलता है तथा प्राचीन स्थानों के उत्खनन से जितनी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं उनमें मातृदेवी की मिट्टी-प्रतिमा की प्रधानता है। तत्कालीन आकृति हाथ से तैयार की जाती थी। साँचे में ढालने की क्रिया अज्ञात थी। नारी की सुन्दरता आभूषणों से परिलक्षित होती है। मिट्टी की सहायता लेकर शरीर के विभिन्न अंगों को भद्दे तौर से पृथक्-पृथक् तैयार कर जोड़ दिया जाता था और कोई भी अंग आभूषण से खाली नहीं दिखलाई पड़ता। सिर के ऊपरी भाग पर पंखा के सदृश चिपटा आभूषण वैदिककालीन स्त्रियों के आभूषणों की याद दिलाता है। कुण्डल, खाड़ो, मेखला, इतने मोटे तथा स्थूल रूप से तैयार किए जाते थे कि देवी की नग्नावस्था की दशा प्रकट न हो पाती। मिट्टी की छोटी गोलियों से आँखें तथा पड़ी रेखा की तरह कटा मुख आदि की बनावट लोक-कला के ऐसे नमूने थे जो अलौकिक समझे गए तथा मातृ-देवी की मिट्टी-प्रतिमा उसी रूप में तैयार होने लगी। मोहेन-जोदड़ो, गन्धार तथा मथुरा के भूभाग से ऐसी मातृदेवी की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। ऋग्वेद में यह महामाता के नाम से उल्लिखित है। देवमाता को कलान्तर में विष्णुभार्या, सर्वभूतात्मा ईश्वरी, देवी, गज-लक्ष्मी आदि शब्दों से व्यक्त किया गया। कलाकारों ने ऐसी मूर्तियों के अतिरिक्त यंत्र भी तैयार किया था, जिसे 'श्री चक्र' कहते हैं। उस यन्त्र को मातृदेवी का प्रतीक मान कर जनता पूजा करने लगी।

प्राचीन युग की मिट्टी की पुरुष आकृतियाँ भी मिली हैं। उनके लम्बे नाक, दाढ़ी रहित चेहरा, गहरा ललाट, लम्बी अण्डाकार आँखें तथा भद्दी बनावट प्राचीन लोक-कला के नमूने माने जाते हैं। समाज में ऐसी पुरुष-आकृति की पूजा दुष्ट तथा कुत्सित भावना को हटाने के लिए होने लगी। यक्ष की गणना उसी श्रेणी में की जाती है और लोक-कलाकार प्रस्तर की यक्ष-प्रतिमा को आरक्षार्थ निर्मित करने लगे। विदिशा, ग्वालियर, मथुरा तथा पाटलिपुत्र से यक्ष की विशाल अनुपात-रहित प्रस्तर प्रतिमाएँ मिली हैं जिन्हें दुष्ट जन से सुरक्षा के लिए पूजित किया जाता था। लोगों को विश्वास था कि पूजा करने से यक्ष (वह स्थानीय देवता) दुष्ट तथा आततायी से सभी की रक्षा कर सकते हैं। लोक-कलाकारों ने अनुपात पर ध्यान न देकर अंगों को मनमाने ढंग से तैयार किया जिससे यक्ष प्रतिमाओं में भद्दापन तथा स्थूलता दृष्टिगोचर होती है। लम्बा तथा उभड़ा हुआ पेट, सपाट कन्धे, समतल पीठ एवं अव्यवस्थित जंघा यक्ष-प्रतिमा को अत्यन्त भद्दा तथा अशोभन कर देते हैं। मौर्य काल से पूर्व ऐसी प्रस्तर की प्रतिमाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त काष्ठ का भी प्रयोग कलाकार करते थे। काष्ठ को हटाकर प्रस्तर लाया गया। अशोक ऐसा कुशल सम्राट् था जिसने सर्वत्र प्रस्तर का प्रयोग आरम्भ किया।

यहाँ यह कथन अप्रासंगिक न होगा कि मौर्य युग से पूर्व मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त भवन-निर्माण में काष्ठ का प्रयोग सर्वत्र होता रहा। यही कारण है कि भाजा तथा कार्ले की चैत्यों में ऊपरी मेहराब में काष्ठ दिखलाई पड़ता है जो ऐतिहासिक युग की परम्परा का प्रारम्भिक द्योतक है। साँची के स्तूप के दोनों तरफ वेष्टनी ग्रामीण पशु-बेड़ा के अनुकरण पर तैयार की गई थी। स्तम्भ में छेद कर काठ या बाँस डाल कर बेड़ा तैयार किया जाता ताकि उस घेरे से पशु बाहर न चले जाँय। वही मूल रूप में वेष्टनी के स्तम्भ तथा सूची में दृष्टिगोचर होता है। साँची की काष्ठ वेष्टनी को हटाकर अशोक ने उस बनावट को प्रस्तर द्वारा स्थायी कर दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन कला में काष्ठ का सीमित प्रयोग था। जिसे कालान्तर में स्थानान्तरित कर दिया गया। पुरी की जगन्नाथ प्रतिमा आज भी काष्ठ की ही बनती है।

ऐतिहासिक युग से प्रस्तर का प्रयोग भारतीय कला में मिलता है जो स्थायी सामग्री के रूप में सर्वत्र प्रयुक्त होने लगा। प्रस्तर स्थानीय पहाड़ियों से प्राप्त किया जाता था। अत एव गन्धार का भूरा प्रस्तर, मथुरा में सफेद छींटे सहित लाल प्रस्तर, सारनाथ में बालूदार सफेद प्रस्तर तथा मगध में कसौटी (काले) प्रस्तर का प्रयोग यथास्थान मिलता है।

उन विभिन्न प्रकार के रंगीन प्रस्तरों का प्रयोग वास्तुकला तथा तक्षणकला में एक समान मिलता है। गन्धार में भूरे प्रस्तर के अतिरिक्त बालू, चूना मिश्रित ठोस वस्तु (Stucco) का भी प्रयोग होने लगा था। यदा-कदा उस स्थान की निर्मित प्रतिमा अन्यत्र भी पाई जाती हैं। कनिष्क-कालीन गन्धार में निर्मित प्रस्तर तथा सिरमिट मूर्तियाँ मध्य एसिया (तरीम घाटी) से उपलब्ध हुई हैं। इसी प्रकार मथुरा में निर्मित बोधिसत्त्व की प्रतिमा को ई० सन् ८१ में भिक्षु बल ने वाराणसी में स्थापित

किया था। तात्पर्य यह है कि गन्धार से लेकर पटना के भूभाग में जो प्रस्तर सरलता से उपलब्ध रहा, कलाकारों ने उसे उपयोग किया। मथुरा के लाल प्रस्तर को मुगल सम्राटों ने भी आगरा तथा दिल्ली के किले बनाने में प्रयुक्त किया था। फतेहपुर सिकरी में मकबरा इसी प्रस्तर का है। वर्तमान समय में दिल्ली का केन्द्रीय सचिवालय लाल प्रस्तर का बना है।

धातु का प्रयोग

भारत में जितने प्रकार के मूर्ति-निर्माण के पदार्थ (मूर्तिस्थान) मिलते हैं, उनमें धातु को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। गोपालभट्ट ने 'हरिभक्ति विलास' नामक ग्रन्थ में धातु गलाकर ढालने वाली प्रतिमा को 'पाकजा' नामक पदार्थ कहा है। अस्तु, मूर्तियों के अवलोकन से यह कहा जा सकता है कि ईसवी पूर्व सदियों से ही धातु गलाने की विधि भारतवर्ष में ज्ञात थी। तत्कालीन सिक्कों के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि ताँबा या सोने को गलाकर सिक्के तैयार किये गये थे। प्रतिमाओं के लिए धातु को साँचे में ढाल कर निश्चित आकार की मूर्ति तैयार की जाती। उसमें अधिक मात्रा में कांस्य का प्रयोग मिलता है। गुप्तयुग के कलाकार ढालने के कार्य में दक्ष थे। उनकी कुशलता का ज्ञान सुल्तानगज की बुद्ध प्रतिमा से हो जाता है। अत्यन्त सुन्दर ढंग से पाषाण के सदृश बुद्ध प्रतिमा साँचे से निकाली गई। वह आजकल बरमिंघम संग्रहालय में सुरक्षित है। गुप्तकाल के पश्चात् धातु मूर्तियों को बहुलता दीख पड़ती है। नालंदा, कुर्कीहर तथा झवेरी (चटगाँव पूर्वी पाकिस्तान) आदि स्थान धातु-प्रतिमा (काँस्य) के प्रसिद्ध केन्द्र थे। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू-मूर्तियाँ अनगिनत संख्या में तैयार की गईं। दक्षिण भारत में मद्रास एवं आंध्रप्रदेश भी धातु मूर्ति के लिए विख्यात है। मद्रास संग्रहालय में नटराज शिव की धातु प्रतिमाएँ दर्शनीय हं। इस विषय का विशद् विवेचन अग्रिम पृष्ठो मे किया जायगा।

अध्याय : २

मौर्यकालीन कलात्मक प्रवृत्तियाँ

सिन्धु घाटी के प्रागैतिहासिक स्थानों की खुदाई से पहले भारतीय कला का अध्ययन मौर्य युग से आरम्भ होता था। किन्तु मोहेन-जो-दड़ो तथा हरप्पा से प्राप्त कलात्मक नमूनों ने ईसा पूर्व ढाई हजार वर्ष पूर्व में प्रचलित भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डाला है। उनके अध्ययन से हरप्पा सभ्यता में कलाकारों की कुशलता का परिज्ञान हो जाता है तथा पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतीय कला के इतिहास की जानकारी सुलभ हो जाती है। यद्यपि प्रागैतिहासिक कला का विस्तृत विवेचन अप्रासंगिक होगा तो भी तत्कालीन कृतियों से परिचय प्राप्त करना समुचित प्रतीत होता है। उसके नमूनों को चार भागों में विभक्त करते हैं। सर्वप्रथम सज्जी से तैयार अतीव सुन्दर मुहरें मिली हैं जिन पर जानवरों की आकृतियाँ कुशलतापूर्वक खोदी गई हैं। वृषभ, हस्ति, भैंस तथा सिंह आदि की आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनके साथ मुहरों पर कलात्मक ढंग से अक्षर भी खुदे हैं जिस लिपि को अभी तक पढ़ा न जा सका। दूसरे वर्ग में मिट्टी की आकृतियों की गणना की जाती है। उसमें मनुष्य तथा पशुओं की आकृति दीख पड़ती है। मनुष्य में पुरुष तथा स्त्री को स्थान दिया गया है, परन्तु पुरुषों से स्त्री मूर्ति अधिक संख्या में उपलब्ध हुई हैं। उन देवी मूर्तियों में 'मातृदेवी' को प्रमुख स्थान देते हैं। सभी प्रकार की आकृतियाँ हाथों से तैयार हुई हैं अतः उनमें भद्दापन, स्थूलता तथा मोटापन स्वाभाविक है। देवी प्रतिमाएँ कुछ आकर्षक अवश्य हैं।

सिन्ध घाटी से प्राप्त मिट्टी के बरतन अद्वितीय हैं। उनकी बनावट में कुछ विशेषता नहीं दीख पड़ती किन्तु उनके पकाने की अपनी विधि थी। इसीलिए 'काले एवं लाल' पात्र नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊपरी भाग में कई प्रकार के चित्र भी हैं। लाल सतह पर काले रंग से शतरंज के वर्ग, कंघा, सूर्य का चिह्न या ज्यामिति के आकार आदि चित्रित किये गए हैं। चौथी श्रेणी में हरप्पा से प्राप्त प्रस्तर मूर्तियों के धड़ (Torso) की गणना होती है। सम्भवतः वहाँ के कलाकार प्रस्तर शिल्पकला में निपुण थे तथा प्रतिमा-निर्माण से विज्ञ थे। मोहेन-जो-दड़ो से भी वृद्ध पुरुष (साधु) की चूने-प्रस्तर की मूर्ति उपलब्ध हुई हैं। जो सिन्धघाटी की कला की गम्भीरता को पुष्ट करतीं हैं। इन कलाकृतियों से प्रागैतिहासिक युग के शिल्पकला का संक्षिप्त परिचय मिलता है। वैदिककालीन कला के नमूने अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं जिससे कुछ अनुमान करना कठिन है।

प्रागैतिहासिक युग या वैदिककालीन कलाकृतियों के सम्बन्ध में जितनी संक्षिप्त जानकारी हमें प्राप्त है, उस आधार पर किसी शैली का बोध नहीं होता। मौर्य पूर्व

सदियों में निर्मित कला के जो उदाहरण उपलब्ध हैं उनमें यक्ष मूर्तियों का नाम लिया जाता है। यक्ष को अर्द्धदेवता के रूप में समाज पूजित करता था जो प्राणियों की रक्षा तथा कल्याण का प्रहरी था। अथर्ववेद (१०, ७, ३८) में उसे 'महायक्ष' कहा गया है। वैदिक तथा संस्कृति साहित्य में यक्ष के गुण, गरिमा का वर्णन आता है। विशाल वृक्ष से उसकी उपमा दी गई है जिसकी शाखाओं पर देवता स्थित हैं। इसे महान् देवता का स्वरूप देते हैं। ग्रामीण लोग यक्ष को सदा पूजा करते रहे और प्रतिवर्ष 'यक्षमहा' नामक उत्सव मानते थे। महाभारत में उसे 'ब्रह्ममहा' कहा गया है। उस उत्सव में चारों वर्णों के लोग सम्मिलत होते थे। यक्ष की मान्यता बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्मों में समान है यक्ष चैत्य का भी उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में आया है। ईसा पूर्व सदियों में यक्ष की प्रतिमा लोकप्रिय थी, इसीलिए पाटलीपुत्र से लेकर मथुरा, विदिसा, शिशुपालगढ़ तथा पश्चिमी भारत तक यक्ष-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

इन बिखरी यक्ष-प्रतिमाओं में बनावट की समानता है। जिससे ग्रामीण कला के विस्तार का ज्ञान हो जाता है। यक्ष स्थूल, महाकाय आकार के हैं। यद्यपि मूर्ति गोल आकार की है पर खड़ी प्रतिमा का सम्मुख भाग प्रधानता रखता है। सिर पर पगड़ी, गले में चादर, कमर बन्धी तथा धोती दिखलाई पड़ते हैं। गले में कंठा, कुण्डल, भुजबंध तथा हार द्वारा यक्ष प्रतिमा अलंकृत है किन्तु यक्ष का बड़े आकार का पेट होने से अनुपात में विषमता आ जाती है। भारतीय कला के इतिहास में प्राचीनतम खुदाई का नमूना यक्ष की मूर्ति में उपस्थित है। यह कहना उचित होगा कि यक्षमूर्ति के निर्माण की अपनी विशेष रीति थी। इससे पूर्व का कोई भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है। जिसे आदर्श या मूल आकृति मान कर यक्ष प्रतिमा बनाई गई हो। अत एव यक्षमूर्ति एक शैली का निर्देशन करती है जिसका कालान्तर में अनुकरण किया गया। भरहुत तथा साँची तोरण पर यक्ष आकृतियाँ उस कला के विस्तार का द्योतक हैं जिसे 'मालवा-शैली' का नाम देना उचित होगा।

मौर्य युग की कला ग्रामीण कला से अत्यन्त उन्नत तथा परिशोधित थी। उस सुसंस्कृत कला के दृढ़ तथा पुष्ट उदाहरण मिलते हैं जिस आधार पर मौर्यकालीन कला का विस्तृत ज्ञान हो जाता है। मौर्य सम्राट् अशोक का ध्यान वास्तुकला पर केन्द्रित था, इसी लिए उसने अपने शासन में विशाल तथा भव्य आकृतियाँ तैयार कराईं। उसका साम्राज्य कन्धार से धौली तथा हिमालय से मैसूर तक विस्तृत था। साम्राज्य की विशालता तथा कला-कृतियों का आकार-प्रकार में अधिक सामञ्जस्य है। एक दूसरे में सादृश्य है। अशोक द्वारा निर्मित चार वास्तु प्रकार—स्तम्भ, भवन, गुहा तथा स्तूप में केवल स्तम्भों का शिरोभाग खुदा है। उसी का अध्ययन मौर्य कला की विशेषताओं का परिज्ञान कराता है। स्तम्भ के सिरे भाग (Capital) के तीन उपविभाग किए गये हैं।

(१) अधोमुख कमल (२) चौकी, (३) शीर्षस्थ पशु आकृति।

अधोमुख कमल का वास्तविक स्वरूप पूर्णघट-सा है जो वैदिक युग से ही भारत में प्रचलित था। यही विचार मौर्य युग के पश्चात् भी समाज में व्याप्त रहा। उसकी पंखुड़ियाँ सरलता से गिनी जा सकती हैं। कमल मनुष्य के पूर्ण ज्ञान का प्रतीक है और विश्व के विशुद्ध तथा सुन्दर वस्तुओं का द्योतक माना जा सकता है। चौकी पर चार चक्र चार दिशाओं में व्याप्त बौद्धमत के प्रतीकमात्र हैं। चक्रवर्ती राजा बुद्ध का चक्र चतुर्दिक् मार्ग से पृथ्वी की सीमा तक पहुँच जाता है। अशोक महान् सम्राट् एवं चक्रवर्ती महाराजा था। उस घटना को व्यक्त करने में कलाकारों ने चार सिंह वाले शीर्ष तथा चौकी पर स्थित चार जानवरों के माध्यम से सफलता प्राप्त की है। सबसे ऊपर बड़े चक्र की धर्मचक्र भवचक्र या सुदर्शनचक्र से समता कर सकते हैं। वह भगवान विष्णु का आयुध अथवा काल का चक्रस्वरूप भारतीय कला में विद्यमान है।

अधोमुख कमल के ऊपर चौकी को दो रीति से—चौकोर या गोलाकार-तैयार किया गया था। वैशाली के पास कोल्हुआ के स्तम्भ की चौकी समकोण चतुर्भुज के आकार की है। चम्पारन के रमपुरवा, लौरिया नन्दन तथा सारनाथ स्तम्भ की चौकियाँ गोलाकार हैं। रमपुरवा चौकी पर बहुत सचाई के साथ पत्तियों का खाका खुदा है। इसका उद्देश्य अलंकरण मात्र था परन्तु लौरिया स्तम्भ की चौकी पर हंस की पंक्ति उत्कीर्ण है। सम्भव है इसका लक्ष्य बुद्ध के शिष्य वर्ग को प्रकारान्तर से दिखलाना था। वास्तविक प्रयोजन की सचाई बतलाई नहीं जा सकती तथापि चौकियों पर खुदाई की सार्थकता अवश्य थी। इसमें तनिक सन्देह नहीं है कि सारनाथ स्तम्भ की चौकी अत्यन्त कलात्मक रूप से तैयार की गई थी, उस पर चार चक्र तथा चार जानवर (हस्ति, अश्व, वृषभ तथा सिंह) क्रम से (एक के बाद दूसरे) खुदे हुए हैं। अश्व की की गतिशीलता, सांढ का पौरुष, मृग की चंचलता तथा हस्ति का मांसल शरीर स्वभाविक तथा ओजपूर्ण है। चक्र से धर्मचक्र का बोध होता है। सरनाथ में ही भगवान बुद्ध ने धर्मचक्र-परिवर्तन आरम्भ किया था। जानवरों के वास्तविक उद्देश्य के विषय में मतभेद हैं। चारों जानवर—हस्ति, वृषभ, अश्व तथा सिंह—भारतीय परम्परा में प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान काल तक स्वीकृत हो चुके हैं। बौद्ध साहित्य तथा संस्कृत साहित्य में चारों पशु चार दिक्पाल कहे गये हैं। दूसरे स्वरूप से हस्ति गौतम के जन्म का द्योतक है। अश्व से महाभिनिष्क्रमण की घटना जोड़ी जा सकती है। वृषभ सत्य अहिंसा का प्रतीक है। सिंह को शाक्यवंशी बुद्ध (शाक्यसिंह) के अभिप्राय में स्तम्भ पर स्थान दिया गया है। अलंकृत चौकी पर जिन जानवरों की आकृतियाँ खुदी हैं वह आधी हैं पर भ्रमवश पूर्ण प्रकट होती हैं। लौरिया नन्दन का सिंह तथा रमपुरवा का वृषभ सजीव प्रतीत होते हैं। उनके अवलोकन से ज्ञात हो जाता है कि कलाकारों ने मांसपेशियों में शक्ति आरोपित कर पशुओं में चैतन्यता पैदा कर दी है। यह विचार भी मान्य हो सकता है कि अशोक ने मोहेन-जोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित जानवरों को अपनाया (मोहेन-जोदड़ो में अश्व नहीं है)। सांढ की मांसपेशियाँ निपुणता से गढ़ी गई हैं। उसका ककुद स्वाभाविक रूप का है। उसकी

सजीवता तथा प्रभावोत्पादकता आकार को देख कर सिन्धु घाटी के सांड स्मरण हो आते हैं। उसी परम्परा को ध्यान में रख कर अशोक ने रमपुरवा के वृषभ की आकृति तैयार करायी थी। चौकी पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ सजीव तथा स्वाभाविक हैं। सिंह के आयल नियमित रूप से तरंगवत् रेखाओं में उभरे हैं। नसों में रक्त-संचार ही उनकी जीवित अवस्था का आभास दिलाता है। सारनाथ का शीर्षस्थ पशु चौकियों के जानवरों से अधिक सुन्दर है। यही मौर्य शिल्पकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसे निर्माण द्वारा अशोक ने साम्राज्य के वैभव, शक्ति तथा राजसत्ता का प्रदर्शन किया था। जानवरों की स्वभाविक बनावट तथा चमक तत्कालीन कला की याद दिलाते हैं। कालान्तर में उसे दिखलाने में शिल्पकार असमर्थ रहे।

चारों सिंह की पीठ पर स्थित चक्र (धर्म चक्र) भगवान बुद्ध का एक प्रतीक था जिसे धर्मकाय भी कह सकते हैं। सिंहासन पर प्रायः चक्रवर्ती सम्राट बैठा करता है और उसी विचार से प्रेरित होकर बुद्ध प्रतिमा भी तैयार की गई थी। यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सारनाथ स्तम्भ द्वारा भारतीय आध्यात्मविद्या तथा विश्वविद्या के विचार (Metaphysics and Cosmology) का समारम्भ पाते हैं। इसमें विश्व की अलौकिकता का प्रतिबिम्ब पाते हैं। चक्रवर्ती राजा ही सार्वभौम सत्ता रखता था। इसकी शक्ति व्यापिनी थी। भगवान बुद्ध ने भी जिस धर्म चक्र का संचालन किया वह विश्वव्यापी हो गया और उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्नशील हुआ। स्तम्भ शीर्षस्थ चक्र उसी विश्व या सूर्य के मार्ग का द्योतक है। उसी अलौकिक वस्तु (धम्म) की प्राप्ति के सभी इच्छुक थे।

अशोक ने कला को स्थायी बनाने के लिए चुनार प्रस्तर का प्रयोग आरम्भ किया। यह तो मानना पड़ेगा कि अशोक ने कला को वह उत्तेजना एवं प्रेरणा दी कि मौर्य कला गौरवपूर्ण तथा स्थायी हो गयी। मौर्य कला एक पौढ़ स्थान प्राप्त कर चुकी थी और समाट् की महान् शक्ति तथा ऐश्वर्य का परिचायक बन गई। अशोक के स्वतन्त्र तथा वैयक्तिक विचार व्यक्त करने की क्षमता तत्कालीन कला में दिखलाई पड़ती है मौर्यकला में ईरानी प्रभाव को देखना सत्य से पृथक् होना है। पश्चिमी कला में आकृति की बनावट प्रधान थी किन्तु भारतीय कला में प्रस्तर से अन्तर्हित भाव गरिमा का उद्बोधन भी होता है। मौर्य कला अद्वितीय है और अपनी सानी नहीं रखता। उसका अनुसरण पीछे की कृतियों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

मौर्य युग के अन्य कलाकृतियों में लोहानीपुर (पटना) की दिगम्बर जैन प्रतिमा का नाम लिया जा सकता है। उस मूर्ति के पर वज्रलेप के कारण जो चमक है वह मौर्य स्तम्भ के समान है। इस कारण उसे मौर्य-कालीन कहने में तनिक भी संदेह नहीं है। दीदारगंज की यक्षी भी उसी श्रेणी में रखी जा सकती है। पैर का कड़ा, हाथ की चूड़ियाँ, वस्त्र तथा चमकता शरीर (वज्रलेप सहित) उसे मौर्यकालीन आकृति घोषित करते हैं। पटना संग्रहालय में दोनों मूर्तियाँ सुरक्षित हैं तथा दर्शकों को आकर्षित करती हैं।

शुङ्गकालीन कला की विवेचन

मौर्य काल के पश्चात् भारतीय कला में मौलिक परिवर्तन हुआ। यद्यपि अशोक ने स्वदेशी कला को सुसंस्कृत कर साम्राज्य के गौरव को बढ़ाया तथापि उसके विचारों को शुंग काल में समादर न मिल सका। अत एव शुंग कला मौर्यकला की निषेधार्थक रूप मानी गई है। अशोक ने 'न च समाजो कतव्यो' की घोषणा की थी। उसका ध्येय था कि धार्मिक सम्मेलन हो। सांसारिक विषयों को लेकर (मनोरंजन आदि) समाज की रचना न की जाय। यही कारण था कि समाज के विचार मौर्य कालीन कला में स्थान न पा सके थे। परन्तु शुंग काल में सामाजिक कला को पूर्णतः प्रभावित किया। मनोरंजन, संगीत आदि अयोजित किए गए। ऐसा अनुकरण सारे भारत में होने लगा जिसका प्रतिबिम्ब कला में दिखलाई पडता है।

शुंग कला का विकास उसके उदाहरणो से आंका जा सकता है उसकी पंक्तियों की लय या ताल (गति) में जीवन का प्रवाह परिलक्षित होता है। तत्कालीन प्रस्तर तथा मृण्मयी मूर्तियों में सौन्दर्य, वस्त्राभूषण एवं रत्नों की सजावट, केश विन्यास, चाल, मुद्रा की गम्भीरता तथा ऊँची कल्पना वर्तमान है उन नमूनों के अवलोकन से मध्यम वर्ग के समाज का अध्ययन हो जाता है। शुंग कला का मुख्य उद्देश्य मध्यदेशीय लोगों के सामूहिक विचार तथा सामाजिक भावना को व्यक्त करना था वह लोगों के मानसिक संकल्प से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। व्यक्तित्व के रहित यानी सामूहिक कल्पना का प्रतिनिधित्व शुङ्ग कला करती है तथा जनसमुदाय की परम्परा की अभिव्यक्ति भी उसके द्वारा हो जाती है। इन सब कारणों से यह कहना युक्तिसगत होगा कि दस्तकारी से ऊँचे श्रेणी की कला का स्थान तथा पद शुङ्गकालीन कला को मिल सका। तत्कालीन कलाकारों की निपुणता एवं दक्षता के यही उदाहरण हैं।

वनस्पति तथा जीव-विज्ञान का परिज्ञान शुङ्ग काल में अत्यधिक था। इसी लिए हर प्रकार के पशुपक्षी, पुष्प, लताबेल विभिन्न रंगों के साथ खोदे गए हैं।

शुङ्ग काल में हीनयान मत के प्रचार से एक विशेष प्रकार की वास्तुकला का आविर्भाव हुआ जिसे 'गुहा' कहते हैं। भिक्षुओं के निवास-निमित्त प्राकृतिक वातावरण का होना आवश्यक था जो नगर के कोलाहल से दूर हो। इसी कारण पश्चिमी भारत के ठोस पर्वतों में 'विहार' तैयार किए गये जो प्रायः नगरों से आठ-दस मील की दूरी पर स्थित थे। भारतीय विचारधारा में भगवान का निवास भी स्थिर एवं अपरिवर्तनशील समझा जाता है। अत एव पर्वतों को खोद कर पूजा-गृह (चैत्य) का निर्माण किया गया। किसी प्रकार से चैत्य, ईंट आदि वस्तुओं द्वारा बनाया भी जाता तो भी उसमे स्थिरता न थी। इसी विचार से प्रभावित होकर सहस्रों वर्ष तक पर्वतमालाओं में विहार एवं चैत्य खोदे गये पश्चिमी सह्याद्रि पर्वत में भाजा, अजन्ता (गुहा नं० ९), बेदसा तथा नासिक की गुहाएँ मिलती हैं। चैत्यों में कार्ले (पूना के समीप) का चैत्य सबसे सुन्दर तैयार किया गया जिसके एक छोर पर स्तूप का आकार है और उसके सामने घोड़े की नाल के सदृश पर्वत खोद कर स्तम्भ को पक्तियाँ निर्मित

है। स्तम्भ पंक्ति तथा मेहराब की बनावट से कार्ले का चैत्य अतीव सुन्दर दिखलाई पड़ता है। इसमें जो अलंकरण दीख पड़ता है उसके पीछे भिक्षुओं के धार्मिक विचार काम कर रहे थे।

स्तूप-पूजा का आरम्भ तो अशोक के शासन में हो गया था परन्तु स्तूप की वेदिका का निर्माण पीछे किया गया। वेदिका का उद्देश्य यह था कि पवित्र स्तूप को बाहरी अपवित्र संसार से पृथक रक्खा जाय। अंततः यह लक्ष्य पूरा भी हो सका। वेदिका धार्मिक प्रचार का एक विशिष्ट साधन भी था। प्रस्तर की वेदिका के भागों पर (स्तम्भ, सूचि तथा उष्णीस) ऐसे चित्रों का प्रदर्शन किया गया जिससे जनता आकर्षित हो सकें। इसी प्रकार से वेदिका, भरहुत, बोधगया तथा अमरावती में निर्मित हुई थी। साँची की वेदिका अलंकरण रहित है। उसका तोरण पूर्णरूपेण अलंकृत किया गया है।

चैत्य स्तम्भ

शुङ्ग कला में चैत्य के स्तम्भ, वेदिका तथा तोरण खुदाई के आधार थे जिन पर नाना प्रकार के खुदे चित्र मिलते हैं। शुङ्गकालीन कला की यह विशेषता थी कि खुदाई में प्रस्तर-सीमा का उल्लंघन न होने पर भी कलात्मक भावना असीमित ज्ञात होती है।

कलाकार उसके विकास को नियन्त्रित न कर सके। समस्त कलाकृतियों में वस्त्रों का भारीपन, अलंकरण की बहुलता तथा अंगों की स्थिरता स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है तो भी शरीर की सुन्दरता में कमी न आ सकी। दूसरी विशेषता यह है कि कला में सजीवता लाने के लिए कथानक का प्रदर्शन किया गया तथा कहानी के प्रसंग में मुख्य अभिनेता को प्रस्तर के सीमित क्षेत्र में अनेक बार प्रस्तुत किया गया ताकि उस कथानक का प्रवाह रुक न जाय। काल की अभिव्यक्ति के निमित्त कलाकार ने (दो घटनाओं के मध्य का समय) सीमित प्रस्तर पर मुख्य पात्र को दो या तीन बार दिखलाया है। इस प्रकार काल तथा स्थान का विभेद एक ही प्रदर्शन से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार की खुदाई में स्थान की दूरी का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि सभी कार्य समीप में ही सम्पन्न हुए। समीपता तथा विस्तार को प्रदर्शित करने का संकल्प शुङ्गकालीन कलाकारों ने किया था तथा सफलीभूत हुए।

कालक्रम के अनुसार भाजा (पूना के समीप) गुहा की दीवालों पर खुदाई सबसे प्राचीन समझी जाती है। चैत्य के स्तम्भ सादे हैं पर विहार से सम्बन्धित तक्षण कला के नमूने मिलते हैं। उस प्रसंग में दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। पहला सूर्य-रथ का दृश्य है जिसमें एक पहिया और चार घोड़े हैं। रथ के नीचे विशाल-काय राक्षसी (अज्ञान या अन्धकार का प्रतीक) दिखलाई पड़ती है। दूसरा हाथी पर सवार एक राजा का दृश्य है। हाथी वृक्ष को उखाड़कर सूंढ़ में लिए जा रहा है। समीप में छोटे कद के मनुष्य की आकृतियाँ हैं। यह सभी ऐसा ज्ञात होता है कि दोनों में कोई सामंजस्य नहीं है। समस्त खुदाई में अनुपात के लिए स्थान ही नहीं है। रथ, राक्षसी, हाथी, राजा, वृक्ष के सम्मुख अन्य वस्तुओं के अनुपात की अनभिज्ञता

कलाकार को स्थिति से दूर ले जाती है, जो कला की दृष्टि से दोषपूर्ण है। उस खुदाई में कलाकार के मानसिक चित्र की वास्तविकता स्पष्ट विदित होती है किन्तु परिस्थिति के अनुसार दृश्य तथा आकार या रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

कलाकार तथ्य पर केन्द्रित होकर खुदाई करते रहे किन्तु उन्हें आदर्शवाद का ध्यान नहीं था। मनुष्य जीवन से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रदर्शन को ही लक्ष्य मानकर कार्य किया। भाजा के बौद्ध विहार में ब्राह्मण-मूर्तियों की खुदाई आश्चर्यजनक है और इस प्रकार की खुदाई का निश्चित प्रयोजन कहना कठिन है चैत्य का आकार ग्रामीण झोपड़ी के आदर्श पर बना था।

प्रस्तर के चैत्य-स्तम्भ लकड़ी के खम्भों के स्थान पर तैयार किए गए जिनमें नये प्रकार का अलंकरण हैं। आरम्भ में नासिक चैत्य के स्तम्भ में घट के आकार का आधार तथा सिरे पर वर्गाकार चौकी तैयार की गई। इन्हें क्रमशः अलंकृत किया गया। कार्ले (पूना के समीप) के चैत्य में स्तम्भ का अलकरण उच्च श्रेणी का है। स्तम्भ की चौकियों पर हाथी अथवा घोड़े घुटना टेके बैठे हैं जिनकी पीठ पर सुसज्जित रूप में दम्पती की आकृतियाँ खुदी हुई हैं। इनकी बनावट में कलाकारों ने अपनी दक्षता का परिचय दिया है। ऐसी सुन्दर युगल आकृतियाँ कम देखने को मिलती हैं सम्भव है कि हाथी या घोड़े की पीठ पर स्थित युगल आकृतियाँ चैत्य के स्तूप-पूजा का निरीक्षण कर रहे हों।

मिथुन की दार्शनिक अभिव्यक्ति

मिथुन के सूक्ष्म दार्शनिक पक्ष पर विचार करने से प्रकट होता है कि इसकी आकृतियों में ब्रह्म-जीव की लीला तथा जीव के मोक्ष की कल्पना निहित है। स्तूप-पूजा निर्वाण का मार्ग था।

युगल-आकृति ब्रह्म-माया की द्योतक हैं। ईश्वर की कामना ही सृष्टि की रचना है, तत्वज्ञानी इसे दृढ़ भाव से मानते हैं। चैत्य के गर्भ-गृह में विराट् शरीर की कल्पना है तथा मिथुन पुरुष-प्रकृति के द्योतक हैं। स्यात् इसी दार्शनिक विचार को व्यक्त करने के लिए चैत्य में स्तूप एवं मिथुन को स्थान दिया गया। अजन्ता की गुहा नं० ९ तथा १० की समकालीनता (शुङ्गकालीन) उसी प्रकार की खुदाई से बतलायी जाती है।

वेदिका पर चित्रण

इसका उल्लेख हो चुका है कि पवित्र स्तूप को अपवित्र संसार से पृथक् करने के लिए वेदिका तैयार की गई थीं। भरहुत, अमरावती तथा साँची स्तूप के चारों ओर वेदिकाएँ खड़ी हैं। बोधगया में बोधिवृक्ष के चारों दिशाओं में वेदिका में अवशेष दिखलाई पड़ते हैं भरहुत, अमरावती तथा बोधगया की वेदिकाओं पर निम्न प्रकार की खुदाई मिलती है—

(अ) बौद्धधर्म की पहली शाखा (हीनयान) द्वारा प्रतिष्ठित धार्मिक प्रतीक, जिनमें गौतम बुद्ध की जीवन घटनाओं को व्यक्त किया गया है।

(१) हाथी (२) वृक्ष (३) चक्र तथा (४) स्तूप क्रमशः जन्म, ज्ञान प्रथम प्रवचन एवं निर्माण के बोधक हैं। (५) अश्व, महाभिनिष्क्रमण घटना का द्योतक है। (६) चंक्रमपथ (७) पदचिह्न आदि अनेक प्रतीक खुदे हैं।

(ब) जातक का प्रदर्शन। बुद्ध के पूर्व जन्म के ५५० कथानकों में से प्रमुख जातकों का प्रदर्शन वेदिकाओं पर कलाकार ने किया। उनका उद्देश्य था जनता को बोधिसत्व के जनहित कार्यों से परिचय कराना।

(स) ऐतिहासिक दृश्य—प्रसेनजीत तथा अजातशत्रु की यात्राएँ। उनके द्वारा बुद्ध (प्रतीक) का पूजन।

(द) सामाजिक प्रदर्शन—नृत्य तथा दरबार।

(य) वेदिकाओं पर अलंकरण–पुष्प, लता, फल, जंगली पशु, पक्षी आदि द्वारा उष्णीस को सुन्दर एवं आकर्षित बनाया गया।

यह सभी खुदाई प्रस्तर को गहरा काटकर (Low relief) की गई थी। कलाकारों ने बुद्ध के जीवन घटनाओं को विभिन्न प्रकार तथा आकार में दिखलाने का प्रयत्न किया है। जो पृष्टभूमि से सम्बन्धित नहीं है। साँची के गौड़ स्तूप (नं० २) पर जानवरों की आकतियाँ, मनुष्य के चित्र तथा कमलनाल की बहुलता है। भरहुत बेदिका पर खुदे धार्मिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त यक्षिणी की आदमकद (मनुष्य के पूर्ण आकार की) स्वतंत्र मूर्ति खुदी है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि सीमित क्षेत्र में कलाकारों ने कार्य नहीं किया। उनकी भारी तथा अनुपात रहित मूर्तियाँ असुन्दर नहीं हैं। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे कलाकार ने न दिखलाया हो। यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियों में लचक की कमी है। उनके अवयव अस्थि-ग्रन्थि से लगते हैं तथा गतिमान नहीं हैं। कलाकार ने उनके आकार मात्र का नियंत्रण किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शारीरिक मुद्रा तथा गतिविधि का ज्ञान कलाकार को न था। भरहुत के प्रसेनजीत-स्तम्भ पर अप्सराओं का नृत्य प्रदर्शित है। कथानक के अनुसार वस्तुओं को छोटा या बड़ा खोदा गया है। यह सब कलाकार के ज्ञान के परिचायक हैं।

भरहुत वेदिका के उष्णीस की खुदाई स्वच्छ तथा मनमोहक है। लता पुष्प की जो माला तैयार की गई है उसकी समृद्ध तथा सुन्दर बनावट से तत्सम्बन्धी अन्य खुदाई गौड़ हो जाती है। इसमें एक स्पन्दन तथा लहर-सी गति है। उसके मोड़ में स्वर संगीत-मय पशु, पक्षी अथवा मनुष्य की आकृति सन्निहित हो जाती है जिससे उनका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है।

भरहुत के कलाकार आत्मा की खोज में लगे रहे। तत्कालीन शैली में शिथिलता का आभास नहीं मिलता। शरीर के विभिन्न अवयवों एवं आभूषणों की यथार्थ रूपेण अभिव्यक्ति की गई है। एतदर्थ उनकी प्रौढ़ शैली में आनन्द तथा मधुर भावनाओं का संचार प्रतीत होता है।

भारतीय कला के इतिहास में बोधगया वेदिका का स्थान भरहुत से श्रेष्ठ माना गया है। यह वेदिका बोधिवृक्ष तथा चंक्रमपथ को घेर कर तैयार की गई है।

बौद्ध मत से सम्बन्धित होने पर भी सूर्य रथ, इन्द्र आदि की आकृतियाँ तथा बारह राशि चिह्नों (मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ तथा मीन) को बोधगया के वेदिका पर स्थान दिया गया। कला के पारखी इस मत को स्वीकार करते हैं कि बोधगया के कलाकार अधिक दक्ष थे तथा आवश्यक बातों को स्थान दिया था। जितनी आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं सभी स्वच्छ तथा पूर्ण रूप से गोल आकार की हैं। उनमें भारीपन का अभाव है किन्तु बनावट में गुरुता का प्रभाव स्वीकृत किया है। बोधगया की कला को उच्चतर मानने का एक दूसरा भी कारण है। इस वेदिका की आकृतियों के अंगों में जीवन तथा गतिशीलता है। उनके मार्ग में रुकावट नहीं दीख पड़ती। कथानक का प्रकरण लम्बा नहीं है और जो खुदे हैं वे भी सीमित स्थान में पूर्ण प्रकट होते हैं। उपदेश युक्त तथा चित्ताकर्षक खुदाई का ध्यान कलाकारों ने सदा रक्खा। उदाहरणार्थ जेतवन बिहार के दान सम्बन्धी घटना का (अनाथपीडिक जातक) जितना सुन्दर तथा पूर्ण प्रदर्शन बोधगया की वेदिका पर है वैसा भरहुत में दिखलाई नहीं पड़ता। बोधगया के अन्य विशेषताओं में कलाकार की भावना, विचार सहिष्णुता के भाव तथा कार्य श्लाघनीय थे।

शुङ्ग के समकालीन सातवाहन युग की कला कृतियों में साँची का महत्वपूर्ण स्थान है। वेदिका अलंकरण रहित होने पर भी तोरण की बनावट तथा सुन्दरता के कारण इसे सर्वोत्तम मानते हैं। साँची तोरण पर तत्कालीन जीवन के विभिन्न पहलुओं को—ऊँचे, धनवान, कुलीन, राजकीय दरबार नगरों का व्यस्त जीवन, ग्रामीण लोगों का कर्म जंगली जीवन आदि (विषयों को) कलात्मक ढंग से खोदा गया है। इसके प्रदर्शन में कोई अप्राकृतिक बनावट दृष्टिगोचर नहीं होती है। बुद्ध धर्म के अनुयायी कलाविद् अन्य सामाजिक एवं सांसारिक विषयों का कला में समावेश क्यों किया? यह विचारणीय प्रश्न है। यह सुझाव उचित होगा कि बुद्ध के समस्त जीवन (राजकीय तथा भिक्षु रूप में) के प्रदर्शन निमित्त ही विभिन्न विषयों को स्थान दिया गया था।

साँची तोरण के कलात्मक गौरव पर विचार करने से इसे शुङ्ग कालीन सर्वोच्च कलाकृति मान लेते हैं। इसकी विशेषताओं का विवेचन निम्नरूप से किया जाता है—

(१) साँची के वेदिका पर उत्कीर्ण अभिलेखों से प्रकट होता है कि इस स्थल को अधिक महत्व दिया गया जिस कारण अनेक स्थानों के कलाकारों ने इसके निर्माण में सहायता की। अत एव यह किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं थी किन्तु सामूहिक कार्य का परिणाम था, जो दक्षिण तथा पश्चिमी तोरण के परीक्षण से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

(२) साँची तोरण पर ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसे देखकर यह कहा जा सके कि अमुक दृश्य निर्जीव प्रकट होता है। प्रत्येक चित्रण को अनुप्राणित किया गया है। भरहुत प्रदर्शन के भारीपन तथा अंगों की स्थिरता का यहाँ सर्वथा अभाव है।

(३) प्रत्येक प्रदर्शन में अनुपात पर बल दिया गया है जिससे शरीर की बनावट सुन्दर तथा आकर्षक है।

(४) साँची तोरण की खुदाई में लम्बाई, चौड़ाई तथा गहराई का सर्वत्र ध्यान रक्खा गया है। इससे पूर्व कलाकार दो परिमाणों—लम्बाई तथा चौड़ाई—का ज्ञान रखते थे। तीसरा परिमाण—गहराई का परिज्ञान साँची की कलाकृतियों में स्पष्ट प्रकट होता है जिसके दिखलाने में दक्षता प्रदर्शित की गई है। वास्तव में प्रस्तर को गहरा खोदकर तीसरे परिमाण का दिग्दर्शन नहीं किया गया किन्तु सतह (Surface) पर आकृतियों की खुदाई से गहराई का परिचय मिल जाता है। उस खुदाई में एक आकृति दूसरी आकृति के पीठ पर न होकर उससे ऊपरी भाग में खोदी गयी है। नियमतः दृश्य देखते समय एक के पीछे दूसरी आकृति का होना आवश्यक है। परन्तु साँची के कलाकार ने सामने की आकृति को पूर्ण तथा पीछे वाली आकृति को आधा ढका दिखलाया है। इस प्रकार के भ्रान्ति पूर्ण प्रदर्शन से गहराई का आभास हो जाता है और तीनों परिमाणों की अभिव्यक्ति हो जाती है।

(५) काल तथा स्थान का परिज्ञान भी तोरण के चित्रों के अवलोकन से हो जाता है। आकृतियों के छोटे या बड़े आकार से दो प्रमाणों को व्यक्त करते थे। स्वभावतः समीप की वस्तु बड़ी और दूर की चीज छोटी मालूम पड़ती है। एक ही चित्र में तीन पंक्तियों की गोलाई में आकृतियाँ खुदी हैं। पहली पंक्ति में बड़े तथा क्रमशः छोटे चेहरे दिखलाई पड़ते हैं। दो व्यक्तियों के बीच वाले स्थान को दूसरी पंक्ति मानकर छोटे चेहरे खुदे दीखते हैं। इस प्रकार स्थान एवं काल का बोध हो जाता है।

(६) कलाकारों ने वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को अपनाया था उनका उद्देश्य यह नहीं था कि वस्तु के दृश्य-आकार को कला में स्थान दें किसी कथानक में (जैसे वेसन्तर जातक या षडदंत जातक) कथावस्तु के अनुसार ही चीजों का प्रदर्शन मिलता है यह सम्भव है कि दृष्टि सम्बन्धी (Optical) सचाई का उसमें अभाव हो परन्तु मुख्यनायक का कार्य सदा समयानुकूल रहा। इस तरह दृष्टि-विषयक (साक्षात्कार) प्रदर्शन में साँची के कलाकार ने अपनी निपुणता दिखलाई है।

(७) मनुष्य आकृति का सर्वप्रथम प्रकाशन साँची तोरण पर दिखलायी पड़ता है। इसके पूर्व भारतीय कला में इस प्रकार का दृष्टान्त नहीं मिलता। यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ अवन्ति, सूरसेन तथा मगध में मौर्य युग से पूर्व तैयार की गई थी। किन्तु इन्हें मनुष्य-आकृति की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता। तोरण के पट्टियों के मध्य में उन खड़ी आकृतियों को मानसिक चित्र नहीं मान सकते। उनके अङ्गों में जीवन तथा स्नायुओं में रक्त का संचार प्रकट होता है। अश्वारोही के चेहरों पर सुन्दरता, कार्य की समानता तथा अङ्गों की सदृश्यतया व्यक्त हो जाती है किन्तु मनोवैज्ञानिक भावना में विषमता दिखलाई पड़ती है। विद्वानों का मत है कि इस क्रम में हीनयान से महानान मत में पूजा-विधि का उद्गम हुआ।

तोरण पर ऐतिहासिक घटनाओं का प्रदर्शन

साँची तोरण हीनयान सम्बन्धी प्रदर्शनों का बहुत बड़ा आधार था। स्वभावतः गौतम बुद्ध के जीवन की अनेक घटनायें प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त की गई हैं।

(१) माया-सपना या कमलासन पर बैठी देवी की आकृति जन्म का द्योतक है। अश्व से महाभिनिष्क्रमण, वृक्ष से ज्ञान तथा स्तूप से निर्वाण की अभिव्यक्ति होती है।

(२) बुद्धत्व प्राप्ति का एक सुन्दर प्रदर्शन मार-विजय के नाम से विख्यात है। बोधिवृक्ष के सम्मुख मार (वासना या कुत्सित विचार) की सेना खड़ी है। मार राक्षस के सहकर्मी (वृक्षरूपी) बुद्ध पर प्रस्तर एवं वृक्ष की शाखाएँ फेंक रहे हैं अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। यानी सन्मार्ग से विमुख करने के समस्त उपाय काम में लाए जा रहे हैं। उसी प्रसंग में मार पर विजय प्राप्ति का दृश्य भी है। तोरण की उसी पट्टी पर एक ओर मार-आक्रमण का प्रदर्शन है तो दूसरी ओर मार की सेना का पराजय दिखलाया गया है। उस दृश्य में अश्वारोही, गजारोही पैदल तथा-कथित सेना का पलायन दिखलाया गया है। इसके अवलोकन से विदित होता है कि कलाकार ने प्रस्तर में प्राण फूंक दिया है। आक्रमण तथा पराजय का सजीव चित्रण शुङ्ग-कला में अन्यत्र नही मिलता। ब्राह्मणों द्वारा कथित शिव तथा कामदेव के पौराणिक कथा से इसकी तुलना की जा सकती है। स्तूप भगवान बुद्ध के निर्वाण का प्रतीक है जिसे पट्टियों के मध्य स्थित आयताकार प्रस्तर द्वारा बनाया गया है। ये चारों प्रतीक लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ तथा कुशीनगर से सम्बन्धित हैं। राजगृह, श्रावस्ती, वैशाली तथा संकिसा से भी बुद्ध की अलौकिक क्रियाओं [नीलहस्तिदमन, जेतवन विहार मे निवास, महाप्रदर्शन तथा तुषित नामक स्वर्ग से अवतरण] की घटना क्रमशः जोड़ी जाती है।

जातक-प्रदर्शन

साँची के कलाकारों द्वारा जातकों का प्रदर्शन अद्वितीय है। विस्वन्तर तथा षडदन्त जातक प्रदर्शन में सजीवता तथा कथानक में प्रवाह तथा क्रमबद्ध दिखाने के निमित्त मुख्य अभिनेता को स्थान-स्थान पर उपस्थित कर प्रदर्शन को गतिमान बनाने का प्रयत्न किया गया है।

कुछ ऐतिहासिक प्रकरण मे कलाकारों ने पराकाष्ठा दिखलाई है। पश्चिमी तथा दक्षिण के तोरण पर बुद्ध के शरीर-अवशेष के लिए जो युद्ध का प्रदर्शन है उसमें वास्तविक युद्ध का आभास मिलता है। वहाँ पैदल, रथ, अश्व तथा हस्ति चतुरंगिणी सेना) के कार्यों का सजीव चित्रण है। इसी प्रकार के उदाहरणों में राम-ग्राम की धार्मिक यात्रा की भी गणना होती है। जानवरों की विभिन्न दिशाओं में गति को, सूक्ष्म तथा यथार्थ पंक्तियों द्वारा जिस सुन्दर ढंग से दिखाया गया है वह वास्तव में उत्पादक कल्पना शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। साँची तोरण की खुदाई से कलाकार के ज्ञान चातुर्य्य, निपुणता तथा कल्पना शक्ति का परिचय प्राप्त होता

है। यही कारण है कि सांची की कला शुङ्ग-काल का सर्वोत्तम दृष्टान्त उपस्थित करती है।

साँची के तोरण का कलात्मक विवेचन से भिन्न सामाजिक तथा नैतिक महत्त्व है। धार्मिक स्वरूप के अन्तर्गत सदाचार की भावना को व्यक्त करने में साँची के कलाकार अपनी सानी नहीं रखते। शुङ्ग कालीन वेदिकाओं (भरहुत, बोधगया तथा अमरावती) पर बुद्ध के जन्मकथा के विशिष्ट प्रदर्शन में प्रेम तथा कोमल भावनाओं को प्रकट किया गया है। वह शताब्दियों तक आने वाली पीढ़ियों के लिए आदर्श उपस्थित करता है। बेसन्तर जातक राजकुमार की उदारता का ज्वलन्त उदाहरण सम्मुख रखता है। इस कथानक से जनता की भावना का आदर करने की परम्परा विदित होती है। सारी सम्पत्ति, पुत्र एवं स्त्री का परित्याग साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं है। इसी प्रकार महाकपि जातक परोपकार की पराकाष्ठा तथा आत्मत्याग की भावना का उद्बोधन करता है। साँची तोरण पर जो विस्तृत कलात्मक प्रदर्शन है उसी का अजन्ता के चित्रकला में चित्रण हुआ। इस तरह सांची के तोरण पर खोदे गये चित्र सामाजिक आदर्श तथा सदाचार को प्रतिबिम्बित करते हैं।

अमरावती-स्कूल

उत्तरी भारत की कला-परम्परा सुदूर दक्षिण में भी पहुँची। दक्षिण के आन्ध्र-प्रदेश के कृष्णा-गोदावरी घाटी में अमरावती आदि कई नगर थे जिसके केन्द्र में विशाल स्तूप का निर्माण किया गया था। यों तो आन्ध्र कला का इतिहास अशोक से प्रारम्भ होता है परन्तु दक्षिणापथ के सातवाहन* नरेशों ने इस केन्द्र को प्रोत्साहित किया। इसीलिए आन्ध्र राजाओं की सहायता से अमरावती की कला पल्लवित तथा पुष्पित हुई। इसकी बनावट, अलंकरण तथा विषय के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व २०० में यहाँ कला का आरम्भ हो गया था। अमरावती स्तूप पर जितने अभिलेख अंकित हैं उनके परीक्षण से आन्ध्र प्रदेश की कला की तिथियाँ (काल) निश्चित हो जाती हैं।

(१) ईसा पूर्व २०० में शुङ्ग कला के समकालीन स्तूप तथा अलंकरण।

(२) ईसवीसन् पहली सदी के सातवाहन राजा पुलमावि के लेख से विदित होता है कि इस शासक ने वेदिका की खुदाई की ओर ध्यान दिया था।

(३) द्वितीय शती में यज्ञश्री सातकर्णि के शासन काल में अमरावती की कला शिखर पर पहुँच गई थी।

(४) तीसरी शताब्दी में आन्ध्रप्रदेश के राजा इक्ष्वाकुओं के समय में अमरावती तथा नागार्जुनी कोण्डा को अन्तिम स्थान प्राप्त हुआ।

उत्तरी भारत के स्तूपों की तुलना में अमरावती तथा नागार्जुनी कोण्डा के स्तूप अपनी विशेषता रखते हैं। स्तूप के ऊपरी भाग पर संगमरमर के प्रस्तर जड़े हैं। स्तूप को खुदे प्रस्तरों से ढकने का प्रकार उत्तर भारत में नहीं मिलता। उन खुदे प्रस्तरों के अध्ययन से पता लगता है कि शुंग तथा कुषाण कला का प्रभाव सुदूर दक्षिण पर पड़ा। कृष्णा घाटी में गुहा कला का अनुकरण भी मिलता है।

अमरावती स्तूप की ऊपरी वेदिका में मुख्य मार्ग के सम्मुख चारों ओर पाँच जुड़े स्तम्भ स्थित हैं जिन्हें "आयकस्तम्भ" कहा जाता है। आयक शब्द संस्कृत आर्यक का भ्रष्ट रूप है जिसका अर्थ है पूजनीय। मथुरा से प्राप्त जैन मत के "आयाग-पट्ट" भी पूजा के निमित्त तैयार किये गये थे। इसलिए आयक, आर्यक तथा आयाग एक ही भाव के द्योतक हैं। आयक स्तम्भ की खुदाई बहुत कुशल तथा श्रेष्ठ कलाविद् द्वारा की गई थी। खुदाई का माधुर्य, सजीव प्रदर्शन, अवयवों की चेतन्यता तथा स्तम्भ के बाहुओं में लास्य के भाव उल्लेखनीय हैं। प्रदक्षिणापथ के समीप निर्मित वेदिका के प्रत्येक भाग खुदे हैं यानी थोड़ा भी हिस्सा अलंकरण रहित नहीं है। अमरावती का अलंकरण अद्वितीय है तथा उसका लावण्य अतुलनीय है। अमरावती तथा नागार्जुनी कोण्डा स्तूप को अलंकृत कर कलाकारों ने अपनी दक्षता तथा निपुणता का परिचय दिया है। खुदाई की सुन्दरता तथा कला का वैभव अपना सानी नहीं रखता। दोनों स्तूप बुद्ध से सम्बन्धित घटनाओं तथा कथानकों का प्रदर्शन करते हैं। उस खुदाई के विश्लेषण से निम्न बातें प्रकट हो जाती हैं।

(अ) शुंग-कालीन (ईसवी पूर्व सदियों में) प्रस्तर की खुदाई यानी मध्य-देशीय साँची एवं भरहुत से मिलती जुलती है। इसका अर्थ यह है कि हीनयान से सम्बन्धित प्रतीक के रूप में बौद्ध-कृतियों का प्रदर्शन है। इसमें बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातक को प्रस्तर पर प्रदर्शित किया गया है।

(ब) ईसवी सन् के आरम्भ में महायान मत का दक्षिण में आविर्भाव हुआ। इसमें प्रतीक के लिए स्थान न था, किन्तु बुद्ध की प्रतिमा तैयार होने लगी। मनुष्य आकृति को आदर्श मानकर कलाकारों ने बुद्ध प्रतिमा तैयार की। अमरावती में उसी रूप में मूर्ति मिलती हैं। अमरावती की यह विशेषता है कि कलाकार प्रतीक (Symbols) से मूर्ति (Icons) पर आ धमके। हीनयान तथा महायान के मध्यवर्ती युग की बुद्ध प्रतिमा का प्रतिनिधित्व वहीं मिलता है।

(स) ईसवी सन् की दूसरी शती में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि तथा पुलमावि ने शक नरेशों को परास्त कर अपना प्रभुत्व आन्ध्र प्रदेश से महाराष्ट्र तथा अवन्ति तक विस्तृत किया। उसी समय से मध्य भारत तथा मथुरा क्षेत्र से सातवाहन राजाओं का सांस्कृतिक सम्बन्ध बना रहा। यही कारण था कि अमरावती की कला पूर्ण रूप से विकसित हुई। भरहुत एवं साँची के यक्षिणी तथा मथुरा की विशाल बुद्ध प्रतिमा का अनुकरण अमरावती कला में हुआ। इसमें मध्य भारत के भरहुत साँची तथा गुहा एवं पल्लव कला का सम्मिश्रण हुआ। विद्वानों का मत है कि इस स्थान की कला में अन्य केन्द्रों के सदृश बौद्ध परम्परा का निर्वाह समुचित रूप से नहीं किया गया है। यक्षिणी विषय-वासना से पूर्ण कामातुर के रूप में दिखलाई गई है। अमरावती के कलाकारों का ध्यान मनुष्य आकृति पर अत्यधिक केन्द्रित था। शरीर की गोलाई तथा लचीलापन, अंगों में समता एवं संतुलन तथा प्रत्येक गाँठ में सरल गति के प्रदर्शन में उन्होंने अपनी दक्षता प्रकट की है। मनुष्य के प्रत्येक आवेग तथा भावना को अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रदर्शित किया गया है जिस कारण दूसरी

शती की सातवाहन कला अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कला की समृद्धता एवं कोमलता का चित्रण उल्लेखनीय है।

साँची की तरह संगमरमर पर खुदे (उदाहरण) नमूने बौद्ध कथाओं का प्रदर्शन करते हैं परन्तु उनके भीतर धार्मिक भावनाओं का अभाव है। उसे बौद्ध कला का नामकरण दे सकते हैं। इसमें कहीं भी निर्वाण की भावना प्रतिबिम्बित नहीं होती। सदाचार के निमित्त नारी को पृथक करने का उदाहरण उपलब्ध नहीं है। संक्षेप में यह कहना समुचित होगा कि अमरावती की कला प्रकृति तथा विषय-वासना से ओत-प्रोत है। यक्षिणी, वृक्षिका तथा अप्सराओं को प्रेमपूर्ण भाव-भंगिमा मय खोदा गया है। पूरे शरीर में अंगों का विकास तथा उनका उत्तेजनापूर्ण स्थिति, उभरे हुए स्तन, भारी नितम्ब कामुकता से परिपूर्ण प्रकट होते हैं। सभी उदाहरणों के परीक्षण से पता चलता है कि द्वितीय शताब्दी में अमरावती की कला चोटी पर पहुँच गई थी। इस युग के कलाकारों ने शरीर को बनावट में इतनी दक्षता दिखलाई थी कि शारीरिक नियम को भी अपने कठिन अभ्यास से अतिक्रमण कर गये थे। यही अमरावती की विशेषता थी।

अमरावती कला की विशेषताओं में उष्णीस की खुदाई का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। उष्णीस की बाहरी तथा भीतरी भाग की खुदाई में विभिन्न विषयों का समावेश किया गया है। बाहरी भाग में मालाधारी देवताओं के सदृश पुष्पमाला का प्रसार दिखलाया गया है जो ऊपर नीचे घुमाव के साथ बनाया गया था। नीचें उतरने और ऊपर उठने पर दोनों घुमाव के मध्य में जो स्थान रिक्त था उसे धार्मिक प्रतीकों से पूरा कर दिया गया ताकि कोई भी स्थान अलंकार रहित न रह पाये। माला को वामन पुरुष के या हस्तिमुख यक्ष के कन्धे पर स्थित दिखलाया गया है तथा स्थान-स्थान पर मकर के मुख से भी निकलता दिखलाई पड़ता है। उष्णीस के भीतरी भाग पर बौद्ध मत के शान्त चित्रों का प्रदर्शन है जिसका दूसरा उदाहरण भारतीय कला में नहीं मिलता। अमरावती स्तूप आन्ध्र प्रदेश का गौरव है तथा सातवाहन युग की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कृति है।

आन्ध्र प्रदेश में कला का इतिहास अशोक से समय से आरम्भ होता है। गुण्ठपल्ले के समीप लोमश ऋषि गुहा के सदृश अशोक-कालीन गुफाएँ मिली हैं। ईसवी पूर्व २०० वर्ष में जो कला आरम्भ हुई वह सन् २२५ ईसवी तक कार्यरूप में लाई गई थी। इस प्रदेश में बौद्धधर्म के प्रसार से ही कला की प्रगति हुई। स्थान-स्थान पर बौद्ध विहार खोदे गये जिसमें पूजा के लिए चैत्य भी स्थित थे। नागार्जुनी तथा अमरावती के स्तूप उसी बौद्धकला के क्रम में तैयार किये गये। यही कारण था कि भगवान बुद्ध के जीवन घटनाओं (मार विजय, सुजाता का खीर-ग्रहण, धर्मचक्र परिवर्तन, यशोधरा के समीप यात्रा, नालगिरि हस्ति दमन) तथा जातकों (वेस्वन्तर, षडदन्त, सस, मातृपोषक) का प्रदर्शन स्तूप के बाहरी भाग (अण्ड) पर किया गया है।

बेज्री से महाराष्ट्र के मार्ग में तीस मील की दूरी पर जग्गयपेठ का स्तूप

मिलता है। यहाँ पर भी खुदाई ऊँचे श्रेणी की है। जग्गयपेठ में कलाकृतियाँ सात सौ वर्षों तक तैयार की गईं। ईसवी पूर्व २०० से तीसरी सदी तक इक्ष्वाकु नरेशों ने उसे सींचा तथा बाद में पल्लव राजाओं के समय में कला पल्लवित और पुष्पित हुई। सर्वत्र संगमरमर का प्रयोग किया गया। जिससे वेष्टनी तथा अण्ड के ऊपर संगमरमर का आवरण दिखलाई पड़ता है। वह पूर्ण खुदा हुआ है। यहाँ पर खुदाई उभरी हुई नहीं है जैसी अमरावती में दृष्टिगोचर होती है। परन्तु खुदे प्रस्तर बड़े आकार के हैं। यही जग्गयपेठ की एक विशेषता है। अमरावती को तो सुन्दरता के कारण संसार की कला का नमूना कह सकते हैं। भरहुत तथा साँची के सदृश अमरावती के शिला पर लेख अंकित हैं। जो दान का उल्लेख करते हैं। अमरावती के अभिलेखों से प्रकट होता है कि अमरावती स्तूप को 'महाचेतिय' कहते थे। सम्भवतः बौद्ध धर्म के चैत्यक शाखा के कारण स्तूप का महाचेतिय नामकरण हुआ था। उस स्थान से प्राप्त लेखों में स्तूप के प्रकार का वर्णन भी मिलता है और महावेदिका, उष्णीत तथा सूची शब्दों का प्रयोग किया गया है। लेखों के अध्ययन से प्रकट होता है कि अमरावती स्तूप का कार्य महानव धर्मिक के देख-रेख में पाषाणिक ने सम्पन्न किया था।

कला के क्षेत्र में धार्मिक प्रतीक के अतिरिक्त सामाजिक जीवन के दृश्यों का सुन्दर समावेश पाया जाता है। सातवाहन कलाकारों की कृतियाँ ऊर्ध्वपट्ट की खुदाई से उच्चतम सिद्ध हो जाती है। उसमें देव, मनुष्य, जानवरों के पारस्परिक तथा स्थान सम्बन्ध को अद्वितीय सुन्दरता एवं पूर्णता के साथ दिखलाया गया है। अमरावती के कलाविदों को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी क्योंकि परम्परागत विचार एवं अलंकरण में कलाकारों की सीमा निर्धारित थी। तो भी धातुप्रतिमा विस्तृत प्रदर्शन की तुलना में अमरावती के प्रस्तर-खण्ड न्यूनतम नहीं हैं। भारतीय कला में आन्ध्र शैली की निजी विशेषता के कारण अमरावती केन्द्र अमर रहेगा।

—❀—

अध्याय ३

कुषाण युग की भारतीय कला

शुङ्ग कालीन भारतीय कला के दिग्दर्शन के पश्चात् हम ऐसे काल से अतिक्रमण करते हैं जिस युग की कलात्मक प्रवृति एवं विचार-धारा ईसवी पूर्व भारतीय कला से सर्वथा भिन्न थी। तत्कालीन शासक कनिष्क बौद्धधर्मालम्बी होकर भी सहिष्णुता के भाव से ओत-प्रोत था। अश्वघोष की कृतियां तथा कनिष्क द्वारा चौथी बौद्ध सभा के आयोजन की घटना इस बात को प्रमाणित करती हैं कि कनिष्क कट्टर बौद्ध था। किन्तु उस युग का कलात्मक कृतियाँ तथा उसकी स्वर्ण मुद्राएँ यह घोषित करती हैं कि कनिष्क अन्य मतों का भी समादर करता था। सम्भवतः ब्राह्मणधर्म के प्रबल वेग के कारण ही ईसवी पूर्व प्रतीक-प्रधान-कला को समाज में स्थान न मिल सका। यह उल्लेख हो चुका है कि बौद्ध प्रतीकों (Symbols) के साथ-साथ बुद्ध को जन्म-कथाओं (जातक) का भी प्रर्दशन कला में होता रहा। परन्तु ईसवी सन् के आरम्भ से भागवतधर्म ने कला के प्रवाह को परिवर्तित कर दिया। यह विद्वानों को ज्ञात है कि मौर्य युग के पश्चात् ब्राह्मण धर्म के पुनः स्थापित होने पर सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग को अपने बल प्रर्दशन का अवसर मिला जिसका प्रमाण साहित्य में निहित है। समाज में जनता वैदिक यज्ञों की ओर आकर्षित होने लगी। अयोध्या तथा नानाघाट (पूना-के समीप) के अभिलेखों में अनेक वैदिक यज्ञों का विवरण पाया जाता है।

पतञ्जलि ने भी 'इहपुष्यमित्रः याजयामः' का उल्लेख कर यज्ञ-विधान की ही पुष्टि की है। इतना ही नहीं ईसवी पूर्व कई लेखों (बेसनगर स्तम्भ तथा घोसुंडी) में इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवतागण तथा वैदिक विष्णु के व्यूह रूप संकर्षण वासुदेव आदि के पूजन एवं शिला प्रकार का वर्णन आया है। इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि मौर्ययुग के उत्तरगामी कलात्मक प्रवृत्तियों में बौद्ध कला के साथ एक नवीन धारा प्रवाहित होने लगी। जिसने समाज में नये विचार उपस्थित किये। उसी कारण कारण शुङ्ग-कालीन बौद्ध कला को ब्राह्मणधर्म ने प्रभावित किया। गीता का उपदेश देकर भगवान कृष्ण ने लोगों में भक्ति भावना को प्रज्ज्वलित किया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ गीता १८।६५ ॥

तात्पर्य यह है कि शुंगकाल में ही भागवत मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दक्षिण पश्चिम भारत, मालवा, राजपुताना से प्राप्त लेख संकर्षण वासुदेव आदि (व्यूह स्वरूप) के पूजा का संदेश सुनाते हैं।

महायान का उदय

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जिस बौद्धधर्म में नीति, सदाचार एवं

सम्यक् व्यवहार पर बल दिया गया था, प्रतीक (कलात्मक) सर्वप्रिय बना तथा आर्यों से भिन्न विजातियों में प्रचलित यक्ष, नाग, वृक्ष-आदि को कला में अपनाया गया, उसी बौद्ध धर्म में आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ जागृत हो उठीं। भागवत धर्म ने भक्ति तथा प्रसाद के सिद्धान्तों को मतावलम्बियों के समक्ष उपस्थित किया जिसके फल-स्वरूप महायान मत का उदय हुआ और बुद्ध अलौकिक महापुरुष के रूप में महायानधर्म में स्वीकार किए गए। बुद्ध के उपदेशक के स्वरूप को त्याग कर महायान के अनुयायियों ने उनके (बुद्ध के) दैवीरूप (ईश्वर तुल्य) को अङ्गीकार किया और उस महापुरुष के बत्तीस विशिष्ट लक्षणों को प्रचारित किया गया। कुषाण युग की भारतीय कला में हीनयान के समस्त प्रतीकों को महायान ने त्याग कर बुद्ध प्रतिमा का निर्माण कराया। यही उस युग की विशेशता है। जनश्रुति के आधार पर यह मानते हैं कि दक्षिण भारत में महायान की उत्पत्ति हुई, जहाँ से वह मत उत्तरी भारत में प्रसारित हुआ। इस मत के देवपूजा, धर्मशून्यता तथा बुद्ध प्रतिमा के नए विचार ने कलाकृतियों का मार्ग बदल दिया।

महायान की दूसरी विशेषता बोधिसत्व की कल्पना है। दो प्रकार की प्रतिमाओं—बुद्ध तथा बोधिसत्व—से पूरे समाज को कलाकार ने प्लावित कर दिया। बोधिसत्व की कल्पना महायान की देन है। वह काल्पनिक व्यक्ति जो बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील है और समस्त प्राणी मात्र का हितचिन्तक है। बोधिसत्व निम्न पारमिता (षष्ट विशेष गुण) के अभ्यास में संलग्न रहता है।

(१) करुणा (२) शील (३) शान्ति (४) वीर्य (५) ध्यान (६) प्रज्ञा के चिन्तन तथा (७) अभ्यास की ओर अग्रसर होता है। बोधिसत्व बुद्ध की कोटि में पहुँचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कुषाण युग से भारतीय कला दोनों प्रतिमाओं—बुद्ध तथा बोधिसत्व द्वारा ओतप्रोत हो गई। एक देवत्व प्राप्त कर तुषितस्वर्ग में निवास करता तथा दूसरा प्राणी-मात्र के हितसुख की चिन्ता करता था। कुषाण काल में गन्धार तथा मथुरा दो प्रधान कला-केन्द्र थे। इस कारण दो शैलियों में प्रतिमाओं का निर्माण कलाकार करते रहे। दो प्रदेशों की परिस्थितियों के कारण कला में उनके विभिन्न स्वरूप मिलते हैं जिनका वर्णन अगली पंक्तियों में किया जायगा।

ईसवी सन् के पश्चात् भारतीय कलाविद् प्रतीकों से सन्तुष्ट न थे तथा कला में जीवन लाना उनका ध्येय था। इसलिए सजीवता लाने के लिए शरीर के अवयवों का विकास नितान्त आवश्यक हो गया था। इस प्राकृतिक विकास-क्रम में नवनिर्माण प्रतीक से शक्तिशाली सिद्ध हुआ और बुद्ध को गन्धार कला में महापुरुष का रूप दिया गया। महापुरुष लक्षण में—उर्णा, उष्णीष, दक्षिणावर्तन मूर्धज, आजानुबाहु, लम्बकर्णपास, जालाङ्गुलहस्त, चक्र आदि को कला में स्थान दिया गया। यद्यपि दीर्घनिकाय के लखन सुत्तान्त में बत्तीस लक्षणों का नामोल्लेख है परन्तु कुषाण युग की कला में कुछ ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिनका नाम ऊपर दिया गया है।

गन्धार कला-शैली

उत्तर पश्चिमी भारत का प्राचीन नाम गन्धार था जिसका उल्लेख वैदिक तथा

संस्कृत साहित्य में आया है। उस विशाल जनपद को सिन्धु नदी दो भागों में विभक्त करती है। पूर्वी गन्धार की राजधानी तक्षशिला तथा पश्चिमी भाग की पुष्कलावती थी। कनिष्क के समय इसी गन्धार प्रदेश में प्रचलित कला का प्रसार हुआ जिसे गन्धार शैली कहते हैं। अशोक ने तक्षशिला में धर्मराजिका स्तूप का निर्माण किया था। कालान्तर में यूनानी शासकों ने राज्य किया जिनके सिक्के तथा प्राप्त मूर्तियाँ यूनानी कला के उदाहरण हैं। शककाल में भी स्तूप तैयार हुए, जिनके संलग्न प्रस्तरों पर बौद्धमत की आकृतियाँ खुदी हैं। गन्धार प्रदेश में भारतीय, यूनानी, मध्य एशिया, तथा ईरानी संस्कृतियों का मिलान था। अतः कला उनसे अछूती न रह सकी।

यद्यपि कुषाण युग मूर्ति-निर्माण का आरम्भ काल माना जाता है किन्तु देवता के आकार पाषाण-खण्ड के एक ओर खोदे जाते रहे। अतः उसे तक्षण-कला का नाम देना उचित होगा। वास्तुकला के साथ प्रस्तर की खुदाई आरम्भ हुई जिसमें बुद्ध, बोधिसत्व आदि की आकृतियाँ खोदी गई।

यूनानी कला का प्रभाव मानकर इस शैली को भारतीय-यूनानी शैली या यूनानी बौद्धकला भी कहते हैं। परन्तु गन्धार की कला वास्तव में भारतीय शैली का ही एक स्वरूप थी।

पुष्कलावती, बैक्ट्रिया, तक्षशिला, जलालाबाद, स्वात् तथा तख्तेवहाई के भू-भाग में अनगिनत गन्धार शैली के नमूने उपलब्ध हुए हैं जिससे प्रकट होता है कि (वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान) उत्तर-पश्चिम भारत में ही गन्धार कला का प्रसार था। इस भूभाग में दो प्रकार के कलात्मक ढंग कार्यान्वित हुए तथा कलाकारों को स्थानीय उपलब्ध सामग्री पर निर्भर रहना पड़ता था। स्वात् घाटी में भूरे रंग (आसमानी) के स्लेट वाले प्रस्तर वर्तमान थे, अत एव तक्षण कला में इसी प्रस्तर का विशेष रूप से प्रयोग हुआ। तक्षशिला के समीप मिट्टी तथा चूने की मिश्रित सामग्री (Stucco) का प्रयोग हुआ जिसे साँचे में ढालकर इच्छित मूर्ति या आकृति तैयार की जाती थी।

गन्धार कला के क्रमिक विकास, मूर्तिशैली तथा सुन्दर उपलब्धियों का विवेचन भारतीय कला के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गन्धार की बौद्ध प्रतिमाएँ वीम, कनिष्क आदि कुषाण राजाओं के समय में पूर्ण विकसित हुई। उन्हें मथुरा के समकालीन मानते है। ईसवी सन् के आरम्भ से तीसरी सदी तक प्रस्तर की खुदाई तथा चौथी पांचवीं शताब्दी में चूने मिट्टी (Stucco) की गन्धार प्रतिमा प्रसिद्ध है। गन्धार कला बौद्ध मत से सम्बन्धित (बुद्ध, बोधिसत्व, जातक प्रदर्शन) आकृतियों के प्रदर्शन के लिए विख्यात है किन्तु पश्चिमी विद्वान बुद्ध मूर्ति की उत्पत्ति के विवेचन में विभिन्न मत रखते है। उसमे भारतीय विचार-धारा स्पष्टतया व्यक्त की गई है। चक्रवर्ती, योगी, विभिन्न आसन, (पद्मासन, सिंहासन आदि), मुद्रायें, नासाग्र-दृष्टि, विद्याधर, उर्णा, उष्णीष आदि भारतीय कला की विशेषताएँ हैं जिसका रूप ईरानी तथा यूनानी कला में दृष्टिगोचर नहीं होता।

भारतीय योगी विचार, मनन तथा चिन्तन एवं तपस्या में लीन रहता है और

इन्हीं भावों को लेकर गन्धार के कलाकार अग्रसर हुए थे। अतः अपोलो के स्वरूप तथा एथेना के वस्त्र से बुद्ध मूर्ति सम्बन्धित नहीं मानी जा सकती। कनिष्क से पूर्व उत्तर पश्चिम भारत में यूनानी कला का ह्रास हो गया था। यह कहना उचित होगा कि उनकी कुछ रीतियों को स्थानीय कला में स्थान मिला किन्तु उसे भारतीयता के आवरण से आच्छादित कर दिया गया।

बौद्धकला की विशेषताएँ

(१) कुषाण युग के काल्पनिक दृश्यों का गन्धार कला में अभाव है।

(२) बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व गौतम की जीवन-घटनाओं का प्रदर्शन आरम्भ।

(३) जातक प्रदर्शन प्रायः समाप्त।

(४) शुङ्ग कला के प्रतीकों का अन्त।

(५) बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनायें—

(अ) जन्म-माया की प्रतिमा से।

(ब) ज्ञान-बुद्ध की ध्यानावस्थित प्रतिमा से।

(स) प्रवचन-बुद्ध द्वारा धर्म परिवर्तन तथा

(द) निर्वाण-बुद्ध की शयनावस्था की आकृति से दिखलाया गया है।

(६) बुद्ध की योगी के रूप में प्रतिमा।

(७) मूँछ की सत्ता (जो अन्यत्र नहीं दिखलाई पड़ती)।

(८) उर्णा की स्थिति।

(९) उष्णीष चक्रदार बाल तथा ऊपरी केश-ग्रन्थि।

(१०) वस्त्र (अधो तथा संघाटी)।

विशेषता यह है कि वस्त्रों में क्षितिज के समानान्तर गहरा कटान वर्तमान है। जिस तरह रोम की मूर्तियों में पाया जाता है।

(११) प्रभामण्डल-सादा।

(१२) बोधिसत्व की आकृति का आरम्भ।

बोधिसत्व की प्रतिमा राजा के वेष में तैयार की जाती थी। इसकी आकृति में धोती, चादर, पगड़ी, शरीर में आभूषण तथा पैरों में चप्पल वर्तमान हैं। ऐसा समझा जाता है कि शक लोगों को जवाहरात तथा सोने से प्रेम था, इसलिए उस समय बोधिसत्व की मूर्ति में मूल्यवान प्रस्तर के समूह दिखलाये गये हैं। इसी बोधिसत्व को अनेक प्रकार के जन्म ग्रहण करने पड़े। जितनी कहानियाँ बौद्ध मत में कही गई हैं उनके मूल में कर्णधार या प्रधानपात्र बोधिसत्त्व ही है।

(१३) जिस प्रस्तर पर बुद्ध की आकृति बनाई जाती थी उसके निचले भाग में आसन दिखलाया जाता यानी चौकी खोद कर तैयार की जाती थी। बुद्ध की खड़ी प्रतिमा में चौकी चौकोर है जिसे खोद कर बुद्ध एवं बोधिसत्व की सूक्ष्म आकृतियाँ बनी हैं दोनों तरफ दो छोटे स्तम्भ (Cariathian Pillors) बने हैं बुद्ध की बैठी प्रतिमा में चौकी पर किसी प्रकार की खुदावट नहीं है। उसे सिंहासन के रूप में ग्रहण किया

गया है। क्रमशः कोरियथियन स्तम्भ का लोप हो गया, जिसके स्थान को भारतीय बेल पुष्पलता ने ले लिया।

गन्धार कला में बुद्ध की तीनों—स्थानक (खड़ी), आसन (बैठी) तथा शयन प्रतिमा–का प्रदर्शन किया गया और जीवन की घटनाओं को पृथक दिखलाया गया है। इसी के द्वारा कलाकार अपनी कुशलता का परिचय देते रहे।

गन्धार शैली में बुद्ध तथा बोधिसत्व की आकृतियों को चूना तथा मिट्टी मिश्रित सामग्री से भी तैयार करने लगे जिसका प्रसार भारत से बाहर मध्य एशिया में हुआ। मीरान, निया, चरचेन तुरफान आदि स्थानों की खुदाई से तरीमघाटी की जितनी सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें बोधिसत्व की सिरमिट (चूना + मट्टी) वाली मूर्तियाँ अधिक है।

कला में तीन प्रकार की बोधिसत्व प्रतिमा मिली है।

(१) अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि राजा का वेष तथा हाथ में कमल पुष्प।

(२) मंजुश्री—जो ज्ञान की साक्षात् मूर्ति हैं। बाएँ हाथ में पुस्तक तथा दाहिने में तलवार वर्तमान है। अज्ञान के नाशक तथा ज्ञान प्रकाशक कहे गये हैं।

(३) मैत्रेय-हाथ में विभूषित अमृत-पात्र है। उसकी आकृति ध्यान मुद्रा में तैयार की गई है।

इस प्रकार कनिष्क काल मे महायान के विकास के साथ बोधिसत्व की पूजा प्रचलित हुई। बुद्ध के परिचायक के रूप में सर्वत्र बोधिसत्व दिखलाए गये हैं।

गन्धार शैली मे जातक प्रदर्शन का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है परन्तु भगवान बुद्ध की जीवन-घटनाओं (प्रमुख या गौड़) को प्रस्तर पर साक्षात्कार किया गया था। माया का सपना, जन्म, माया का कपिलवस्तु लौटना, पाठशाला में गौतम, गौतम का विवाह, महल का दृश्य, महाभिनिष्क्रमण (कपिलवस्तु से जङ्गल के लिए प्रस्थान) उरुवेला मे तपस्या, उरुवेला कश्यप को बुद्धधर्म मे दीक्षित करना, देवदत्त तथा उसके सहयोगी हत्यारों का दमन, श्रावस्ती का महाप्रातिहार्य आदि घटनाएँ सुन्दर ढंग से खुदी हुई हैं। जातकों मे दीपंकर तथा चन्द्रकिन्नर जातक का उल्लेख किया जा सकता है। इन सब प्रदर्शनो से गान्धार कलाकारों के ज्ञान एवं अध्ययन का परिज्ञान हो जाता है।

इस विषय से पृथक हारीति की मूर्ति तक्षशिला की खुदाई से मिली है। वह यक्षिणी भगवान बुद्ध की शिक्षा से प्रभावित होकर बच्चों की हत्या त्याग कर शिशुओं की रक्षक बन गई। अतः छोटे बच्चो के साथ इसकी मूर्ति मिलती है।

मथुरा की कला-शैली (स्कूल)

कनिष्क के शासन काल में गन्धार के अतिरिक्त मथुरा भी महत्वपूर्ण कला केन्द्र था।

मथुरा ब्राह्मण परम्परा में भगवान कृष्ण का जन्म-स्थान कहा गया है। यह ब्राह्मण धर्म का केन्द्र होने के साथ-साथ बौद्धधर्म का भी प्रधान क्षेत्र हो गया। जैन

भी पीछे न रहे। अतएव मथुरा प्रदेश में ब्राह्मण, बुद्ध तथा जैन मतों की प्रधानता हो गई, जिसने कला को प्रभावित किया। कुषाण नरेश कनिष्क आदि सृजनात्मक कार्यों में लगे रहे जिससे कला को जीवन मिला। यही कारण था कि कुषाण युग में गन्धार शैली के समकालीन मथुरा कला का विकास हुआ।

मथुरा शैली की उत्पत्ति के विषय में विश्लेषण करने से प्रकट होता है कि मथुरा के प्रदेश में मौर्यकाल से ही स्वदेशी कला का प्रचार था जिसे 'यक्ष मूर्ति' में हम विकसित पाते हैं। यक्ष की जितनी प्रतिमाएँ अभी तक उपलब्ध हुई हैं उनसे विदित होता है कि सूरसेन, अवन्ति तथा मगध प्रदेश में एक समान स्वदेशी कला का परिज्ञान था। ग्रामीण जनता इस कला से विज्ञ थी और यक्ष-मूर्ति की पूजा करती थी। बरोदा (मथुरा के समीप), ग्वालियर, विदिशा (पूर्वी मालवा) तथा पटना से विशालकाय यक्ष-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों को सानुपातिक रीति से गढ़ा नहीं गया था। लम्बे कद, विशाल शरीर, स्थूल काय एवं मद्दापन उन प्रतिमाओं की विशेषताएँ हैं। महामायूरी में मणिभद्र तथा पूर्णभद्र नामक दो भ्राताओं का वर्णन आया है। मणिभद्र भगवत (पूजनीय) कहा गया है। यक्ष आकृतियाँ पूजा के लिए या अन्य किसी लक्ष्य को सामने रखकर तैयार की गई थी, इस विषय मतभेद है। वैदिक साहित्य में यक्ष जीवन के वनस्पति मूल का रक्षक कहा गया है अथवा उसे वनस्पति का प्राण कहें तो अत्युक्ति न होगी। रामप्रसाद चन्दा यक्ष-यक्षिणि को अलंकरण का साधन मानते हैं। दीदार गंज यक्षी चँवर लिये खड़ी हैं तथा भरहुत एवं साँची के तोरण पर दोनों की आकृतियाँ स्तम्भ पर खुदी हैं। पूजा निमित्त प्रतिमा को तोरण स्तम्भ पर स्थान नहीं दिया जा सकता। अस्तु ! तात्पर्य यह है कि मथुरा कला के उद्‌गम-पूर्व उस प्रदेश में कलाकार यक्ष मूर्ति से परिचित थे। मौर्य युग से लेकर कुषाण काल तक यक्ष का ज्ञान सभी को था। इसी कारण मध्य भारत तथा मालवा की शुङ्गकालीन कलाकृतियों में यक्ष की आकृति मिलती है। अतएव उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यक्ष के रूप में स्वदेशीय तक्षण कला कुषाण कालीन मथुरा शैली के आदर्श (Prototype) स्वरूप थी। बुद्ध तथा जैन तीर्थंकर की प्रतिमाएँ यक्ष के आकार-प्रकार से मिलती जुलती हैं।

लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत तीर्थंकर तथा बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएँ बारम्बार यक्ष आकृति की याद दिलाती हैं। सारनाथ में कनिष्क के तीसरे वर्ष में स्थापित लम्बी चौड़ी बोधिसत्व की मूर्ति मिली है। मथुरा के कलाविद् बड़े आकार की प्रतिमाएँ तैयार करने में दक्षता प्राप्त कर बौद्ध प्रतिमा का निर्माण करने लगे। पूजा के निमित्त धार्मिक मूर्तियाँ तैयार हुईं। प्रचुर संख्या में निर्मित प्रतिमाओं के कारण ही मथुरा मण्डी के सदृश माना गया है।

मथुरा की कला का अध्ययन निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जाता है—

(१) धार्मिक प्रतिमा से पूर्व मनुष्य की आकृति-निर्माण।

(२) जैन कला।

(३) बौद्ध कला का विकास।

(४) हिन्दू मूर्तियों का अभ्युदय।

इनके विवेचन से पूर्व यह कहना उचित होगा कि मध्य भारतीय कला (भरहुत तथा साँची) का प्रभाव मथुरा पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मथुरा के समीप रूपवस तथा सिकरी नामक स्थानों से प्राप्त लाल प्रस्तर का प्रयोग कलाकारों ने किया। उस लाल प्रस्तर पर सफेद छींटे भी वर्तमान हैं जिससे कलात्मक नमूने भव्य दिखलाई पड़ते हैं। मथुरा की कला के तीन विभिन्न युग थे जिनकी विशेषतायें गम्भीर विवेचन से स्पष्ट हो जाती हैं।

(अ) पहला युग ईसवी पूर्व २०० से आरम्भ होता है।

(ब) ईसवी सन् पूर्व पहली तथा ईसवी सन् की प्रथम शती को दूसरा युग माना जाता है।

(स) तीसरा क्षत्रपयुग के नाम से विदित है। क्षत्रप शासन काल में स्थानीय कला फूली तथा फली। रंजुबल एवं सोडास मथुरा के क्षत्रप शासक थे। इनके समय में परम्परागत तथा निर्जीव कला के नमूने उपलब्ध हुए हैं। यों तो मथुरा के क्षत्रप तक्षशिला से राजनीतिक सम्बन्ध रखते थे परन्तु तक्षशिला की यूनानी कला का प्रभाव मथुरा तक पहुँच नहीं सका। कारण यह था कि यूनानी कला मथुरा प्रदेश में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व न रख सकी। पश्चिमी ढंग की अवनति कुषाण काल में होने लगी। उससे भारत की कला को शक्ति न मिल पायी। उसका ह्रास स्वाभाविक था।

मनुष्य की आकृतियाँ

भारतीय कला में कुषाण युग से पूर्व मनुष्य की आकृति का निर्माण अज्ञात सा था। ऐतिहासिक युग की प्राप्त मुद्रा (की कला) में तथा आहत सिक्कों पर मनुष्य की छोटी आकृतियाँ मिली हैं पर उन्हें कलात्मक नमूना नहीं माना जा सकता। मौर्य-कला में इसका अभाव सा रहा। शुङ्ग युग में साँची के तोरण पर दो पट्टियों के मध्य भाग में खड़ी मनुष्य की आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सम्भवतः उनको अलंकरण के रूप में व्यवहृत किया गया था। वास्तविक रूप में मनुष्य के आकार को ध्यान में रखकर मथुरा के कलाकारों ने ही कार्य किया है। कुषाण नरेश वीमकदफिस तथा सम्राट् कनिष्क की सुन्दर सिर रहित प्रस्तर की आकृतियाँ मिली हैं। कनिष्क की सिर रहित प्रस्तर प्रतिमा पर अभिलेख भी खुदा है जिसमें 'महाराजाधिराज कनिष्क' का नाम उल्लिखित है। बहुत सम्भव है कि कुषाण कलाकार रोम की प्रस्तर प्रतिमाओं से परिचित हों और उसी के आदर्श पर भारत में प्रतिमाएँ तैयार हुई हों। इन दोनों कुषाण राजाओं की प्रतिमाएँ ईरानी वेषभूषा में मिली हैं।

प्रस्तर की आकृति तथा सोने के सिक्कों पर अङ्कित स्वरूप में समानता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मथुरा में सर्वप्रथम मनुष्य की आकृति तैयार की गई।

मथुरा की जैन कला-कृतियाँ

मथुरा की जैन कला को दो उपविभागों में बाँटा जा सकता है। सर्वप्रथम जैनस्तूप की वेदिका जिस पर शुङ्ग काल के सदृश वृक्षिका तथा यक्षिणि की आकृतियाँ

तैयार की गई हैं। भरहुत तथा साँची की वृक्षिका से मथुरा की जैन वेदिका पर खुदी यक्षिणी मिलती है। इन्हें वनस्पति उत्पादन की क्रिया का पवित्र रूप (प्रतीक) मानते हैं। स्तम्भ पर यक्षिणी नग्न अथवा अर्द्ध-नग्न रूप में खुदी है। इसके शरीर पर आदिम जातियों में प्रचलित आभूषण दिखलाई पड़ते हैं। ये वामन की पीठ पर विभिन्न मुद्राओं में खड़ी हैं। इन्हें देखकर साधारणतया स्त्रियों के वासना-सम्बन्धि विचार का परिचय मिलता है। इससे उनके कामुक भाव की अभिव्यक्ति मानना उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसे अनुकरण का वास्तविक श्रोत पश्चिम एसिया से प्राप्त नग्नदेवियों की मृणमयी मूर्तियाँ थीं जिनकी पूजा उस प्रदेश में होती रही।

कुषाण युग में बौद्ध प्रतिमा के सदृश जैन मूर्तियाँ भी तैयार की गई जो बौद्ध प्रतिमा से पीछे निर्मित हुई थीं। कंकाली टीला (मथुरा) से जो जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं वे बौद्ध मूर्तियों के इतनी सदृश हैं कि दोनों में विभेद करना कठिन हो जाता है। यदि श्रीवत्स पर ध्यान न दिया जाय तो ऊपरी अङ्गों की समानता के कारण जैन को बौद्ध तथा बौद्ध को जैन मूर्ति कहने में कोई आपत्ति नहीं होगी। कारण यह था कि कुषाण युग के आरम्भ में कला में धार्मिक कट्टरता का अभाव था। भरहुत तथा मथुरा की यक्षी में भी कोई धार्मिक भेदभाव नहीं था अथवा यक्षिणी किसी विशेष मत से सम्बन्धित न थी। अतएव यह कहना न्याय-संगत होगा कि बौद्ध तथा जैन प्रतिमाओं का निर्माण स्वदेशीय कला के अनुकरण पर हुआ था। जैन कायोत्सर्ग (स्थानक) प्रतिमायें यक्ष के रूप को लेकर निर्मित हुई तो आसन (बैठी) मूर्तियाँ अयागपट्ट के अनुकरण पर बनीं। पहली सदी ईसवीपूर्व में आयागपट्ट पर महावीर की ध्यानावस्थित प्रतिकृति मिलती है। सम्भवतः योगी के स्वरूप को ध्यान में रखकर महाबीर की बैठी (आसन) मूर्ति बनाई गई हो। जैनधर्मावलम्बी प्राचीन परम्परा से पृथक न होकर कृतसंकल्प होते थे, इसीलिए स्वदेशीय परम्परा से विमुख न हुए। बौद्ध मत में बाहरी प्रभाव अधिक काम करता रहा। गन्धार कला उसका उदाहरण है। जैनी दूसरे के सम्पर्क में अधिक नहीं रहे, अतएव जैनमत विश्वव्यापी न हो पाया।

मथुरा के कंकाली टीले से स्थानक (कायोत्सर्ग) मुद्रा में तीर्थंकर की अनेक प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कुषाण कालीन तीर्थंकर की मूर्तियों की चौकियों पर लेख उत्कीर्ण हैं (शक काल ४—६५ तक यानी ई० सं० ८२ से १७३ ई० तक) जिनसे उनकी तिथि निश्चित हो जाती है। इन प्रतिमाओं की निम्न विशेषतायें हैं—

(१) श्रीवत्स (२) अजान बाहु (३) यक्ष तथा यक्षिणी की आकृतियाँ (४) कभी यक्ष अथवा यक्षिणी के सिरे पर तीर्थंकर की मूर्ति वर्तमान है। (५) उर्णा तथा उष्णीष का अभाव (६) ध्यानमुद्रा की प्रधानता (७) तीर्थंकर के हाथ, पैर अथवा वक्षस्थल पर जैन प्रतीक (८) मथुरा की कर्पदिन मूर्तियों के सदृश तीर्थंकर की प्रतिमा भी मिलती हैं। (९) पतली कमर (१०) कंधे गोलाकार न होकर चौड़े (वर्गाकार) (११) आसन की (बैठी) अवस्था में तीर्थंकर सिंहासन पर विराजमान हैं।

इन विशेषताओं की स्थिति में भी अनेक प्रतीक या वस्तुएँ दूसरे मतों के अनुकरण पर जैन कला में सम्मिलित की गईं। चक्र, वृक्ष, शंख, मत्स्य, सिंह आदि तो सभी धर्मों में समान रूप से संग्रहीत किए गए थे। आसन मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा की चौकी पर चक्र खुदा है (धर्मचक्र)। दोनों भाग में भक्त बैठे हैं तथा दोनों कोने पर सिंह की आकृतियाँ हैं। कालान्तर में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर विचारधारा के अनुकूल जैन कलाकार श्वेताम्बर मूर्तियों को वस्त्राभूषण से सुसज्जित तैयार करने लगे। सिरे पर मुकुट भी दिखलाया गया है। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिरोभाग पर सर्प का छत्र दीख पड़ता है जिससे अन्य तीर्थंकरों से पार्श्वनाथ पृथक किये जा सकें।

इस स्थान पर मथुरा के जैन आयागपट्ट का वर्णन अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। यह चौकोर प्रस्तर पूजा के निमित्त तैयार किया जाता था जिसके मध्य में महावीर की प्रतिमा ध्यान मुद्रा में बनी है और चारों तरफ अष्ट माङ्गलिक चिह्न—स्वस्तिक, शीशा, भस्मपात्र, बेत का आसन, मछलियाँ दो, पुष्पमाला तथा हस्तलिखित पोथी खोदे गये हैं। अमोहिनी के अभिलेख से स्पष्ट हो जाता है कि आयागपट्ट पूजा के निमित्त प्रयुक्त किया जाता था।

इस विवरण से ज्ञात होता है कि भारतीय विचारधारा तथा स्वदेशीय कला शैली से मथुरा की जैन कला-कृतियाँ अनुप्राणित हुई थीं। कुषाण युग में विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों में सहिष्णुता के भाव थे तथा वे नवविद्वेषी भी न थे अतएव ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध कलाओं में अंशतः समानता दिखलाई पड़ती है।

बौद्ध-कला का विकास

आरम्भ में इस विषय का उल्लेख किया जा चुका है कि मथुरा की कला पर मालवा की स्वदेशीय कला का प्रभाव था और यही कारण था कि यक्ष के सदृश विशालकाय अनुपातहीन तथा ग्रामीण ढंग पर प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं। बुद्ध की मूर्ति में भी वही आकार-प्रकार दिखलाई पड़ता है। डा० कुमार स्वामी का कथन है कि भरहुत की प्राचीन कला का प्रतिबिम्ब मथुरा की बुद्ध मूर्ति में दृष्टिगोचर होता है। मथुरा के लाल प्रस्तर की बुद्ध मूर्ति नयी विचारधारा या नई प्रतिमा के महत्वपूर्ण घटना का द्योतक है।

सम्भवतः मथुरा के कलाकारों को प्रारम्भ में बुद्ध तथा बोधिसत्व की भिन्नता का परिज्ञान नहीं था, इसीलिए बुद्ध मूर्ति को बोधिसत्व के नाम से उल्लेख किया गया है। कटरा से प्राप्त बैठी बुद्ध की मूर्ति (बोधिवृक्ष के नीचे) अभिलेख में बोधिसत्व के नाम से उल्लिखित है। इसी प्रकार कनिष्क के तीसरे वर्ष (ई० स० ८१) में सारनाथ में बुद्ध प्रतिमा की स्थापना भिक्षु बल ने की थी। कलात्मक दृष्टि में यह विशालकाय प्रतिमा बुद्ध की है परन्तु लेख में बोधिसत्व खुदा है :—

महाराजस्य कणिष्कस्य सं० ३ एताये पूर्वये भिक्षुस्य।
बोधिसत्वो छत्रयष्टि प्रतिष्ठापितो वाराणसिये॥

तात्पर्य यह है कि गन्धार के सदृश मथुरा के कलाकार बोधिसत्व (बुद्ध की

तरह योगी तथा तपस्वी समझ कर) को राजकुमार के वेष में व्यक्त न कर सके। इस अनभिज्ञता का कोई कारण समझ में नहीं आता। परिस्थितियों के परीक्षण से प्रकट होता है कि गन्धार शैली से मथुरा की कला प्रभावित नहीं हुई। मध्य भारत (भरहुत तथा साँची) की स्वदेशी कला का अनुकरण मथुरा में होने लगा।

मथुरा की बुद्ध प्रतिमा की निजी विशेषताएँ हैं—

(१) मुण्डित सिर तथा उष्णीष का अभाव। उष्णीष के स्थान पर कपर्द्दिन केश दृष्टिगोचर होता है। इसमें केश को ऊपर ले जाकर ग्रन्थि तैयार करते थे। कालान्तर में उष्णीष महापुरुष का लक्षण माना गया। महापदान सूत्त में—'उण्हीस सिसो' का वर्णन आता है। निदान कथा में दो इंच लम्बे केश का वर्णन है जिस आधार पर मथुरा के कलाकारों ने बुद्ध के सिर पर उष्णीष तैयार किया। (२) उर्णा की अनुपस्थिति (३) मूंछ का अभाव (४) दाहिना कंधा वस्त्र रहित (५) खड़ी मूर्ति में दाहिना हाथ अभय मुद्रा में। बाएँ से उत्तरीय के दोनों सिरों को पकड़े। बैठी प्रतिमा में बायाँ हाथ जंघे पर स्थित (६) केहुनी सदा शरीर से पृथक (७) नारी के सदृश छाती (८) गहरा नाभिस्थल (९) वस्त्र में नदी की लहर सदृश प्रत्यावर्तन (१०) प्रतिमा सदा सिंहासन पर बैठी (११) शरीर कोमलता से रहित परन्तु अथक शक्तिपूर्ण (जैसे मल्ल योद्धा) (१२) प्रभामण्डल सादा अथवा परिधि पर अर्द्धवृत्त की बनावट।

कुषाण कालीन मथुरा की प्रतिमाएँ कनिष्क तथा वासुदेव के शासनकाल में भिन्नता रखती हैं। कनिष्क के बाद बुद्ध के दोनों कन्धे वस्त्र (संघाटी) से ढँके दिखलाये गये हैं। बैठी प्रतिमाओं में पैर भी ढँके हैं। जिन मूर्तियों की चौकियों पर शेर की आकृति बनी है वहाँ जानवर जिह्वा बाहर निकाले दिखलाई पड़ता है। स्यात् ऐसी आकृतियाँ हुविष्क तथा वासुदेव के समय में प्रस्तुत हुई। इन बातों का विवेचन प्रतिमा के काल-निर्णय में सहायता करता है। अधिकतर बुद्ध मूर्तियों की चौकियों पर लेख खुदे हैं जो शक-सम्वत् से सम्बन्धित है। उनसे तिथि की जानकारी हो जाती है। कलात्मक प्रवृत्तियों से भी तिथि निर्धारित करने में सहायता मिलती है।

मथुरा के सर्वोत्कृष्ट कला की जानकारी वेदिका के स्तम्भ, सूची तथा उष्णीष की खुदाई से हो जाती है। उनमें मूल विचार तथा अलंकरण का समावेश किया गया है जो भरहुत से अधिक गौरवमय है। उनके अध्ययन से कमल के विभिन्न प्रकार तथा जानवरों के नाना भाँति के आकार (मत्स्य पुच्छिन हस्ति या मकर) का परिज्ञान हो जाता है। भरहुत तथा साँची की शालभञ्जिका का प्रयोग मथुरा की वेदिका पर होता रहा। उसी प्रसग में अनेक स्त्रियों की सामाजिक अवस्था का भी प्रदर्शन किया गया है (स्नान, दर्पण हार शृंगार शुक-सारिका आदि)।

मथुरा भक्ति मत का केन्द्र था। वासुदेव कृष्ण की पूजा होती रही। अति प्राचीन युग की देव प्रतिमा के उदाहरण तो अप्राप्य हैं परन्तु शुङ्ग कालीन बलराम (संकर्षण) तथा कुषाण युग की ब्रह्मा, शिव, (शिव-पार्वती, गणपति, अर्द्धनारीश्वर) विष्णु, सूर्य, दुर्गा (महिषमर्दिनी) सप्तमातृका तथा कुबेर की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं जो कुषाण

काल से सुव्यवस्थित रूप में तैयार होने लगीं। पंचरात्र-भागवत सम्प्रदाय के विकास युग में विष्णु की सुन्दर लावण्यमय, कलात्मक ढंग से प्रतिमा का निर्माण होने लगा। मथुरा केन्द्र गुप्तकाल में भी कार्यशील रहा तथा ब्राह्मण मत की मूर्यियाँ अधिक संख्या में बनने लगीं थीं। शिव, लिङ्ग रूप में (एक मुख, पंचमुख), एकाकिन् (नन्दिकेश्वर) तथा युग्म शिव-पार्वती प्रतिमा रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण देवताओं की प्रतिमाएँ मथुरा में बनीं तथा अन्यत्र भेजी गईं।

बुद्ध-मूर्ति की उत्पत्ति

भारत के धार्मिक तथा कला के इतिहास में बुद्ध प्रतिमा का उद्‌गम महत्वपूर्ण घटना है। विद्वानों में इस बात का मतभेद है कि सर्वप्रथम बुद्धि मूर्ति का निर्माण किस स्थान में हुआ। यह तो विदित है कि पूजन के प्रचार से ही कला में मूर्ति निर्माण होता है। कुषाणयुग में महायान मत का उदय हुआ जिसमें भक्ति की धारा कार्य कर रही थी। कनिष्क के शासन में गन्धार तथा मथुरा कला-केन्द्रों में बुद्ध की प्रतिमायें मिलती हैं जो विभिन्न कलाशैली को लेकर तैयार हुई थीं। गन्धार तथा मथुरा के हजारों बुद्ध प्रतिमाओं में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जो कनिष्क से पूर्व का हो। कुछ विद्वान वीम या मोग के सिक्कों पर अङ्कित प्रतिमा को बुद्ध मूर्ति कहते हैं परन्तु वह कला की कसौटी पर नहीं उतरता। अतएव ईसा पूर्व सदियों में बुद्ध मूर्ति का उद्भव सिद्ध नहीं हो सकता।

इस कथन में दो मत नहीं हो सकते कि महायान शाखा ही बुद्ध प्रतिमा के उद्भव का कारण है। ईसापूर्व सदी में वासुदेव की पूजा का प्रचार मथुरा के भागवत लोगों में प्रचुर मात्रा में था और इसी ने बौद्ध मतावलम्बियों को प्रोत्साहित किया। मथुरा के महाक्षत्रप सोडास के मोर अभिलेख (ईसापूर्व पहली शती) में वृष्णी के पाँच महापुरुष (शूर) के नाम उल्लिखित हैं। उसमें बलराम, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, तथा शाम्ब की गणना होती है। माध्यमिका (नागरी, चित्तौर, राजस्थान) के एक लेख में भी (नारायण वाटक) संकर्षण तथा वासुदेव भगवान कहे गए हैं। इस प्रकार मथुरा के समीप का प्रदेश भागवत मत का केन्द्र था। उसी का प्रभाव है कि बौद्धमत में भक्ति का प्रसार हुआ तथा कला भी प्रभावित हुई। भगवान बुद्ध की मूर्ति इसी भक्तिभावना के कारण तैयार की गई थी।

यद्यपि समाज में बुद्ध के प्रतीकों का समादर होता रहा और प्राणीमात्र उनकी पूजा (आदर) करते रहे किन्तु मनुष्य के आकार में बुद्ध की मूर्ति की माँग पीछे हुई। उस समय के कला का इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। समाज की भावना को उद्‌बोधित कर कला में नई धारा प्रवाहित हुई। कुषाण सोने के सिक्कों पर सुन्दर रीति से ईरानी, भारतीय तथा यूनानी देवताओं की आकृतियों में बुद्ध को भी स्थान मिला। उनमें बौद्धमत से बुद्ध का चुनाव एक महत्वपूर्ण घटना थी। कनिष्क ने बौद्ध प्रतीकों को नगण्य समझ कर बुद्ध प्रतिमा को ही सिक्कों

पर अंकित कराया। इस घटना के पश्चात् कलाकार मनुष्य की आकृति में भगवान बुद्ध की मूर्ति तैयार करने लगे। समाज की छिपी उत्कंठा को साकार रूप दिया गया। उनके आग्रह को स्थगित करना सम्भव न था। बुद्ध के नाना प्रतीकों से लोगों को संतोष न रहा, इस कारण बुद्ध को 'महापुरुष' के रूप में लक्षणों के सहित प्रतिमाबद्ध किया गया। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि मथुरा को छोड़कर गन्धार के समाज में भक्ति-प्रवाह कुण्ठित था। कनिष्क से पूर्व गन्धार में बुद्ध की मूर्ति का कोई उदाहरण नहीं मिलता। भारतीय-यूनानी कला में ब्राह्मण धर्म के विचारों—योगी की अवस्था, भक्ति-भावना, महापुरुष—के लिए कोई स्थान भी न था। अतएव गन्धार की जनता में बुद्ध की अलौकिक प्रतिभा के लिए आदर न था जैसा हम मथुरा में पाते हैं। सर्वास्तिवादिन् लोगों ने भी उस विचार को प्रोत्साहन दिया और मथुरा बुद्ध प्रतिमा का केन्द्र बन गया।

कनिष्क काल में बोधिसत्व की भी प्रतिमाएँ तैयार हुईं। जनता में बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमा में विभेद करना कठिन समस्या थी अतः सारनाथ बुद्ध प्रतिमा को लेख में बोधिसत्व कहा गया है। अस्तु! इस नव-निर्माण का आदर्श भी मथुरा के समीप स्थित यक्षमूर्ति से लिया गया है। कलाकारों ने यक्षमूर्ति का अनुकरण कर बोधिसत्व की प्रतिमा तैयार की जो विशालकाय है। मथुरा की खुदाई में लम्बी चौड़ी बुद्ध की प्रतिमाएँ मिली हैं जिनके परीक्षण से ज्ञात होता है कि यक्ष के आकार को मूल रूप या आदर्श मानकर मथुरा के कलाविदों ने बुद्ध मूर्ति तैयार की। गन्धार तथा मथुरा के बुद्ध में कोई समानता नहीं है। अतएव यह सुझाव रक्खा जा सकता है कि उन दोनों स्थानों में बुद्ध मूर्ति का उद्भव स्वतंत्र रूप में हुआ तथा पारस्परिक प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

अध्याय ४

गुप्त-कालीन भारतीय कला

कुषाण कालीन मथुरा कला में धार्मिक प्रतिमाओं (Cult images) का पूर्ण रूप से आरम्भ हो गया था। क्रमशः विकसित होकर गुप्तकाल में पराकाष्टा को पहुँच गया। मथुरा भारतीय कला का विकसित केन्द्र था अतएव ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध मूर्तियों का निर्यात सर्वत्र होने लगा। मथुरा की अर्द्धनग्न यक्षिणी के लिए गुप्त युग में स्थान न मिल सका और उस प्रकार के वासना युक्त प्रदर्शन को समाप्त कर देना श्रेयस्कर समझा गया। आंशिक रूप में भी गुप्त कलाकारों को इस प्रकार के प्रतिमा-निर्माण में प्रोत्साहन न मिल सका। गुप्त युग की दार्शनिक परम्परा में पूर्ववर्ती कलाशैली को ग्रहण करने में कठिनाई थी। कुषाण युग की बुद्ध मूर्तियों में बाह्य शक्ति का प्रदर्शन था। मध्यभारतीय ढंग की विशालकाय प्रतिमा अग्राह्य थी। विशेषतः गुप्त काल में अन्तः शक्ति की विजय दीख पड़ती है।

यद्यपि इस काल में यत्र तत्र बाह्य तथा आन्तरिक शक्ति का आंशिक सम्मिलन भी दृष्टिगोचर होता है किन्तु माँसल शरीर पर अन्तःकरण (शक्ति) का विजय स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। धार्मिक परम्परा की मान्यता गुप्त युग तक अक्षुण्ण बनी रही। किन्तु मथुरा कला के विचार का समादर गुप्त काल में न मिल पाया। गुप्त नरेश परम वैष्णव तथा आदर्शवादी थे। कला की उच्चतम सीमा, कुशलता की पराकाष्टा तथा कलात्मक ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट कल्पना एवं उदाहरण हमें गुप्त-कला कृतियों में मिलती है। गुप्त कला अपने लावण्य एवं सुन्दरता, माधुर्य तथा गौरव के लिए विख्यात है।

भारतीय कला के इतिहास में गुप्त शैली को अद्वितीय स्थान दिया गया है। इसी युग के कलात्मक अभिरुचि का समादर एवं स्वागत कालान्तर में भी हुआ। कई सदियों तक वह स्फटिक के सदृश चमकती रही तथा गुप्त शैली सर्वव्यापिनी हो गई।

पाँचवी सदी से जिन मूर्तियों का निर्माण हुआ उनमें अध्यात्म-परक प्रवृत्तियों को ध्वनित करने की विशेषता दृष्टिगोचर (परिलक्षित) होती है। मूर्तिकला के सौन्दर्य सृजन के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कराने की प्रक्रिया इसी युग से आरम्भ हुई। कलाकारों ने लावण्य, सूक्ष्मता तथा मधुरता को अपनी कृतियों ने समाविष्ट किया है। प्रकृति में जो कुछ सत्यं, शिवं और सुन्दरम् है, उसकी परख करने में गुप्तकालीन कलाकारों को पूरी सफलता मिली है।

गुप्त युग की काव्य रचना तथा कला प्रवृत्तियों में घनिष्ट सम्बन्ध है। काव्य एवं कला का निर्माण समानान्तर रूप से विभिन्न क्षेत्रों में होता रहा। गुप्तकालीन मूर्तियाँ काव्य की भाँति ही अपनी प्रसाद पूर्ण शैली से मानव को आकर्षित करती हैं।

उदाहरणार्थ काव्य में वर्णित वस्त्राभूषण तथा अजन्ता गुहा के भित्तिचित्रों में प्रदर्शित आभूषण सामग्रियों में विषमता नहीं दीख पड़ती। गुप्त कला की श्रेष्ठ कृतियों ने इसे राष्ट्रीयता का रूप प्रदान किया तथा पूर्ववर्ती मथुरा केन्द्र को भी प्रभावित किया। इस युग की तक्षण कला में जीवन प्रवाहित होने लगा। स्थिरता स्पन्दन में बदल गयी। यदि कहा जाय कि पार्थिव शरीर को अन्तःकरण ने आक्रान्त कर दिया तो अत्युक्ति न होगी। कला के क्रमिक विकास में गुप्त कला को सर्वोच्च स्थान मिला और यह युग 'स्वर्ण-काल' के नाम से विख्यात हुआ।

गुप्तकला की विशेषता यह है कि वास्तु कला के साथ ही इसका विकास हुआ। मथुरा तथा अमरावती में जिस विचार को लेकर कलाकृतियाँ सामने आईं, गुप्त युग में उन्हें पुष्पित नहीं पाते। गुप्त-कला की मूलभित्ति मनुष्य की आकृति मानी जाती है। मथुरा तथा अमरावती के स्तम्भ पर यक्ष तथा यक्षिणी पृथक रूप से खड़े दीख पड़ते हैं। भरहुत तथा साँची-तोरण पर मनुष्य-आकृतियाँ लता एवं पुष्प (पत्ते तथा पुष्प) से घिरी खोदी गई है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से विदित होता है कि गुप्त युग के आरम्भ से मनुष्य की आकृति तक्षण कला सम्बन्धी अलंकरण का एक अंश हो गई जिसे कलाकारों ने स्पष्ट कर दिखाया। उदाहरण के लिए गंगा यमुना की आकृतियाँ मन्दिर द्वार के पार्श्व प्रस्तर (चौखट) पर दोनों ओर खुदी हैं जिनका पृथक मूर्तियाँ भी प्रकाश में आई हैं। यद्यपि गुप्तकाल में मथुरा के सदृश आकृतियाँ बोध गया, कसिया तथा सारनाथ से मिलती हैं किन्तु गुप्त कला की सुन्दरता, विचार का रसास्वादन और आन्तरिक रमणीयता का परिज्ञान ब्राह्मण तथा बौद्ध कला कृतियों के निरीक्षण से हो जाता है।

गुप्त कला ने सुन्दर उदाहरणों के द्वारा नयी जागृति पैदा की तथा आनन्द दायक भी सिद्ध हुई। तत्कालीन कलात्मक नमूनों में विभिन्न पद्धति का आलम्बन पाया जाता है किन्तु सभी में एक मर्यादा का निर्वाह किया गया है। बाह्य और आन्तरिक सुन्दरता का एक अजीब मिलन दिखलायी पड़ता है। कलाकारों ने प्रस्तर को गली धातु के रूप में व्यवहार किया (यानी जिस प्रकार की प्रतिमा चाही वैसे तैयार की) उसे स्थायी कला का रूप दिया ताकि अगली शताब्दियों के कलाकार उससे शिक्षा ग्रहण कर सकें। मथुरा के समान सारनाथ तथा मनकुंवार बुद्ध की प्रतिमाएँ जिस बहिरंग शारीरिक बनावट को प्रकट करती हैं उससे कहीं अधिक सुन्दरता लिए ध्यानावस्थित सारनाथ बुद्ध-मूर्ति है। चेहरे से गम्भीरता एवं मनन चिन्तन के भाव प्रकट होते हैं। आध्यात्मिक विचार से उस मूर्ति को सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि गुप्त युग से पूर्व स्थूल शरीर, वासना पूर्ण आकृति के स्थान पर कलाकारों ने सूक्ष्म भावना, पारलौकिक विचार और विवेक युक्त बुद्ध की प्रतिमाएं तैयार की, जो गुप्त काल का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अन्य कलाकेन्द्रों की तरह गुप्त युग में सारनाथ इस काल का प्रधान केन्द्र था। सारनाथ का प्राचीन नाम मृगदाव था जहाँ गौतम बुद्ध ने प्रथम प्रवचन किया था। धर्मचक्र परिवर्तन बुद्ध के जीवन की एक महान घटना है। इसके ऐतिहासिक महत्व

को ध्यान में रखकर धर्मचक्र तथा दो मृग की आकृतियाँ इस स्थान की द्योतक मानी गई हैं। अशोक के सारनाथ के स्तम्भ-शीर्ष के ऊपरी भाग में धर्मचक्र को ही स्थान दिया गया था। इस स्थान की पवित्रता के कारण ही कनिष्क के शासन काल में (ई० स० ८१) बुद्ध की विशाल प्रतिमा भिक्षु बल द्वारा स्थापित की गई थी। सम्भवतः इस स्थान की प्राचीन परम्परा ने गुप्त कलाकारों को बाधित किया और सारनाथ कला-केन्द्र के रूप में परिणत हो गया।

वाराणसी के समीप चुनार की पहाड़ियों से सफेद बालूदार प्रस्तर लाकर अशोक काल से ही शिल्प-कार्य सम्पन्न होता रहा। इसी कारण अशोक के स्तम्भ बालूदार प्रस्तर के बने थे तथा गुप्तकालीन कलाकृतियाँ उसी रंग की हैं। जैसा कहा जा चुका है कि काव्य एवं कला निर्माण में सामंजस था तथा उन्नति की उच्चतम श्रेणी ने ही गुप्त युग को 'स्वर्ण-काल' का नाम सार्थक बनाया। साहित्य सृजन में पुराणों का अन्तिम संकलन तथा दर्शन की व्यापक विचारधारा ने ही गुप्त कला दृढ़ता पूर्वक प्रभावित किया। यही कारण था कि मथुरा कला का गुप्त कलाकारों ने अनुकरण नहीं किया। उनका वास्तविक श्रोत साहित्यिक चेतना थी। कुषाण कालीन जिस बुद्ध प्रतिमा में स्थूलता तथा भारीपन था गुप्त युग की उसी बुद्ध मूर्ति में कोमलता, मधुरता, अन्तःकरण की शक्ति, चिन्तन एवं मनन की अभिव्यक्ति थी। भारत के तपस्वी, योगी के चिन्तन-मुद्रा को बौद्ध कलाकारों ने अपनाया और सारनाथ बुद्ध को प्रकाशमान, दिव्य, समाधिस्थ, साँसारिक विषयों पर विजयी तथा आत्मैकाग्रता का स्वरूप दे दिया। ईसवी सन् की चौथी सदी से लेकर मध्य युग तक ऐसी बुद्ध प्रतिमा की प्रधानता थी जिसे सारनाथ परम्परा (Sarnath tradition) का नाम दिया गया है।

सारनाथ बुद्ध प्रतिमा सर्वोच्च श्रेणी की मानी जाती है। इसके विकास में ऐसा कहीं दोष दिखलाई नहीं पड़ता। ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता।

सारनाथ शैली

इस कला शैली की निम्न विशेषताएँ हैं।

(१) प्रतिमा अत्यन्त स्पष्ट तथा सुसंस्कृत रूप में तैयार होती रही। अंगों के स्वच्छ आलेखन के लिए वह प्रतिमा प्रसिद्ध है।

(२) घुँघराले बाल एवं उष्णीस।

(३) उर्णा का सर्वत्र अभाव।

(४) दोनों कन्धे संघाटी से आच्छादित।

(५) पारदर्शी (उत्तरीय) वस्त्र।

मध्य युग तक ऐसे वस्त्रों का प्रयोग पाया जाता है जो हर्ष चरित (उ० ४) में सर्प केंचुल के समान, फूंक से उड़ने वाले, हलके तथा पारदर्शी कहे गये हैं। स्पर्श मात्र से ही (स्वर्शानुमेयं) उनका ज्ञान होता है।

(६) हाथों की विभिन्न मुद्राएँ।

बैठी प्रतिमा का हाथ धर्मचक्र परिवर्तन, व्याख्यान या भूमिस्पर्श मुद्रा में दीख पड़ता है। खड़ी मूर्ति में अभय तथा वरद मुद्रा की अभिव्यक्ति मिलती है।

(७) प्रभामण्डल पूर्णतः अलंकृत है।

(८) प्रतिमा चौकी कमलासन अथवा सिंहासन के रूप में।

सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा चौकी पर चक्र तथा दो मृग की आकृतियाँ वर्तमान हैं। दाहिनी ओर पांचभिक्षुओं (उरुबेला में तपस्या करने वाले) तथा बाँयी तरफ दान देने वाली स्त्री की आकृत्ति खुदी है।

(९) प्रतिमा के नेत्र नीचे की ओर आधे खुले हैं जिससे एकाग्रता तथा मनन की भावना व्यक्त होती है।

ऊपरि लिखित विशेषताओं से युक्त सारनाथ बुद्ध प्रतिमा भारतीय कला में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। गुप्तकाल से पूर्व मनुष्य की आकृति को अलंकरण का भाग समझते थे। पुष्पलता के साथ वह मनुष्य दिखलाई पड़ता है। साँची तोरण पर दो पट्टियों के मध्य मनुष्य की खड़ी आकृति बनाई गयी थी जिसका कोई प्रभावशाली स्थान न था। गुप्त काल में मनुष्य के स्वरूप में दैवी मूर्ति की कल्पना हुई, जिस कारण वह कलाकारों का ध्यान आकर्षित कर सका। मथुरा की बुद्ध मूर्ति में पवित्र का भाव का आरोप नहीं किया जा सका किन्तु सारनाथ में बुद्ध मूर्ति को अलौकिक स्वरूप देकर ऊँचे तपस्वी के रूप में रूप दिया गया। आधी आँखें बन्द किए चिन्तन में तल्लीन बुद्ध सुन्दरता, कोमलता तथा स्वच्छता की अद्वितीय मूर्ति है।

प्रस्तर का प्रयोग

गुप्त युग की कला कृतियों के परीक्षण तथा अवलोकन से पता चलता है कि चुनार प्रस्तर के अतरिक्त सिकरी लाल प्रस्तर का प्रयोग उस काल में मथुरा के कलाकार करते रहे। कसिया तथा मनकुँआर से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा मथुरा शैली की है। सारनाथ शैली के अनुकरण पर मथुरा में भी प्रतिमा निर्माण हुआ। परन्तु लाल प्रस्तर तथा वस्त्र के आवर्तन से प्रकट होता है कि अमुक बुद्ध मूर्ति मथुरा केन्द्र में निर्मित हुई है।

मालवा तथा काठियावाड़ पर गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य ने विजय किया था। इसी कारण उसके शासनकाल में उदयगिरि (भिलसा के समीप) पर्वत पर ब्राह्मण प्रतिमाएँ खोदी गई, जिसे 'मालवा-रीति' का अनुसरण कहना उचित होगा। बराह की विशाल प्रतिमा एवं शेषशायी की लम्बी मूर्ति यक्ष के भारीपन का स्मरण दिलालाती हैं। तात्पर्य यह है कि गुप्त युग की भावना को लेकर स्थानीय कलाकार अपना कार्य करते रहे। पूर्व प्रचलित (स्थानीय) रीति का अनुकरण मात्र गुप्त कला में किसी प्रकार का स्थायी परिवर्तन न ला सका।

वैष्णव मूर्तियाँ

गुप्त सम्राट वैष्णव धर्मानुरागी थे। अतएव परम भागवत की पदवी में विभूषित किए गए। उन्होंने बलपूर्वक वैष्णव प्रतिमा निर्माण के लिए किसी को बाधित

नहीं किया परन्तु विचार के परिवर्तन से पौराणिक कथानक के प्रभाव तथा वैष्णव मत के राजकीय धर्म हो जाने पर हठात् कलाकार ब्राह्मण मूर्तियों की खुदाई में लग गए। पौराणिक अन्धविश्वास तथा अवतारवाद की कल्पना वैष्णव कला को अनुप्राणित किया। विष्णु भगवान् के विभिन्न अवतार-प्रतिमा के अतिरिक्त शिव की मुख-लिङ्ग मूर्तियाँ सुन्दर ढंग से तैयार की गई। मध्यभारत के नागौद तथा खुजराहो के भू भाग से अत्यन्त स्वच्छ तथा कलापूर्ण मुखलिङ्ग उपलब्ध हुए हैं। विद्वानों का मत है कि गुप्त युग से लिङ्ग पूजा का स्वरूप परिवर्तित हो गया। उसका प्रचार प्रायः समाप्त हो गया और एक मुख अथवा चतुर्मुख शिवलिङ्ग प्रतिमाएँ पूजित होने लगी। कालान्तर में उसी को प्रमुख शिवमूर्ति में परिवर्तित कर दिया गया।

इस प्रसंग में इस विषय का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्राह्मण प्रतिमाओं को गुप्तकलाकारों ने कथानक या किसी वृत्तान्त से सम्बन्धित किया था। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर एवं उसकी खुदाई तथा नर-नारायण का संभाषण उसी के उदाहरण माने जा सकते हैं। सम्भवतः उस पर दार्शनिक विचार का प्रभाव हो किन्तु वृत्तान्त मय धार्मिक विषय का विस्तृत प्रदर्शन तत्कालीन खुदाई की नयी घटना थी। यदि जातकों के प्रदर्शन की चर्चा की जाय और सूक्ष्म रूप से इनके प्रभाव का अध्ययन किया जाय तो असंगत न होगा। ईसवी पूर्व सदियों में बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाएँ कही गई तथा प्रदर्शित की गई थीं। गुप्त कालीन ब्राह्मण कला में बौद्ध कला के सदृश प्रदर्शन रीति का अनुकरण अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

इन सभी प्रकार के कृतियों पर ध्यान रखते हुए यह कहना सर्वथा उचित है कि गुप्त कला में मानवीय शरीर सौन्दर्यपूर्ण था। अण्डाकार चेहरा, धनुषाकार ललाट, नीम पत्तियों के सदृश भौहें, खंजन या मीन की आँखें, शुक नासिका, कम्बुग्रीव, विस्तीर्ण वक्षस्थल, कटिस्थल पतला, गजतुण्ड स्कन्ध तथा कदलि वृक्ष के समान हाथ आदि सभी लक्षण गुप्त कालीन देव प्रतिमा में वर्तमान हैं।

मगध-शैली का उद्गम तथा विकास

छठीं सदी के पश्चात् भारत के विभिन्न धर्मों में सामयिक परिवर्तन आने लगे थे। बौद्ध मत में तीसरे यान-वज्रयान का उद्गम हुआ और उससे कला में आमूल परिवर्तन हो गया। इस मत का नालंदा (मगध) केन्द्र था अतएव कला ने मगध में नया रूप धारण किया। इस नयी शैली को 'मगध शैली' अथवा 'पाल-स्कूल' कहते हैं। मगध पाल वंशी नरेशों के अधिकार में था जिन्होंने वज्रयान का संरक्षण किया। इनके प्रोत्साहन से बड़े विशाल बौद्ध विहार बनाये गये और कला की भी अनवरत सेवा होती रही। अतः तत्कालीन कला मगध या पाल स्कूल के नाम से विख्यात हुई। अन्य कला केन्द्रों के समान मगध में काले चिकने प्रस्तर (कसौटी) का प्रयोग होने लगा, जो राजमहल की पहाड़ी से उपलब्ध होता है। इस शैली की विशेषता यह थी कि प्रस्तर के एक ही ओर खुदाई होती थी और उसके विपरीत पीठ का प्रस्तर ऊँचा नीचा रहता और उसे चिकना करने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। कलाकार सदा समकोण या चतुर्भुज आकार को प्रस्तर का प्रयोग करते थे जिसका ऊपरी भाग

क्रमशः नुकीला बनाया जाता था तथा दोनों किनारे एक स्थान पर मिलते दीख पड़ते हैं। इसका कारण यह था कि उपासक वृन्द खुदे भाग के सम्मुख खड़े होकर उस मूर्ति की पूजा करते थे और विपरीत प्रस्तर का भाग दीवाल से सम्बद्ध रहता था। जिस पर दर्शकों की दृष्टि नहीं जाती थी। इस युग से पूर्व शास्त्रकारों ने निश्चित लक्षण निर्धारित कर दिए थे जिसका पालन कलाकार करने लगे। मूर्तिकार को उस नियम का पालन करना आवश्यक था ताकि उसकी कृति का धार्मिक मूल्य निश्चित हो जाय। पाल युग में उस नियम का उल्लंघन होने लगा जिससे कलाकारों को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिल गई। व्यक्तिगत लाभ तथा लोकोपयोगी भावना से कलाविद् काम करने लगे। उस सीमा के अतिक्रमण से एक लाभ यह हुआ कि मानवीय आकृतियाँ स्वाभाविकता से दूर हो गई और आकर्षक ढंग से तैयार होने लगी। इसी आकर्षण के निमित्त मूर्ति के चारों ओर ऐसी प्रभावली तैयार हुई जो मूर्ति पीठ से जोड़ दी गई थी, ताकि दर्शकों का ध्यान प्रतिमा के विपरीत दिशा में न जाय। सम्भवतः यही कारण था कि कालान्तर में मूर्तिकारों ने प्रतिमा की पीठ गढ़ने में तत्परता नहीं दिखलाई। यदि उसका परीक्षण किया जाय तो पार्श्व से मूर्तियाँ चौकोर और पूर्ण रूप में खुदी प्रकट होती हैं किन्तु पीछे से चिपटी दीखती हैं। सभी मूर्तियाँ दोहरे कमलासन पर बैठी या खड़ी हैं। वस्त्र की बनावट में कुछ लहर-सी कटान है। बौद्ध प्रतिमा में मुद्रा यथास्थान दिखलाया गया है। मूर्ति की हथेली तथा तलवा पर कमल पुष्प उत्कीर्ण है जो पाल शैली की विशेषता बतलाता है। पाल-युगी बुद्ध प्रतिमाओं में सारनाथ-परम्परा का पालन किया गया, यानी अधिकतर मूर्तियाँ ध्यान, मनन तथा चिन्तन मय तैयार की गई थीं। ऐतिहासिक गौतम बुद्ध की प्रतिमा निर्माण का यह अन्तिम युग या अवनति काल था। पाल नरेशों ने जिस बौद्ध कला को प्रोत्साहित किया वह तंत्रयान-प्रतिमा (देवकुल) निर्माण से सम्बन्धित है। ध्यानी बुद्ध तथा उनके परिवार की प्रतिमाएँ अनगिनत संख्या में बनने लगी थी। आश्चर्य यह है पाल शासन युग में ब्राह्मण प्रतिमाएँ भी पर्याप्त संख्या में निर्मित हुई। स्यात् ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ बौद्ध प्रतिमाओं से भी अधिक संख्या में बनी थी। पालवंशी लेख यह बतलाते हैं कि धर्मपाल ने विष्णु मन्दिर तथा नारायण पाल ने शैवमन्दिरों का निर्माण किया और अग्रहार भी दिया था।

सुभस्थलमात् देवकुलात् कारित तत्र प्रतिष्ठापित भगवान् नन्न नारायण भट्टार-काय। (खालीमपुर ताम्रपत्र)

श्री नारायणपालदेवेन स्वयं कारित सहस्रायतनस्य (भागलपुर दानपत्र)

वैष्णव कला का प्रभाव

मध्य युग में वैष्णव मत का पूर्वी भारत में अधिक प्रचार था जिसका प्रभाव बौद्ध प्रतिमाओं पर पड़ा। बुद्ध मूर्ति के सिरे पर किरीट-मुकुट स्थापित किया गया तथा प्रतिमा में यज्ञोपवीत को भी स्थान दिया गया। पालयुग में वैष्णव प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि प्रतिमा-निर्माण की दिशा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। ऐतिहासिक महापुरुष गौतम बुद्ध के स्थान पर काल्पनिक यानी ध्यानी बुद्ध तथा

लोकेश्वर की प्रतिमाएँ तैयार हुई जिनका पालयुग से पूर्व बौद्ध इतिहास में कोई स्थान न था। पूर्व मध्यकालीन वज्रयान देवकुल में सर्वथा कल्पित मूर्तियाँ निर्मित हुईं।

इस युग की एक विशेषता यह है कि पाल नरेशों के प्रोत्साहन से नालंदा के भूभाग में धातु-प्रतिमाएँ भी बनने लगी थी। पाषाण मूर्तियों के सदृश धातु मूर्तियाँ अष्टधातु से तैयार की जाती थी। प्रस्तर तथा धातु का विचार पृथक कर दोनों प्रकार की मूर्तियों का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है। कि पाषाण या धातु की मूर्ति-कला में अन्तर न था। कलाकारों ने प्रस्तर की बनावट को धातु में उतार दिया था। तिब्बती लेखक तारानाथ नालन्दा के दो धातुकलाविद् धीमान तथा वीटापाल का नामोल्लेख करता है जिनकी निपुणता के कारण ही नालंदा एवं कुर्कीहर (गया) की धातु-प्रतिमाएँ भारतीय कला में श्रेष्ठतम मानी जाती हैं तथा उत्तरी भारत में अद्वितीय हैं। दक्षिण के चोलकालीन धातु मूर्तियों से उनकी थोड़ी तुलना की जा सकती है। यद्यपि प्रतिमाएँ विभिन्न मतों बौद्ध तथा शैव— से सम्बन्धित थी पर धातु कला में उच्चतम मानी जाती है।

सातवीं सदी की प्रतिमाओं में तिथि का अंकन नहीं मिलता परन्तु उनकी बनावट की रीति के आधार पर तिथि निश्चित की गई है। आठवीं सदी में उत्तरी भारत में राजनैतिक परिस्थिति के कारण मगध में जो कला शैली विकसित हुई उसका अपना स्थान है तथा स्थानीय विशेषताओं को लेकर पल्लवित हुई। गंगा यमुना की घाटी में प्रसिद्ध सारनाथ शैली अपने आदर्शवाद को लेकर बिहार तथा बंगाल में फैली। सारनाथ की कोमलता सुन्दरता तथा सुकुमार प्रदर्शन मध्य युग में न हो पाया। उसकी चैतन्यता तथा सूक्ष्मता का ह्रास हो गया। नालंदा की कलाकृतियों में स्थूल तथा भारीपन का बोलबाला था और निरर्थक आभूषण उसे बोझिल करते दीख पड़ते हैं। पूर्व की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ को नियम में बाँधा गया जिसका कोई उद्देश्य न था। पाल-युग में नालंदा शैली में ही परिवर्तन आ गया और कला की अवनति रुक गई। गुप्त कला शैली की परम्परा में नालंदा के कुशल कलाकारों ने पर्याप्त सुधार किया। उन्हें रचनात्मक कार्यों में उन्नति न मिल पायी, पर धातु के प्रयोग में उत्कृष्ट सफलता मिली। पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त नमूने सारनाथ शैली के पूर्वी भारत में विस्तार द्योतक है उनमें अनुपात का अभाव है प्रतिमाओं में भारीपन एवं अशिष्ट भावना स्पष्ट है। पूर्वी भारत के कलाकार दैनिक जीवन के कार्यों से उत्साह ग्रहण कर कला में उस अनुभव को मूर्तिमान कर दिया। यही कारण है कि मध्ययुग की कला समाज तथा राजनैतिक परिस्थितियों से अधिक प्रभावित हुई थी। आठवीं शताब्दी में बारहवीं शती तक जो मूर्तियाँ बनी उनमें कलात्मक अभ्युदय का अभास नहीं मिलता, किन्तु उनका स्वरूप बाह्यतः प्रभावशाली प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि इस युग की कला के प्रति लोगों में उत्साह था परन्तु कलाकृतियों के लिये जिस रस एवं अध्यात्मिक वृत्ति की आवश्यकता थी, उनका अभाव है।

खण्ड : द्वितीय

अध्याय ५

वैष्णव कला की अभिव्यक्ति

भारतीय तक्षण कला का इतिहास दो विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम उपविभाग में प्रस्तर की उस खुदाई का अध्ययन करते हैं जिसमें कलाकार पाषाण की एक ओर किसी विषय की अभिव्यक्ति करता है या घटना का प्रदर्शन करता है। दूसरे उपविभाग में मूर्ति को स्थान देते हैं। कलाकार पाषाण को गढ़ कर एक निश्चित आकार की प्रतिमा तैयार करता है। दोनों कार्यों में कोई आमूल अन्तर नहीं है। प्रथम विभाग में प्रस्तर के एक ही ओर प्रदर्शन मिलता है किन्तु दूसरे में चारों ओर से प्रस्तर को खोद कर प्रतिमा (Sculpture in the round) उपस्थित करते हैं। उसी प्रतिमा-निर्माण का साङ्गोपाग वर्णन प्रस्तुत करने प्रयत्न किया जायगा।

ब्रह्मा का स्थान

ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) में ब्रह्मा को प्रथम स्थान दिया गया है। पौराणिक युग में त्रिदेवों की मान्यता के पीछे सृष्टि के उद्भव और प्रलय की बातों का विचार किया गया था। देवता से ही स्फुरित होकर जगत प्रलय-काल में उन्हीं में मिल जाता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव में से कौन पूज्यतम है, इस समस्या का समाधान पौराणिक काल में ही हो गया था। साधारणतः विष्णु को सर्व्वोच्च देव मान लिया गया (पद्म पुराण, उत्तर खण्ड : अध्याय २८२, भागवत १०, ८९, १५ में विष्णु की श्रेष्ठता का उल्लेख है) विष्णु पुराण के अनुसार भगवान् ब्रह्मारूप से विश्व की रचना करते हैं। विष्णुरूप से पालन करते हैं तथा शिव रूप से संहार करते हैं। वायु पुराण में त्रिदेवों के पारस्परिक सम्बन्ध की मनोरम गाथा मिलती है। इसके अनुसार प्रलय काल में केवल एक देव विष्णु की ही सत्ता रहती है (वा० पु० २४, १-३०)।

वैदिक साहित्य में इस देवता के विभिन्न रूपों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मा को प्रजापति कहा गया है वैदिक मन्त्रों में यह सभी जीवों का उत्पादक के रूप में उल्लिखित हैं तथा उसे पालक (भर्तः) भी कहते थे। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति (ब्रह्मा) ने मत्स्य, कच्छप तथा वराह का रूप धारण किया था किन्तु महाभारत तथा पौराणिक युग में ब्रह्मा का वह स्थान न रहा। भागवत के अनुसार ब्रह्मा तथा शिव दोनों ही परमात्मा (विष्णु) में विराजमान हैं। त्रिदेवों में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है (भागवत १०।८९।१५) अतः इस पुराण में ब्रह्मा के द्वारा विष्णु के पद-प्रक्षालन का उल्लेख है। यही जल गंगा जल के रूप में प्रवाहित हुआ जिसे शिव ने अपने मस्तक पर धारण किया था। (वही १, १८, २१) वायु पुराण में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मा कृतयुग में पूजित होते थे। यद्यपि मूलतः

त्रिदेवों में सौहार्द तथा एकता की भावना निहित है; परन्तु पद्मपुराण के अनुसार ब्रह्मा का पक्ष उपेक्षित सा रहा।

एकमूर्तिः त्रयो देवा ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः।
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥ (भूमिखण्ड ७१।२०)

पौराणिक युग में वैदिक प्रजापति का स्थान विष्णु ने ग्रहण कर लिया। इसी कारण शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित मत्स्य, कच्छप तथा वराह के स्वरूप को विष्णु से सम्बन्धित कर दिया गया। अवतारवाद इन्हीं रूपों से आरम्भ होता है। अतएव यह कहना उचित होगा कि कालान्तर में ब्रह्मा के पूजन का ह्रास होने लगा और ब्रह्मा को विष्णु से निम्न कोटि के देवता मानने लगे। शेषशायी विष्णु के नाभिस्थल से उत्पन्न कमल से ब्रह्मा की कल्पना उनकी अवनति दशा को व्यक्त करता है। उदयगिरि गुहा (भिलसा के समीप) में शेषशायी विष्णु उसी का द्योतक है। कथानकों में वर्णन आता है कि अमुक असुर को ब्रह्मा से वरदान मिल गया और उसी के बल पर असुर गण यज्ञ को विध्वंस करने में लग जाते थे। सम्भवतः ऐसी घटनाएँ भी ब्रह्मा के पूजा से लोगों की विरक्ति का कारण हो सकती है और क्रमशः समाज में ब्रह्मा का स्थान एवं लोकप्रियता गिरती गयी। पौराणिक उपाख्यानों में विष्णु तथा शिव प्रधानतया वर्णित दीख पड़ते हैं। उनकी प्रमुखता ब्रह्मा की तुलना में उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि छठी सदी में वराहमिहिर ने शिव, विष्णु तथा सूर्य प्रतिमा की ही स्थापना के लिए विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

सीमित क्षेत्र में ब्रह्मा का उल्लेख मिलता है (यानी वेदों में पारंगत व्यक्ति ही ब्रह्मा की पूजा कर सकता है) यानी उनकी लोकप्रियता घटती गई। त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) के कार्यों के अनुशीलन तथा प्रतिमाओं के परीक्षण से यह अनुमान युक्तिसंगत होगा कि जीवन के तीन के तीन प्रमुख आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य तथा सन्यास—की कल्पना त्रिदेवों में अन्तर्हित है। ब्रह्मा की मूर्ति (ब्रह्मचारी के समान) कमण्डलु, श्रुवा, मृगछाल, पुस्तक आदि वस्तुओं के सहित तैयार की गई। ब्रह्मचारी पचीस वर्ष की आयु तक यज्ञ करता, मृगछाल धारण करता तथा वेदाध्ययन में संलग्न रहता था। उसकी सारी वस्तुएँ ब्रह्मा के हाथों में दिखलाई पड़ती हैं। गृहस्थ समाज में रहकर प्राणिमात्र का पालन करता है। इसी कारण सारे आश्रमों में गृहस्थाश्रम प्रमुख माना गया है। क्योंकि ब्रह्मचारी तथा सन्यासी उसी के पास भिक्षा माँगने आते हैं। गृहस्थ के सदृश विष्णु का मुख्य कार्य पालन करना है। शिव की मूर्ति योगी की तरह अर्द्धनग्न मिलती है। सिर पर जटामुकुट है शरीर में भस्म दीख पड़ता है। संन्यासी भी उसी प्रकार रहता है यही कारण है कि संन्यासी शिव को ही अराध्य देव मानते हैं।

ब्रह्म की प्रतिमा का आकार तथा साहित्यिक विवरण में साम्यता नहीं है। ब्रह्मा की दाढ़ी सहित बहुमुखी प्रतिमा का विवरण नहीं मिलता। हंस ब्रह्मा का वाहन है। सूर्य के समान सात हंसों के रथ पर भी ब्रह्मा दिखलाए गये हैं। ब्रह्मा की

प्राचीनतम मूर्ति द्विभुजी तथा चतुर्मुखी प्राप्त हुई है। जिनके चेहरे पर मूंछ तथा दाढ़ी दिखलाई देती है।

भारतीय कला में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। पाँचाल नरेश प्रजापति मित्र के सिक्के पर चतुर्भुजी आकृति खुदी है। कुषाण युगी ब्रह्मा की मूर्ति मथुरा से मिली है जिसमें चार मुख है। उस प्रतिमा में तीनों मुख एक सीध में तथा चार हाथ वर्तमान हैं। ब्रह्मा की प्रतिमा में जटा, दाढ़ी तथा लम्बा उदर दीख पड़ता है। ब्रह्मा का चौथा सिर मध्य मुख से पीछे तैयार किया जाता था। गुप्त युग की प्रतिमा में तीन मुख, (मध्य चेहरा दाढ़ी सहित) तथा दो हाथ वाली प्रतिमा उपलब्ध हुई है। उसका एक हाथ अभय मुद्रा में है। दक्षिण भारत की ब्रह्मा प्रतिमा में अधिकतर चार हाथ हैं। उनमें माला, पुस्तक, कमण्डलु तथा चौथा हाथ वरदमुद्रा में है। तात्पर्य यह है कि प्रस्तर की प्रतिमाओं में एकरूपता नहीं, विषमता है। ब्रह्मा की दो पत्नियाँ—सावित्री तथा सरस्वती—भी कई नमूनों के पार्श्व में उपस्थित हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त ब्रह्मा की धातु प्रतिमाएँ भी मध्ययुग में तैयार हुई थीं। विष्णु तथा शिव-प्रतिमाओं की प्रधानता के कारण ब्रह्मा का स्थान नगण्य हो गया। भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा में निर्मित विष्णु की शयन मूर्ति में ब्रह्मा को गौड़ स्थान दिया गया है। दक्षिण भारत के लिङ्गोद्भव शिव प्रतिमा में ब्रह्मा ऊपरी भाग में खुदे हैं। ऐलेफेन्टा द्वीप की गुहा (बम्बई के समीप) में शिव के कल्याण सुन्दर प्रतिमा (विवाह का प्रदर्शन) का निर्माण कलात्मक ढंग से किया गया है जिसमें पुरोहित के रूप में ब्रह्मा का प्रदर्शन है। सम्भवतः दसवीं शती के पश्चात् ब्रह्मा की पूजा समाप्तप्राय-हो गई। ब्रह्मा के प्राचीनतम मूर्तियों में सरस्वती ब्रह्मा की सहगामिनी के रूप में प्रदर्शित हैं तथा साहित्य में वर्णित भी हैं। किन्तु कलान्तर में सरस्वती को विष्णु की भार्या स्वीकार किया गया। ब्रह्मा की पूजा के अभाव के कारण पंचदेव में उनकी गणना नहीं हुई।

विष्णु-प्रतिमा

ब्राह्मण प्रतिमाओं में विष्णु को महत्वपूर्ण स्थान मिला जो वैदिक युग से आज तक समाज में श्रद्धा एवं भक्ति सहित पूजित होते हैं। मानव की धार्मिक भावना तथा भक्ति के प्रदर्शन निमित्त ही विष्णु की प्रतिमा तैयार की गई। वैदिक युग से वर्तमान काल तक विष्णु के स्वरूप में एकरूपता नहीं मिलती। वैदिक देवताओं में विष्णु की प्रमुखता है तथा विष्णु सौर देवता माने गए हैं। संसार को रश्मियों द्वारा व्याप्त करने के कारण सूर्य विष्णु के नाम से अभिहित होता है। इसी कारण हम आज भी सूर्य-नारायण कह कर सूर्यदेव को सम्बोधित करते हैं। ऋग्वेद का कथन है कि विद्वान् विष्णु के परमपद को आकाश में वितत सूर्य के समान देखते है—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ० १।२२।२०)

वैदिक संहिता में विष्णु सम्बन्धी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना तीन डगों का मापना समझते हैं। उसी में समग्र संसार को विष्णु ने नाप लिया। इस विशिष्टता का प्रतिपादक यह मंत्र नितान्त प्रसिद्ध है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पाँसुरे।

(ऋग् १।२२।१७)

इस मंत्र की व्याख्या विभिन्न रूप से की जाती है। विष्णु के तीन क्रम का सम्बन्ध तीनों लोक—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश-से है। दूसरे मत में तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य की दैनन्दिन परिक्रमा—उदय स्थान, मध्यबिन्दु तथा अन्तस्थान-से है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विष्णु का तृतीय पद आकाश में ऊँचे पर स्थित है। परमपद सूर्य रश्मियों के सदृश ऊँचाई पर से चारों ओर चमकता है। इन्हीं मन्त्रों के आधार पर अवान्तर कालीन वैष्णवमत के अनेक सिद्धान्त अवलम्बित हैं। पुराणों में बलि-वामन की कथा को लेकर त्रिविक्रम भगवान् की वामन प्रतिमा भी तैयार की गई थी।

यज्ञ-संस्था का विकास क्रमशः होता गया और विष्णु की एकता यज्ञ के साथ इतनी घनिष्ट हो गई (यज्ञो वै विष्णु) कि समस्त देवताओं में विष्णु श्रेष्ठ तथा पवित्र-तम देव स्वीकार किये गये।

विष्णु परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः (एतरेय ब्रा० १।१)

इस प्रकार वैदिक साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में वर्णित विष्णु-अवतारों की कथा वेदों से ली गई है। शतपथ (४।२।११) तथा तैतरीय (७।१।५।१) ब्राह्मण में वामन, वराह एवं मत्स्यावतार के कथानक मिलते हैं। शत-ब्राह्मण में देव तथा असुरों में यज्ञभूमि के लिए विवाद का वर्णन आता है। असुरों ने वामन के शरीर के बराबर भूमि देने की वार्ता स्वीकार की। उसी समय वामन पृथ्वी पर लेट गए और इतना शरीर को बढ़ाया कि सारी पृथ्वी ढक गई। इसी तरह वराह तथा मत्स्य का प्रजापति से सम्बन्ध विच्छेद कर विष्णु से जोड़ दिया गया। महाभारत में सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्ष का दाता देव, विष्णु को मानव का रक्षक बतलाया है और कालान्तर में त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश-में विष्णु की प्रधानता मान ली गई। अधिकतर लोग विष्णु के पुजारी हो गये। विष्णु मत की प्रधानता का कारण यह भी था कि इसमें तीनों अलौकिक पुरुषों का समिश्रण पाते हैं। सात्त्वत वंशी क्षत्रियों के अगुआ वासुदेव (कृष्ण) माने गए हैं जिनसे भागवत धर्म की उत्पत्ति का वृतान्त सम्ब-न्धित है। उसमें वासुदेव के साथ वैदिक देवता विष्णु तथा विश्व के परम तत्व नारायण का समिश्रण पाया जाता है। सात्त्वत वंशी वासुदेव-कृष्ण लोगों के आराध्यदेव थे जिनकी भक्ति से मानव का कल्याण होना था। पाँचरात्र ग्रन्थों का कथन है कि भाग-वत धर्म से वेद से ही सम्बद्ध है। पाँचरात्र का सम्बन्ध एकायन शाखा से था तथा इसी मत को कालान्तर में वैष्णव मत (धर्म) का नाम दिया गया, जो पाँचरात्र या भागवत धर्म के नाम से विख्यात हुआ।

व्यूहवाद

भागवत धर्म का उदय वासुदेव कृष्ण से सम्बन्धित है। सात्त्वत वंशी क्षत्रिय वासुदेव (कृष्ण), संकर्षण (कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता) प्रद्युम्न (कृष्ण के पुत्र) तथा अनिरुद्ध (कृष्ण के पौत्र) में देवत्व की भावना आरोपित कर उनके अनुयायी हो गए। अतएव चारों व्यूह (चारों महापुरुषों का उद्‌गम) का नामकरण यादव वंश के महनीय

पुरुषों के आधार पर किया। ब्रह्मपुराण में इस व्यूहवाद के सम्बन्ध में कथन उपलब्ध है कि नारायण ने अपनी मूर्ति को चार भागों में विभाजित किया। उसमें एक निर्गुण तथा तीन सगुण रूप हैं। निर्गुण (१) वासुदेव के नाम से तथा सगुण (२) संकर्षण (३) प्रद्युम्न तथा (४) अनिरुद्ध के नाम से अभिहित किये गये। ब्रह्मपुराण के अनुसार 'वासुदेव मूर्ति' योगियों द्वारा उपास्य तथा गुणों से अतीत होती है। संकर्षण या शेष अपने मस्तक पर पृथ्वी को नीचे से धारण करता है। प्रद्युम्न का कार्य धर्म-संस्थापना तथा प्रजापालन है। चतुर्थ अनिरुद्ध मूर्ति समुद्र बीच सर्प की शय्या पर शयन करती है। यह चतुर्व्यूहवाद भागवतों का विशिष्ट सिद्धान्त है। महाभारत के नारायणीय पर्व में भी इस सिद्धान्त का वर्णन उपलब्ध होता है। आचार्य शङ्कर के परमात्मा के प्रतीकभूत वासुदेव से संकर्षण (जीव के प्रतीक) के उत्पत्ति होती है। संकर्षण से प्रद्युम्न (मन की) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। सम्भवतः पांचरात्रों के इस चतुर्व्यूह के सिद्धान्त की उत्पत्ति ईसा पूर्व द्वितीय शती में हो गयी थी। विद्वानों का मत है कि महाभारत तथा अष्टाध्यायी (८।१।१५) में वासुदेव तथा संकर्षण केवल इन्हीं दोनों के व्यूहों का उल्लेख है। प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की कल्पना अवतार युग की घटना है। परन्तु ऐतिहासिक विवेचन से यह तर्क अमान्य हो जाता है।

भागवत धर्म के उपास्य देव (वासुदेव) का नाम पाणिनि सूत्र (४।३।९८) में आया है। उसके अनुसार वासुदेव के भक्ति करने वाले वासुदेवक कहलाये। यहाँ वासुदेव शब्द से अभिप्राय भगवान् परमेश्वर से है महाभाष्यकार पतंजलि ने भी वासुदेव से क्षत्रिय की संज्ञा नहीं मानी प्रत्युत उसे श्रद्धास्पद भगवान् की संज्ञा दी है। तत्त्वबोधिनीकार भी यही बात मानते हैं। (इति स्मृते वासुदेव परमात्मा एव)। इस परीक्षण का परिणाम यह हो जाता है कि पाणिनि के युग में ही भागवत सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो गई थी। पाञ्चरात्र मत भी नारायणीय पर्व से सम्पन्न शांतिपर्व की रचना से पूर्व का है। डा० भण्डारकर के मतानुसार नारायणीय पर्व की रचना बुद्ध-पूर्व युग की घटना है। अतएव यह मान्य हो जाता है कि पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के प्रधान उपास्य देवता वासुदेव (वासुदेव शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक) की उपासना बुद्ध-युग में प्रचलित थी। वासुदेव के लिए 'भगवत्' शब्द का प्रयोग होता था और उनके अनुयायी भक्त 'भागवत' कहलाए। यानी वासुदेव कृष्ण व्यूहवाद के सर्व प्रथम देव थे जिसका नाम ईसवी पूर्व के लेखों में आता है

अभिलेखों में व्यूहवाद

बेस नगर (विदिसा, मध्यप्रदेश) के स्तम्भ लेख से भागवत धर्म के प्रचार का परिज्ञान हो जाता है। यह लेख इस प्रकार है—

देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं कारिते इअ हेलियोदोरेण भागवतेन।

+ + +

शुंगवंशी राजा भागभद्र के राज्यकाल में यवन दूत हेलियोडोरस ने भिलसा के

के समीप गरुड़स्तंभ स्थापित किया था। लेख में वासुदेव के लिए देवदेवस शब्द का प्रयोग तथा हेलियोदोरस के लिए भागवत की उपाधि स्पष्ट घोषित करती है कि मौर्य-काल के पश्चात् वैष्णवधर्म का प्रचार प्रचुर मात्रा में था। वैष्णवधर्म की उदार दृष्टि के कारण विदेशी जातियों को इस मत स्थान मिला था। श्रीमद्भागवत (२।४।१८) में विभिन्न जातियों का नामोल्लेख है जो भगवान् विष्णु का आश्रय ग्रहण कर चुकी थीं—

किरात-हूणान्ध्र पुलिंद पुल्कसा आभीर कङ्का यवना खशादय
येऽन्ये च पाया यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नम ॥

चित्तौरगढ के समीप 'नगरी' के पास स्थित घोसूंडी का वैष्णव शिलालेख ईसवी पूर्व सदियों में उत्कीर्ण किया गया था जिसमें संकर्षण तथा वासुदेव के पूजा निमित्त शिला-प्रकार (निर्माण) का वर्णन मिलता है। उसे नारायण वाटिका (जिसे बर्तमान समय में नगरी में हाथीवाड़ी कहते हैं) का नाम दिया गया था।

× × +

भगवद्भ्यां संकर्षण वासुदेव सर्वेश्वराभ्यां पूजा-शिला-प्रकारो नारायण वाटिका।
(घोसूंडी का लेख)

ईसवी पूर्व के एक मथुरा प्रशस्ति में वर्णन आता है कि महाक्षत्रम सोड़ास के कोषाध्यक्ष ने (ब्राह्मण वसु) एक चतुःशाला आराम (मंदिर) तोरण तथा वेदिका का निर्माण सम्भवतः वासुदेव के पूजा निमित्त करवाया—(आरामो स्तम्भो इमो शिलापट्टो च)।

उस समय वैष्णव मत का प्रचार मथुरा तथा मध्य प्रांत में ही सीमित न रह पाया। दक्षिण के महाराष्ट्र प्रांत में नानाघाट (पूना के समीप) के लेख में निम्नलिखित वर्णन मिलता है जिस से पता लगता है कि ईसवीपूर्व सदियों में भारत के विभिन्न भागों में व्यूहवाद का प्रचार हो गया था। इसी कारण संकर्षण तथा वासुदेव की पूजा का विवरण लेखों से प्राप्त होता है—

नमो घंमस नमो ईदस नमो संकर्षन वासुदेवानं चंदसूरानं महिमवतानं चतुनं लोकपालानं यम वरुन कुबेर वासवानं नमो (नानाघाट लेख)।

अतएव यह कहना प्रमाणिक होगा कि ईसवी सन् के आरम्भ तक व्यूहवाद का परिज्ञान था। पाँचरात्र संहिता के अनुसार नारायण (परम ब्रह्म) षड्गुणों (ज्ञान शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज) से संयुक्त होने के कारण 'सगुण' हो जाते हैं। उनमें से दो दो गुणों की प्रधानता होने से संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की सृष्टि हुई। वासुदेव को मिलाकर भागवत धर्म को 'चतुर्व्यूह' नाम दिया गया। वासुदेव से ही अन्य तीनों की उत्पत्ति हुई। वासुदेव (परमब्रह्म) से जीव (संकर्षण) उससे मन (प्रद्युम्न तथा अंत में जीवों में अहंकार (अनिरुद्ध) पैदा हुआ। दार्शनिक रूप में 'चतुर्व्यूह' का सिद्धान्त जीवों के कल्याण के लिए उपस्थित किया गया तथा वही पाँचरात्रों का विशिष्ट सिद्धान्त है।

अवतारवाद

वैष्णव मत में अवतारवाद का सिद्धान्त प्रमुख माना जाता है। 'अवतार' शब्द का अर्थ पाणिनि के सूत्र (३।३।१२०) द्वारा स्पष्ट हो जाता है जो ऊँचे स्थान से नीचे उतरने की क्रिया का द्योतक है। पुराणों में आविर्भाव शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। अवतार की सिद्धि दो शाखाओं में मानी जाती है--(१) रूप का परिवर्तन (अपना रूप त्याग कर कार्यवश नवीन रूप ग्रहण करना) तथा (२) नवीन जन्म ग्रहण करना।

पुराणों तथा इतिहास में अवतार की कल्पना का विकास चार प्रकार से व्यक्त किया गया है--(१) भगवान् अपनी दिव्यमूर्ति का परित्याग कर जन्म धारण करते हैं। (२) भगवान् का एक अंश ही धरातल पर अवतीर्ण होता है। (३) अवतार कार्य भगवान् के अर्ध-भाग का विलास है। आधोमूर्ति समुद्री-शय्या से उठकर कार्य के अनुकूल आविर्भूत होती है तथा (४) चौथा मत विशेष रूप से विकसित हुआ जिसमें यह व्यक्त किया गया कि भगवान् की मूर्ति का विभाजन चार रूप से होता है। निर्गुण मूर्ति वासुदेव तथा सगुण मूर्ति संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के नाम से विख्यात हैं। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तथा अधर्म का उदय होता है तब-तब भगवान् विश्व में पैदा होते हैं। इसी को अवतार कहा जाता है।

> यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।
> (गीता ४।३-४)

ज्ञान का वितरण ही भगवान् के अवतार का प्रयोजन है और जीव को मोक्ष प्रदान करना ही अवतार का मुख्य उद्देश्य है। अवतारवाद की कल्पना का बीज ऋग्वेद संहिता में पाया जाता है। प्रजापति ने ही मत्स्य, कूर्म तथा वराह का अवतार लिया था, ऐसा शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है। वराह रूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, १, ३, ५) में भी मिलती है। रामायण में भी (रामा० २।११०) वराह अवतार का वर्णन है। कहने का तात्पर्य यह है कि अवतारों का सम्बन्ध सर्वप्रथम प्रजापति (ब्रह्मा) के साथ मानते थे। किन्तु कालान्तर में विष्णु की प्रधानता तथा विश्व के रक्षक होने के कारण ये सभी अवतार विष्णु के साथ जोड़ दिये गये। केवल वामनावतार का मूल सम्बन्ध विष्णु से था जिसकी कथा शतपथ ब्राह्मण (१, २, ५, १) में वर्णित है। अतएव यह कहना आवश्यक है कि ब्राह्मण साहित्य में वर्णित अवतारों की पूजा की मान्यता न थी।

भागवत सम्प्रदाय के उदय होने पर बलराम-कृष्ण की भक्ति उद्बोधित हुई और तभी अवतारवाद का उत्कर्ष हुआ। वैष्णव ग्रंथों में वासुदेव कृष्ण का नारायण (विष्णु) के साथ ऐक्य स्थापित हो जाने पर पूजा प्रकार का समावेश समाज में हो गया।

अवतार-संख्या

अवतारवाद का सिद्धान्त मान्य होने पर भी अवतार की संख्या सम्बन्धी विचार महाभारत एवं पुराणों में विभिन्न रूप में मिलते हैं। यों तो अवतारवाद का मौलिक-तथ्य गीता की देन है तथापि एक ही पुस्तक में विभिन्न संख्याएँ उल्लिखित हैं। नारायणीय पर्व (शांतिपर्व, अध्याय ३३९) में केवल छः अवतार निर्दिष्ट किये गये हैं। वराह, नरसिंह, वामन, भार्गवराम, दाशरथीराम तथा कृष्ण। इसी अध्याय में (शां० प० ३३९ । १०३-०४) दशावतार के नाम मिलते हैं जिसमें बुद्ध का अभाव है। साधारणतः स्वीकृत दशावतार का निर्देश पुराणों में उपलब्ध है।

वराह पुराण—४।२; ४८।१७-२२
मत्स्य पुराण—२८५।६
अग्नि पुराण—२-१६
पद्म पुराण—६।४३।१३-१५

सर्वत्र भगवान् के अवतारों की संख्या का एक-सा निर्देश नहीं मिलता यानी मतैक्य नहीं है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में अवतारों की संख्या २२ दी है। (१) सनत्कुमार, (२) वराह, (३) नारद, (४) नारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) यज्ञ, (८) ऋषभदेव, (९) पृथु, (१०) मत्स्य, (११) कच्छप, (१२) धन्वन्तरि, (१३) मोहिनी, (१४) नरसिंह, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) वेदव्यास, (१८) रामचन्द्र, (१९) बलराम, (२०) कृष्ण, (२१) बुद्ध तथा (२२) कल्कि।

साधारणतया भगवान के चौबीस अवतार प्रसिद्ध हैं। उपरिलिखित पहले के बाईस नामों में हंस तथा हयग्रीव का नाम द्वितीय स्कन्ध में जोड़ दिया गया है। इस तरस चौबीस अवतार हो जाते हैं। भागवत के दशम तथा एकादश स्कन्धों में अवतारों का वर्णन है जिसके अध्ययन से ऐसा मालूम पड़ता है कि अवतारों की गणना (तरल रूप में होने के कारण) घटायी-बढ़ायी जा रही थी।

यों तो धार्मिक क्षेत्र में भगवान् के असंख्य अवतार मानते हैं। किन्तु आजकल भगवान् के दश ही प्रचलित अवतार माने गए है। अग्निपुराण (२-१६) का क्रम तथा संख्या वराह, मत्स्य तथा पद्म पुराणों में भी मिलती है जो निम्न प्रकार से है :-

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथवामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ॥

अवतारों के नामोल्लेख तो ईसा पूर्व सहस्रों वर्ष में मिले हैं किन्तु इस संख्या का नियमन गुप्तकाल में ही हुआ। वास्तव में यह अनुशीलन का विषय है। परन्तु बारहवीं सदी तक तो पूर्णरूपेण दशावतार का नियमन हो चुका था। यही कारण है कि जयदेव ने 'गीतगोविंद' के प्रथम सर्ग में इसी दशावतार की स्तुति की और क्षेमेन्द्र ने 'दशावतार-चरित' महाकाव्य में अवतारों का विस्तृत चरित निबद्ध किया था।

दशावतार की कल्पना में बुद्ध का समावेश किस समय हुआ, यह प्रायः निश्चित

नहीं है। परन्तु इसका अनुमान लगाया जा सकता है। अष्टम शती के विद्वान कुमारिल ने तंत्रवार्तिक (जैमिनी सूत्र १।३।७) में लिखा कि पुराणों में धर्म का लोप करने वाले शाक्य गौतम का चरित वर्णित है। यानी लेखक ने बुद्ध की निन्दा की। इससे प्रकट होता है कि आठवीं सदी में गौतम बुद्ध अवतार के रूप में स्वीकृत नहीं हुए थे। किन्तु कालान्तर में बुद्ध को अवतार परिगणित कर लिया गया। जयदेव (११५० ई०) के गीतगोविन्द में (केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे) क्षेमेन्द्र के (१०६६ ई०) दशावतार चरित में तथा अपरार्क (याज्ञवल्क्य के टीकाकार ११०० ई०) द्वारा मत्स्य पुराण (अ० २८५ श्लोक ७) के उद्धरण में दश अवतारों का नाम स्पष्टरूप में उल्लिखित है। इन सभी स्थानों पर बुद्ध अवतार के रूप में वर्णित हैं। अतएव विभिन्न पुराणों में उपलब्ध बुद्ध संवलित दशावतार की कल्पना (मत्स्य, कच्छप, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि) एकादश शती तक स्वीकृत हो चुकी थी।

अवतार के इस क्रमबन्ध के भीतर एक वैज्ञानिक रहस्य है। धार्मिक जगत में यह सर्वमान्य है कि भगवान् को कोई एक विशिष्ट योनि अभीष्ट नहीं है। छोटी से लेकर ऊँची योनि में पैदा होते हैं। दूसरा मार्मिक तथ्य यह है कि इस क्रम में वैज्ञानिक विकास सिद्धान्त का तत्त्व भी छिपा है। सृष्टि के विकास का क्रम लघुकाय जीवों (One cell) से आरम्भ होता है और क्रमशः दीर्घकाय प्राणियों में (Multi cellular) आविर्भूत होता है। सृष्टि की रचना जल से आरम्भ हुई। जिसका प्रतीक मत्स्य है। इसके अनन्तर स्थलीय जीवों का विकास हुआ। जमीन पर रहने वाले प्राणी का प्रतीक वराह (शूकर) माना गया है। विशुद्ध मानव की उत्पत्ति से पूर्व प्राणी में पशुत्व तथा मनुष्यत्व दोनों का मिश्रण रहता है। वही नरसिंह अवतार है। नरसिंह के पश्चात् लघुकाय वामन मानव का प्रतिनिधि है। दाशरथी राम हमारे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं जिसमें हम मानव के जीवन की समग्र मर्यादाओं का विकास पाते हैं। बलराम के ऊपर बल का अधिक आग्रह रखते हैं तो बुद्ध में बल का प्रयोग न होकर करुणा, मैत्री एव कृपा की अधिकता पाते हैं। इन सभी बातों से एक व्यक्ति दूसरे को अपने में वश में कर लेता है। अस्तु। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अवतारवाद सृष्टि के विकास का द्योतक हो जाता है।

साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विष्णु के आद्य पाँच अवतारों का स्रोत वैदिक साहित्य में मिलता है। अन्तिम दो बुद्ध तथा कल्कि अवतारों का स्रोत वेदों में नहीं है। बीच के तीन—परशुराम, राम तथा कृष्ण या बलराम-अवतारों के सम्बन्ध में वेदों में पर्याप्त पोषक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इतिहास के विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि कुमारिल तथा शंकर ने बौद्धधर्म को भारत से निकाल भगाया। उनका कथन था कि बौद्धधर्म कलियुग में विप्लव मचाने वाला है। पौराणिकों के सामने यह विकट समस्या थी कि वैदिक यज्ञों के निन्दक तथा वेद को प्रमाण न मानने वाले बुद्ध को अवतारों में कैसे परिगणित किया जाय? परन्तु अवतारों के बीच बुद्ध को स्थान देना सामान्य साहस का काम न था। किन्तु वेदविरोधी तथा भ्रान्त-

जनता को वैदिक धर्म में पुनर्दीक्षित करने का एकमात्र यही उपाय था कि धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर अवतारों में बुद्ध की गणना कर ली जाय। आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुराणों ने यही किया। पुराणों के अतिरिक्त कवियों ने भी बुद्ध को नवम अवतार के रूप में वर्णित किया। महाबलिपुरम् (मद्रास) के एक खंडित लेख में भी निम्न वर्णन मिलता है—

.... नारसिंहश्च वामन।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की चतुर्दश॥

इन सभी आधार पर वर्तमान दशावतार (१) मत्स्य, (२) कच्छप, (३) वराह, (४) नरसिंह, (५) वामन, (६) परशुराम, (७) राम, (८) बलराम, (९) बुद्ध एवं (१०) कल्कि, में बुद्ध की गणना नवम शती में अवश्यमेव हो चुकी थी। समाज में विष्णु के दश अवतारों की प्रतिमा-निर्माण का यही साहित्यिक आधार था। उदाहरणार्थ, बुद्ध मूर्ति का उल्लेख अग्नि पुराण (४९।८) में इस प्रकार से किया गया था जैसी प्रतिमा गान्धार में निर्मित होती रही।

शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः।
ऊर्ध्व पद्म स्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः॥

वैष्णव-प्रतिमाएँ

इस विषय की चर्चा पहले पृष्ठों में की गई है कि प्रतीकों को कला में मूर्तियों से पूर्व स्थान मिला था। वैष्णव प्रतिमाओं में भगवान् के प्रतीक शालिग्राम (नर्वदेश्वर) विष्णु के प्रतीक के रूप में पूजे जाते हैं। आज भी यत्र-तत्र मंदिरों में स्थापित मुख्य विष्णु प्रतिमा के साथ शालिग्राम भी अपना स्थान रखते हैं। प्रतीक के अतिरिक्त भगवान विष्णु की प्रतिमा मिश्रित आकार अथवा मनुष्य के रूप में तैयार होने लगी। वैष्णव ग्रन्थों—वैखानसागम, पांचरात्र संहिता एवं पुराण—आदि में भगवान् विष्णु के दो स्वरूपों—व्यूह तथा विभव (अवतार) का वर्णन मिलता है। मंदिरों में प्रतिष्ठित विष्णु प्रतिमा को 'ध्रुवबेर' का नाम देते हैं यानी अचल या स्थायी मूर्ति। गोपीनाथ राव के मतानुसार विष्णु प्रतिमा को चार उप-विभाग में विभक्त किया जाता है—

(१) योग प्रतिमा—जिस विष्णु को योगी पूजा करते हों।

(२) भोग प्रतिमा—साधारण जनता वैभव तथा धन की इच्छा से जिसे पूजा करे वह भोग प्रतिमा कहलाता है।

(३) वीर प्रतिमा—वह विष्णु प्रतिमा जिसे योद्धा, अधिक शक्तिलाभ के लिए पूजा करते हैं।

(४) अभिचारिक—ईर्ष्यावश यदि एक व्यक्ति अपने शत्रु के नाश के लिए जिस प्रतिमा की पूजा करे, वह अभिचारिक विष्णु प्रतिमा कही जायगी।

इन चार प्रकार की प्रतिमाओं में कोई मूलतः विभेद नहीं पाया जाता, किन्तु इस देवता की भुजाओं में स्थित आयुध के स्थान विभेद के कारण उपर्युक्त नाम दिये

जाते हैं। योग की स्थिति में विष्णु प्रतिमा के पिछले दो हाथों में शंख-चक्र रहता है। सामने की बाईं भुजा कट्यावलम्बित स्थिति में तथा दाहिना हाथ वरद मुद्रा में रहता है। भोग प्रतिमा में पिछली दो भुजाओं में शंख तथा चक्र और आगे की भुजाएँ वरद एवं अभय मुद्रा में दिखलाई पड़ती हैं। विष्णु की भार्या श्रीदेवी तथा भूदेवी दोनों तरफ खुदी हुई हैं।

वीर प्रतिमा की भुजाओं में शंख-चक्र स्थित हैं तथा उस विष्णु प्रतिमा के चारों तरफ अनेक देवता–ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र आदि तथा लक्ष्मी और भूदेवी चित्रित हैं। अभिचारिक प्रतिमा का रंग काला है तथा चारों भुजाओं में आयुध वर्तमान हैं। इन चार प्रकारों में विष्णु को स्थानक (खड़ी), आसन (बैठी) तथा शयन (लेटी हुई) मूर्तियाँ निर्मित की जाती थीं। वैखानसागम में इन सभी विभिन्न प्रतिमाओं का वर्णन मिलता है। केवल भोग प्रतिमा का पूजन जनता में लोकप्रिय था। भारत में प्रचलित एवं पूजित विष्णु प्रतिमा के परीक्षण से पता चलता है कि विष्णु को तीन स्वरूपों में कलाकार मूर्तियाँ तैयार करते रहे जिसे अवतार की गणना में रखते हैं।

(अ) पशु आकार

मछली, कच्छप तथा वराह के स्वरूप में मूर्तियाँ मिलती हैं।

इस आकार की खजुराहो मूर्ति एरण वाली (तोरमाण की) वराह प्रतिमा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। मध्ययुगी प्रतिमा के केन्द्र में मनुष्याकार विष्णु की प्रतिमा तथा उस मूर्ति की प्रभावशाली पर विभिन्न अवतारों का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। उसमे मछली तथा कच्छप का भी आकार खुदा हुआ है। यानी कलाकारों ने प्रथम तीन अवतारों के वास्तविक पशु आकार को भी कला मे स्थान दिया था।

(ब) मिश्रित अवतार

दूसरी श्रेणी की मिश्रित प्रतिमा को भी कलाविदों ने कला में स्थान देना उचित समझा। नरसिंह की प्रतिमा तो स्थायी मिश्रित आकार की है—शरीर मनुष्य का तथा सिर सिंह का। किन्तु मध्ययुग में जब वैष्णव मत का प्रचार बढ़ने लगा तथा दशावतार की कल्पना ने समाज में आदर पा लिया तो कलाकारों ने मत्स्य तथा कछुए की मूर्तियों में निचला भाग जानवर (मछली, कछुआ) का बनाया और जंघे से ऊपर मनुष्य का आकार तैयार किया। वराहावतार में सिर वराह तथा शरीर मनुष्य का निर्मित है। यही विष्णु के मिश्रित रूप हैं।

(स) मनुष्याकार प्रतिमा

जिस काल से समाज में मिश्रित प्रतिमा से उपासकों को संतोष न हुआ, कलाविदों ने मनुष्य के आकार में भगवान् विष्णु की प्रतिमा तैयार की। यही कला का सर्वोच्च उदाहरण था। इस स्थान पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि समाज में विष्णु प्रतिमा का पूजन करते समय एक धारणा बन गई कि मनुष्य रूप से (एक सिर, दो हाथ) असुरों का नाश नहीं हो सकता। भगवान् की असीमित शक्ति को

मनुष्य के रूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, अतः कला में विष्णु की बहुमुखी तथा बहुभुजी प्रतिमाएँ तैयार की गईं। पांचरात्र मत के विकास होते समय विष्णु प्रतिमा का विस्तृत प्रदर्शन होने लगा। उस अलौकिक रूप में भगवान् विश्व का संरक्षण कर सकें, ऐसी ही मानसिक भावना ने साहित्य तथा कला को प्रभावित किया। सम्भवतः विष्णु प्रतिमा के चतुर्भुजी स्वरूप में चार हाथों की कल्पना चार दिशाओं, चार उपमाओं अथवा मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ से ली गई थी।

बृहत्संहिता में दो, चार तथा अष्टभुजी विष्णु प्रतिमा का वर्णन मिलता है। चतुर्भुजी प्रतिमा ही प्रधानतः भारत में मिलती है, और चारों हाथों में चार आयुध—शंख, चक्र, गदा तथा पद्म दृष्टिगोचर होते हैं। इन आयुधों का भुजाओं में विभिन्न प्रकार से स्थित होने के कारण ही चौबीस व्यूहों की कल्पना गुप्त युग में की गई थी। ईसवी सन् पूर्व में प्रचलित चार नाम–वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के साथ बीस नए नामों को जोड़कर चौबीस व्यूह का नामकरण हुआ : केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, मधुसूदन, त्रिविक्रम, हृषीकेश, दामोदर, पुरुषोत्तम, अच्युत, हरि आदि। विष्णु की चतुर्भुजी प्रस्तर तथा धातु-प्रतिमाएँ समस्त भारत में प्राप्त हुई हैं। बादामी तथा कांची से अष्टभुजी विष्णु प्रतिमा उपलब्ध हुई है। उन हाथों में चक्र, शर गदा, खड्ग, शंख, खेटक, धनु, आयुधों को छोड़कर एक हाथ कटिहस्त मुद्रा में दिखलाई पड़ता है। मथुरा से भी ऐसी अष्टभुजी प्रतिमा प्रकाश में आई है।

राजपुताना से सोलह भुजावाली प्रतिमा का भी विवरण प्राप्त हुआ है। जहाँ तक बहुमुखी मूर्ति का प्रश्न है, भारत में थोड़ी-सी ही प्रतिमाएँ हैं जो चतुर्मुखी हैं। मथुरा से ऐसी ही खड़ी गुप्तकालीन प्रतिमा उपलब्ध हुई है। जिसे नृसिंह-वराह-विष्णु कहते हैं। सम्मुख विष्णु प्रतिमा के बायीं ओर वराह तथा दाहिनी ओर सिंह का सिर दिखलाई पड़ता है। ऐसी प्रतिमा को विश्वरूप विष्णु भी कहा गया है। चार मुख की आकृतियों में—केन्द्र में मनुष्य, दूसरा सिंह, तीसरा वराह तथा चौथा अदृश्य है। क्रमशः इन आकृतियों से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का बोध होता है। क्रमशः ये ज्ञान, बल, ऐश्वर्य तथा शक्ति के द्योतक है।

इस प्रकार मानव आकार की प्रतिमा तैयार हो जाने पर सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल कलाकारों ने विष्णु की बहुभुजी तथा बहुमुखी प्रतिमा तैयार की।

समस्त विष्णु प्रतिमाओं के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तीन ही दशा में (अ) आसन, (ब) स्थानक तथा (स) शयन प्रतिमाएँ भारत में तैयार हुई थीं।

(अ) आसन (बैठी) मूर्ति

भगवान् विष्णु की एकाकी आसन (बैठी) मूर्ति अत्यन्त अल्प संख्या में मिलती है।

(१) बादामी से योगासन विष्णु की प्रतिमा प्राप्त हुई है। कांची तथा इलौरा से भी वैसी ही योगासन में विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा उपलब्ध हुई है। सिरे पर किरीट, मुकुट तथा शरीर पर यज्ञोपवीत दृष्टिगोचर होता है। कमल के आसन पर योग मुद्रा में बैठी विष्णु की प्रतिमाएँ मथुरा तथा खजुराहो से भी प्राप्त हुई हैं। मथुरा

की विशेषता यह है कि चतुर्भुजी प्रतिमा के दो हाथ ध्यान मुद्रा में दिखलाए गए हैं। पिछले दो हाथों में चक्र तथा गदा है। अन्य दो आयुध कमल तथा शंख क्रमशः प्रभा-मण्डल तथा चौकी के (पीठ) पर खुदे हैं। खजुराहो प्रतिमा में तो बाएँ हाथ की तर्जनी मूर्ति के मुख के समीप खुदी हुई है।

सम्भवतः मूर्ति की अंगुली लोगों का ध्यान शान्ति की ओर आकर्षित करती है। उसके बायीं ओर एक हाथ में चक्र है। प्रस्तरमूर्ति के अतिरिक्त धातुप्रतिमा भी प्रकाश में आई है। कमलासन पर बैठी एक कांस्य (धातु) विष्णु प्रतिमा भी बंगीय साहित्य परिषद, कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है। चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म स्थित है। सुखासन शैली में बैठी इस मूर्ति को 'श्रीधर' का नाम दिया जाता है।

(२) आदिशेष या शेषनाग के गेंडुरी पर बैठी विष्णु की प्रतिमा दक्षिण भारत से प्रकाश में आई है जिसे वीरासनमूर्ति कहते हैं।

(३) बृहत्तर भारत (जावा) से गरुड़स्कन्ध पर बैठी विष्णु प्रतिमा का पता चला है जो चतुर्भुजी है। भारत में इस प्रकार की मूर्ति का अभाव है।

(४) बैठी युग्म प्रतिमा 'लक्ष्मीनारायण' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें विष्णु के जाँघ पर लक्ष्मी आसीन हैं। मध्ययुग में इस तरह की प्रतिमा अधिक संख्या में निर्मित हुई थी।

(ब) स्थानक (खड़ी) प्रतिमा

विष्णु की आसन प्रतिमा पूजा के निमित्त अधिक संख्या में उपलब्ध हुई है। उत्तरी भारत में गुप्तकाल से मध्ययुग तक सफेद तथा काले प्रस्तर की खड़ी मूर्तियाँ मिलती हैं। विष्णु की प्राचीनतम प्रतिमा कुषाणयुग के मथुरा केन्द्र में बनी थी। इसमें एक हाथ अभय मुद्रा में है तथा दूसरे में अमृतघट दिखलाई पड़ता है। अन्य दो हाथों में गदा तथा चक्र स्थित है। विष्णु की अन्य मूर्तियों में मुद्रा का प्रदर्शन नहीं मिलता। इसी कारण विद्वानों की धारणा बन गई है कि यह मूर्ति बौद्ध प्रतिमा (बोधिसत्व) से मिलती-जुलती है और वह परिवर्तन काल का द्योतक है। उसी समय से बौद्धों के समान ब्राह्मण धर्म की मूर्तियाँ तैयार होने लगीं, किन्तु आयुध इसकी विशेषता है। विष्णु के चार आयुधों में गदा तथा चक्र के पश्चात् शंख का स्थान है। पद्म सबसे पीछे समाविष्ट किया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि चौथी सदी के पश्चात् चतु-र्भुजी प्रतिमा में चार आयुध स्थापित किये गये। बैजयन्ती माला को कालान्तर में स्थान दिया गया। उसी शताब्दी से विश्वरूप विष्णु की मूर्ति समाज में आई। गुप्त काल में स्थानक विष्णु प्रतिमा प्रायः चतुर्भुजी मिली है। चारों हाथ में चार आयुध दिखलाई पड़ते हैं। धोती, चादर, शरीर पर अनेक आभूषण तथा किरीट-मुकुट से प्रतिमा सुशोभित है।

आयुध-पुरुष

इस युग की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि विष्णु के दो हाथ होने पर भी

चारों आयुधों का प्रदर्शन सुन्दर रीति से किया गया था। दो हाथों में आयुध शंख तथा पद्म विराजमान हैं तथा दोनों पार्श्व दो मनुष्य में आकृतियों के सिरे पर आयुध दिखलाई पड़ते हैं। गदा (स्त्रीलिङ्ग होने के कारण) को एक नारी उपाकृति के साथ तथा चक्र को पुरुष से सम्बद्ध दिखलाया गया है। इसी को कला में 'आयुध-पुरुष' कहते हैं। किसी प्रतिमा में दोनों आयुध-पुरुषों के सिरे पर विष्णु के हाथ स्थित हैं।

हरिहर प्रतिमा

खड़ी प्रतिमा के प्रसंग में हरिहर प्रतिमा का नामोल्लेख आवश्यक है। इस मूर्ति का दाहिना (आधा) भाग शिव का है। हाथ में सर्प तथा जटा उसके प्रमाण हैं। आधा बायें भाग में विष्णु की प्रतिमा प्रकट होती है। सिरे पर किरीट-मुकुट, हाथ में शंख तथा गले में वनमाल दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु हरिहर प्रतिमा में शक्तिआकृति का सदा अभाव रहता है।

पूर्व मध्ययुग से (७ वीं शती) पूर्वी भारत में वैष्णव मत का प्रचुर प्रचार हो गया और यहाँ तक कि बौद्धनरेश भी विष्णु प्रतिमा के लिए दान देने लगे। खालीमपुर ताम्रपत्र में वर्णन आता है कि बंगाल के परमसौगतपाल नरेश धर्मपाल ने नर-नारायण (विष्णु) के लिए दान दिया था।

विज्ञापिताः यथा अस्माभिः मातामित्रोः आत्मनश्च पुण्य अभिवृद्ध में देवकुलण-कारित तत्र प्रतिष्ठापित भगवन् नन्न नारायण।

वैष्णव मत का प्रभाव बौद्धमत (तंत्रयान) पर इतना पड़ा कि बंगाल में उसका स्वरूप ही बदल गया। तन्त्रयान के ह्रास होने पर बगाल में 'वैष्णव-सहजिया' के नाम से नया मत प्रसारित हुआ जिसकी परम्परा मे हम चैतन्य को पाते हैं। उसी समय बुद्ध प्रतिमा के सिरे पर किरीट मुकुट तैयार किया गया। वैष्णव प्रभाव समाज, साहित्य तथा कला में भी स्पष्ट दीख पड़ता है। आश्चर्य तो यह है कि पालनरेशों के बौद्ध होने पर भी वैष्णव प्रतिमाएँ अत्यधिक संख्या में तैयार होती रहीं। मंत्रयान (वज्रयान) के युग में वैष्णव प्रतिमा का अधिक निर्माण एक आश्चर्यजनक घटना है। इस काल की विष्णु प्रतिमा पूर्ण थी। विष्णु भगवान् एकाकी नहीं, किन्तु शक्ति के साथ (युगल) प्रदर्शित किये गये। काले कसौटी प्रस्तर की खड़ी प्रतिमा (Stele) के मध्य में भगवान् विष्णु है। दोनों पार्श्व में लक्ष्मी तथा सरस्वती खड़ी हैं। दक्षिण भारत की प्रतिमाओं में सरस्वती के स्थान पर भूदेवी मिलती है। चतुर्भुजी प्रतिमा में चारों आयुध सुन्दर ढग से प्रदर्शित हैं। प्रभामण्डल के ऊपरी प्रस्तर पर दश अवतारों की आकृतियाँ निर्मित दीख पड़ती है। उत्तरी भारत की मध्ययुगी विष्णु प्रतिमाएँ अद्वितीय और सुन्दरतम हैं। वर्तमान काल में इसी खड़ी प्रतिमा (लक्ष्मीनारायण) का पूजन समाज में प्रचलित है।

(स) शयन प्रतिमा

ब्राह्मणधर्मी मूर्तियों में केवल विष्णु की ही शयन प्रतिमा अभी तक उपलब्ध हुई

है। कलाकारों ने इस शैली को कहाँ से ग्रहण किया, यह एक प्रमुख प्रश्न है। सम्भवतः बुद्ध की महापरिनिर्वाण मूर्ति की भावना ग्रहण कर कलाकारों ने विष्णु की शयन प्रतिमा तैयार की हो। यदि दोनों की शैलियों का परीक्षण किया जाय तो प्रकट होता है कि बौद्ध तथा ब्राह्मण कलात्मक नमूने में गहरा अन्तर है। बुद्ध की प्रतिमा शयन (Recline) आसन में नहीं है। वह तो घोर निद्रा में (मृत्युशय्या पर) प्रदर्शित की गई है। भगवान् विष्णु की शयन प्रतिमा को योगशयन प्रतिमा कहना सर्वथा उचित होगा। इसमें अनन्त नाग की गेंडुरी पर लेटी हुई मूर्ति तैयार की गई है जिसका ऊपरी चौथाई भाग ऊँचा उठा है और शेष तीन चौथाई शेष के गेंडुरी पर स्थित है। दाहिना हाथ किरोट-मुकुट को स्पर्श कर रहा है तथा बायाँ हाथ शरीर को स्पर्श करता कटक अवस्था में है। उस विष्णु प्रतिमा के साथ भृगु एवं मार्कण्डेय ऋषियों की आकृतियाँ (पुजारी के रूप में) और भूदेवी तथा लक्ष्मी पैर के समीप दिखलाई पड़ती हैं। ऋषियों के समीप 'आयुध-पुरुषों' की आकृति भी बनी है।

भारत में ऐसी विष्णु प्रतिमाओं का निर्माण चौथी शती के पश्चात् होने लगा। उदयगिरि गुहा (विदिशा के समीप, मध्यप्रदेश) में गुप्तकालीन अतीव सुन्दर विष्णु की शयन प्रतिमा निर्मित है। देवगढ़ (उत्तर प्रदेश) से भी ऐसी प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसके ऊपरी भाग में देवसमूह (ब्रह्मा, गणेश, शिव आदि) की आकृतियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। राजपुताना की प्रतिमा भी इसी श्रेणी में रक्खी जा सकती है। कानपुर के समीप भितरगाँव से प्राप्त मिट्टी के ठीकरे (Terracotta) पर शेषशायी विष्णु की आकृति मिली है। उत्तरी भारत में इस प्रकार की प्रतिमा की बहुलता नहीं है, किन्तु दक्षिण में महाबलिपुरम् तथा अयहोल में उदयगिरि नमूने के सदृश शेषशायी विष्णुमूर्ति विद्यमान् हैं। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में योगशयन प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई है जिसमें रंगनाथ मदिर (त्रिचो के समीप) का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। कुछ ऐसे तीन मंजिल के मंदिर भी हैं जिनमें आसन (बैठी), स्थानक (खड़ी) तथा शयन की अवस्था में प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई हैं। त्रिवेन्द्रम् (केरल) के पद्मनाभ मंदिर तथा श्रीरंगम् (मद्रास) के नमूने की शयन प्रतिमा उत्तरी भारत में कहीं नहीं मिलती। सम्भव है, दक्षिण के वैष्णव मतानुयायी योगशयन प्रतिमा की विशेष रूप से पूजा करते रहे हों।

अवतार प्रतिमाएँ

यदि वैदिक तथा पौराणिक विवरण पर विचार किया जाय और दश अवतारों का विश्लेषण किया जाय तो प्रकट होगा कि—

(अ) सत्ययुग में मत्स्य, कच्छप, वराह तथा नरसिंह के अवतार की कल्पना की जा सकती है।

(ब) त्रेता युग से वामन, परशुराम, दाशरथी राम का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

(स) द्वापर युग में कृष्णावतार या बलराम की स्थिति मानी जा सकती है। तथा —

(द) कलियुग में बुद्ध तथा कल्कि के अवतार का विचार युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

देवताओं का मानव रूप में अथवा अन्य जीवधारियों के रूप में मानवोचित कार्य करने की कथाएँ प्रायः मिलती हैं। वे मनुष्य रूप में पथ-प्रदर्शन करते हैं तथा भक्तों को उपदेश देकर मानवों को स्वर्ग-लोक प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर (अध्याय ४६) में कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं। प्रकृति और विकृति। विकृति को ही साकार ब्रह्म कहते हैं। पूजा तथा ध्यान उस साकार से सम्बन्धित है।

प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य रूपेण परमात्मनः
अलक्ष्यं तस्य तद्रूपं प्रकृतिस्सा प्रकीर्तिता।
साकार विकृतिर्ज्ञेया तस्य सर्वं जगत्स्मृतम्
पूजाध्यानादिकं कर्तुं साकारस्यैव शक्यते ॥

मत्स्य, कच्छप तथा वराह अवतार के कथानक विस्तारपूर्वक वैदिक साहित्य में मिलता है। उसी कथन को पुराण में भी लिया गया। गुप्त युग में पुराणों का अन्तिम रूप से संकलन हो चुका था और उसी आधार पर कलाकार मूर्ति निर्माण करने लगे। यह सत्य है कि अवतार का आधार साहित्य (मुख्यतया पुराण) है परन्तु कला में मूर्तियाँ देश-काल के अनुसार तैयार की गयीं। उपरिलिखित तीन अवतार पशु (Theriomorphic) तथा मिश्रित स्वरूप (Therio-anthropomorphic) में भी प्रदर्शित हुए हैं।

वराह की (धड़ मानव का तथा सिर वराह का) मिश्रित मूर्ति का पूजन किया जाता था। इसी कारण महाबलिपुरम्, बादामी, आर्काट तथा उदयगिरि गुहा में इसके नमूने मिलते हैं। इसमें सिर वराह का तथा धड़ (Torso) मनुष्य के आकार का है। प्रस्तर की प्रतिमायें वैखानसागम, अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन पर आधारित हैं। संसार जल-ही-जल था। प्रजापति ने जलमध्य पृथिवी को देखा। अतएव प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया और पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आए (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।६)। इस कार्य में वराह रूप में विष्णु खड़े हैं। दो भुजाओं में शंख-चक्र (अथवा गदा पद्म) विद्यमान हैं। केहुनी पर (स्त्री वेष में) पृथ्वी बैठी हैं और एक हाथ से विष्णु उसे पकड़े हुए हैं। यहाँ मनुष्य का विशालकाय शरीर तथा वराह का सिर दिखलाई पड़ता है। दाहिना पैर आदिशेष पर स्थित है। दक्षिण की प्रतिमा में बायाँ पैर ऊपर उठा हुआ है तथा उसी पर पृथ्वी बैठी हैं। प्रतिहार राजा भोजदेव के सिक्के पर भी वराहविष्णु की आकृति खुदी है परन्तु उसमें पृथ्वी का अभाव है। गुप्त युग से मध्यकाल तक (चौथी से बारहवीं सदी) वराह अवतार की मूर्तियाँ तैयार होती रहीं। उत्तर-मध्ययुगी होयसल कला में बारहभुजी वराह प्रतिमा का नमूना मिला है। वराह प्रतिमा में शक्तियों (भूदेवी या लक्ष्मी) की उपस्थिति के कारण वर्गीकरण किया गया है।

(१) नृ-वराह—जिसमें विष्णु-भार्या (शक्ति) का अभाव है। उदयगिरि गुहा

(विदिशा के समीप) में विशाल वराह प्रतिमा का निर्माण गुप्तकाल में हुआ था। कुछ विद्वान इसे सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा मालवा, गुजरात आदि प्रदेशों के विजय का द्योतक समझते हैं। यानी गुप्त सम्राट् ने शकों द्वारा आक्रान्त पृथ्वी का संरक्षण किया था।

(२) यज्ञ वराह–इस अवस्था में विष्णु प्रतिमा सिंहासन पर बैठी है तथा दोनों तरफ भूदेवी तथा लक्ष्मी भी उपस्थित हैं। यज्ञ भी ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।

पुराणों में वराह के साथ यज्ञ का प्रतीक अधिक संवसित है।

(३) प्रलय वराह—इसमें वराह प्रतिमा ललितासन शैली में बैठी है। केवल भूदेवी की आकृति साथ में विद्यमान है।

कलात्मक उदाहरणों से प्रकट होता है कि वराह प्रतिमा को सम्पूर्ण भारत में जनसाधारण पूजा करते रहे। मद्रास, महाबलिपुरम्, बदामी, पूर्वीभारत तथा मध्य-प्रदेश में प्राप्त प्रतिमाएँ उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

नरसिंह अवतार

इस मूर्ति के नाम से प्रकट हो जाता है कि नारायण विष्णु ने मनुष्य आकार के साथ-साथ सिंह का अङ्ग सम्मिश्रित कर रूप धारण किया था। तैत्तिरीय आरण्यक में नृसिंहावतार के लिए "वज्रनखाय तीक्ष्णदंष्ट्रायधीमहि" की गायत्री दी गई है। हिरण्यकशिपु को मारने वाले (प्रह्लाद को आशीर्वाद देनेवाले) इसी श्रीनृसिंह भगवान् के चरित्र का चित्रण पुराणों में किया गया है। हिरण्यकशिपु को ऐसा वरदान था कि न मनुष्य और न जानवर उसे मार सकता है। अतएव प्रह्लाद के रक्षार्थ भगवान् ने मिश्रित (Hybrid form) रूप धारण कर नरसिंह का अवतार ग्रहण किया। अवस्था के अनुसार नरसिंह के तीन प्रकार की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं—

(१) गिरिजा नरसिंह—पर्वत के गुफा से निकलने वाले नृसिंह।

(२) स्थौन नरसिंह—प्रह्लाद की रक्षा करने के निमित्त स्तम्भ से उत्पन्न होने वाले नरसिंह का अवतार। इसमें विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा है तथा चारों आयुध को स्थान दिया गया है। इलौरा की आठभुजी प्रतिमा है। किन्तु उसमें शास्त्रीय नियम का अभाव है। स्तम्भ से निकलकर भगवान् हिरण्यकशिपु को मार रहे हैं।

(३) लक्ष्मी नरसिंह—विष्णु-भार्या लक्ष्मी नरसिंह के बाएँ जाँघ पर बैठी हैं। वह आलिंगन अवस्था में दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें लक्ष्मी का एक पैर नीचे की ओर लटक रहा है।

उत्तरी भारत में नृसिंह भगवान् के पूजा का उतना प्रचलन नहीं है जितना दक्षिण भारत में पाया जाता है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में श्रीनृसिंह भगवान् का चरित्र-चित्रण किया गया है।

वामन अवतार

भगवान् विष्णु ने वामन का रूप (अवतार) धारण कर तीन डगों में पृथ्वी को माप लिया था, इसी के आधार पर कलाविदों ने वामनावतार की प्रतिमा तैयार की। वामनावतार की पौराणिक कथा का स्रोत शतपथ ब्राह्मण (१।२।५-७) में वामन प्रसंग समझा जाता है। परन्तु ऋग्वेद के विष्णुसूक्तों में बहुशः संकेतित है। प्रथम मण्डल के १५४ सूक्त के अनुशीलन से विष्णु के वैदिक स्वरूप का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उनके विशिष्ट कार्यों में पृथ्वी को तीन पगों में मापने के कारण विष्णु को 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' का विशेषण दिया गया। इदं विष्णुर्विचक्रमे मे मेधा निदधं परम् समूढ़मस्य पांसुरे। (ऋ० वे० १।२२।१७)

पौराणिक प्रसंग का मूलरूप शतपथ ब्राह्मण की उक्ति 'वामनो ह विष्णुरास' में मिलता है। प्रसंग संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

देव-असुर दोनों आपस में विवाद करने लगे। तीक्ष्ण स्वभाव वाले असुरों से देवगण परास्त हो गये। समस्त भुवन को अपना मानकर उसे विभाजित करने का इरादा किया ताकि उसी के द्वारा आजीविका निर्वाह करें। इसे सुनकर देवगण अपने अंश के लिए यज्ञरूपी विष्णु को आगे कर (नेता बनाकर) असुरों के स्थान पर गये। देवता बोले कि पृथ्वी का बँटवारा मत करो, इसमें हमारा भाग भी है। असुरों ने कहा कि जितने क्षेत्र पर विष्णु (जो वामन थे) सोते हैं, वह भाग तुमको मिलेगा। इस कार्य में (यज्ञ के बराबर भूमि उपलब्ध होने का कार्य) यज्ञविष्णु का हाथ था। इसी आख्यान को पुराणों में वामनावतार प्रसग में उपस्थित किया गया है। अन्तर इतना ही है कि पुराणों में असुरों के राजा बलि का नाम आता है। पुराणों मे तीन क्रमों मे पृथ्वी, स्वर्ग तथा बलि के शरीर को मापने की वार्ता मिलती है। वैदिक एवं पौराणिक, दोनो आख्यान विष्णु के माहात्म्य-द्योतक हैं।

भागवत पुराण के अष्टम स्कन्ध में वामन अवतार का वर्णन बलि के प्रसंग में किया गया है। स्वर्ग को जीत कर बलि स्वयं इन्द्र बन गया और देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया। वामन रूप में उत्पन्न होकर भगवान् बलि की यज्ञशाला में पधारे। तीन डग पृथ्वी माँगा। शुक्राचार्य के निषेध करने पर भी बलि ने वामन की इच्छा पूर्ति की। वामन ने दो डगों में पृथ्वी तथा स्वर्ग को माप लिया। तीसरे चरण के समय बलि ने आत्म-समर्पण किया। इसीलिए भगवान् का नाम 'त्रिविक्रम' पड़ा। भागवत की यह कथा इसी रूप में अन्य पुराणों में मिलती है। अदिति के आग्रह से विष्णु ने वामन का रूप धारण किया ताकि इन्द्र को इन्द्रलोक पुनः मिल जाय। इसी पौराणिक कथा के आधार पर कलाकारों ने वामन विष्णु की प्रतिमा निर्मित की। बलि के यज्ञशाला में ब्रह्मचारी के वेष में भगवान् उपस्थित हुए थे, इसलिए वामनावतार के विभिन्न स्वरूपों में ब्रह्मचारी वेषधारी प्रतिमा मिलती है, जो मूर्ति पाँच तालमान में तैयार की गई है। ब्रह्मचारी के वेष में कौपीन वस्त्र, छत्र तथा कमण्डलु लिये प्रतिमा बनी है। मूर्ति बलि से तीन पग भूमि माँग रही है। वैखानसागम में ब्रह्मचारी का स्वरूप विकृत रूप में वर्णित किया गया है।

कलकत्ता के आशुतोष संग्रहालय में ऐसी वामन प्रतिमा सुरक्षित है। विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति शंख, चक्र, गदा एवं पद्म के साथ दिखलाई पड़ती है। इसमें छत्र तथा कमण्डलु का अभाव है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वामन को ब्रह्मचारी अथवा साधारण मनुष्य के रूप में प्रदर्शित किया गया था।

आठवीं सदी की भव्य वामन प्रतिमा दोहरे कमलासन पर खड़ी चारों आयुध सहित तथा वनमाला धारण किए काशी विश्वविद्यालय के कलाभवन में सुरक्षित है।

विष्णु के वामनावतार का दूसरा स्वरूप विराट् रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसमें तीन डग के कथानक को लेकर तीन विभिन्न आकार सामने आते हैं जिसे 'त्रिविक्रम' का नाम दिया जाता है।

(अ) विराट् पुरुष का बायाँ पैर दाहिने घुटने के बराबर उठा हुआ दिखलाई पड़ता है।

(ब) बायाँ पैर नाभि के समानान्तर फैला हुआ है।

(स) बायाँ पैर अन्तरिक्ष की ओर ऊपर ललाट के समतल दिखलाई पड़ता है। दक्षिण भारत में तीसरे प्रकार के विराट् पुरुष (वामनावतार) की मूर्ति में विष्णु के पैर को ब्रह्मा जल से धो रहे हैं और उसे नदी के रूप में (मछली सहित जलधारा) दिखलाया गया है। कुछ कलाकार उसे गंगा का रूप देकर शिव की जटा में गिरते दिखलाते हैं। भगवान् शिव कैलास पर्वत पर बैठे हैं और गंगा की धारा ऊपर से गिर रही है। भागीरथी के अवतरण का कथानक इससे भिन्न है। मद्रास के आर्काट जिले में ऐसी प्रतिमा प्राप्त हुई है।

विराट् पुरुष (वामनावतार) की प्रतिमा प्रायः चतुर्भुजी बनाई जाती थी। शंख, चक्र दो हाथों में दिखलाई पड़ता है। तीसरा हाथ ऊपर की ओर संकेत करता हुआ तथा चौथा बाएँ पैर के समतल में प्रदर्शित है।

विराट् पुरुष का दाहिना पैर पृथ्वी पर अचल-सा दीख पड़ता है। बायाँ पैर ही तीन डगों के मापने में बार-बार प्रयुक्त किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर में वर्णन आता है कि उस वामन के सम्मुख बलि तथा उसकी पत्नी खड़ी है। शुक्राचार्य भी उपस्थित हैं जो बलि को भगवान् के वामन स्वरूप को संकेत कर आगाह कर रहे हैं। कुछ प्रतिमा में छत्र दिखलायी पड़ता है। 'त्रिविक्रम' की इस प्रकार के प्रदर्शन में इन्द्र, वायु, ब्रह्मा तथा शिव की आकृतियाँ भी खुदी हैं। इन्द्र छत्र धारण किये, वायु चंवर लिये, ब्रह्मा पैर का प्रक्षालन करते तथा शिव अंजलि मुद्रा में दिखलाये गये हैं।

दक्षिण भारत के बादामी तथा महाबलिपुरम् की वामन प्रतिमाएँ शास्त्रीय नियमों के विपरीत खुदी हुई हैं। वहाँ आठ भुजा वाली वामन मूर्ति मिली है। मध्य-प्रदेश तथा मारवाड़ की मूर्तियों में आदिशेष की आकृति भी दिखलाई पड़ती है जिसके सिरे पर वामन का दाहिना पैर रक्खा है। सम्मुख पत्नी सहित बलि खड़े हैं।

इलौरा के दशावतार गुहा में भी विष्णु का विराट् रूप दिखलाई पड़ता है।

होयसल शैली में निर्मित वामन प्रतिमा अतीव सुन्दर एवं अलंकृत है जिसकी समता नहीं की जा सकती। उस प्रतिमा में दाहिना पैर ऊपर मापने के निमित्त उठा हुआ है। बायाँ पैर जमीन पर स्थिर है। इस प्रकार कथानक के आधार पर कलाकार यत्र-तत्र कुछ अधिक आकृतियों को जोड़ वामन के विराट् रूप का प्रदर्शन करते रहे हैं।

संक्षेप में विष्णु के आद्य पाँच अवतारों (मत्स्य, कच्छप, वराह, नरसिंह एवं वामन) के वैदिक स्रोतों का अनुशीलन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। दशावतार के अन्तिम दो अवतारों, बुद्ध तथा कलिन्द के विषय में हम जानते हैं कि बुद्ध को जन्म लिए केवल ढाई हजार वर्ष हुए और ब्राह्मण धर्मानुयायी पण्डितों ने बुद्ध की गणना दशावतार में की। इसी कलि में भविष्य में कल्कि अवतार होने वाला है। अतः इन दोनों के लिए प्राचीन स्रोत ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है ! मध्य के तीन अवतारों– परशुराम, राम तथा कृष्ण के सम्बन्ध में पर्याप्त पोषक सामग्री नहीं मिलती। परशु-राम का अवतार वामन तथा दाशरथी राम के मध्य में माना जाता है। मत्स्य पुराण में परशुराम को अवतारों मे छठा स्थान दिया गया है। भागवत के अनुसार बाईस अवतारों में इनका सोलहवाँ स्थान है। मध्ययुगी दशावतार की आकृतियों में परशु-राम भी दृष्टिगोचर होते हैं। पालयुगी मुख्य विष्णु प्रतिमा के प्रभावली में भी अवतारों की आकृतियाँ बनी हैं जिसमें परशुराम छठे स्थान पर दीख पड़ते है। इनका चरित महाभारत तथा पुराणों में वर्णित है तथा कीर्तवीर्य हैहय का नाश एवं क्षत्रिय शासकों को इक्कीस बार संहार की घटना परशुराम के जीवन का महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त है। यह अवतार राम तथा कृष्ण के सदृश ही ऐतिहासिक माना जाता है।

सातवाँ अवतार राम का है जो अयोध्यानरेश दशरथ के पुत्र थे। रामकथा से सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम यत्र-तत्र मिलते हैं। जैसे शतपथ ब्राह्मण में जनक। परन्तु राम ऐसा अभिधान वैदिक काल मे राजाओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध न था। उस आधार पर कोई निश्चित मत स्थापित नहीं किया का सकता। मगध शैली एवं बंगाल की दशावतार आकृतियों में राम (दाशरथी) प्रस्तर पर खुदे दिखलाई पड़ते है।

विष्णु अवतारों के क्रम में कृष्ण को आठवाँ अवतार माना गया है। भागवत की सूची में (३।२२) राम (बलराम) तथा कृष्ण दोनों अवतार उल्लिखित है। कृष्ण को स्वयं भगवान् (कृष्णस्तु भगवान् स्वयं) मानने पर बलराम आठवें अवतार का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

इसी कारण अनेक पुराणों में राम (बलराम) का नाम अवतार की सूची में वर्णित है। इनकी चतुर्भुजी मूर्ति बनाई जाती थी। बाएँ भाग के ऊपर हाथ में लाङ्गल (हल) तथा निचले हाथ में शंख रखने का विधान है। दाहिनी ओर ऊपरी हाथ में मुषल तथा निचले हाथ में चक्र रखने का नियम कलात्मक उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है।

बलराम आदिशेष के अवतार थे तथा कृषि से सम्बन्धित होने के कारण उनके हाथ में हल को प्रधान स्थान दिया गया। यद्यपि ईसा पूर्व सदियों में संकर्षण (बलराम) की पूजा कृष्ण के साथ होती रही, पर कृष्ण को स्वयं भगवान् मान लेने

पर उनके भ्राता बलराम ने अवतार का स्थान ले लिया। इस प्रकार व्यूह बलराम तथा विभव बलराम का वर्गीकरण हो सकता है। ईसवी पूर्व दूसरी शती की प्रतिमा मथुरा से प्राप्त हुई है जिसमें धोती, पगड़ी पहने पुरुष की आकृति है। मुषल तथा हल की स्थिति से उसे बलराम की मूर्ति मानते हैं। इसमें सर्पछत्र भी वर्तमान है। व्यूह संकर्षण (बलराम) के हाथों में वासुदेव विष्णु के आयुध मिलते हैं।

ग्वालियर से बलराम की एक सुन्दर प्रतिमा मिली है जिसमें 'तालध्वज' वर्तमान है। इसके आधार पर बलराम द्वारा धेनुक (सिररहित गर्दभ राक्षस) के संहार की कथा वर्णित की जाती है। बलराम ने गर्दभ राक्षस को तालवृक्ष के समीप वेग से फेंक दिया और वह मर गया। सम्भवतः तालध्वज उसी घटना को याद दिलाता है।

बुद्धावतार की कथा का स्रोत अवैदिक है। गौतम बुद्ध का जीवनचरित नितान्त विख्यात है। बुद्धमत के हीनयान शाखा में बुद्ध का वैयक्तिक जीवन ही आदर्श माना गया है। उनके कथित 'अष्टांगिक मार्ग' का अनुसरण ही साधक को अर्हत् की उन्नत अवस्था पर पहुँचा सकता है, ऐसा कहा गया है। इसी कारण ईसवी पूर्व सदियों में भारतीय कला में बुद्ध के प्रतीक पूजित होते रहे। ईसवी सन् के आरम्भ से महायान का उदय हुआ जिसमें गौतम बुद्ध देवता के रूप में गृहीत किये गये। उनकी प्रतिमा निर्मित की गई जिसकी पूजा बौद्ध मतानुयायी करने लगे। उसी मत मे 'बोधिसत्व' की कल्पना उपस्थित की गई। करुणा तथा दया से पूर्ण बोधिसत्व की मूर्ति भी बनने लगी। इस प्रकार महायान में गौतम बुद्ध तुषित स्वर्ग के निवासी होने पर लोकोत्तर बुद्ध हो गये और लोकोत्तरवाद के सम्मुख उनका मानव रूप एकदम तिरोहित हो गया।

ब्राह्मणधर्म में भी बुद्ध विष्णु के अवतार माने गये। इसका एकमात्र कारण यह था कि बौद्धधर्म के उपासकों को वैदिक धर्म में पुनर्दीक्षित करने के निमित्त बुद्धावतार के विचार को समाज में प्रचलित किया गया तथा उसके लिए सफल प्रयास भी हुआ। एक धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न हुई और बुद्ध को अवतारों में गणना करना उस क्रान्ति का महनीय साधन था। अशोक तथा कनिष्क के पश्चात् कोई भी शासक इसे राजधर्म मानने को तैयार न था और न भारत के बुद्धधर्म के प्रसार एवं प्रचार के निमित्त प्रयत्नशील रहा। कुमारिलभट्ट ने बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रौढ़ रूप में खण्डन किया तथा शंकर ने उनके तर्क की धज्जियाँ उड़ा दी। यही कारण था कि बौद्ध मत अपने मूलस्थान भारत से निष्कासित हो गया। कुमारिल ने पुराणों का हवाला देकर स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि शाक्य कलियुग में विप्लव मचाने वाले हैं। तब उनके वाक्य कौन सुनता ?

स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्म-विप्लव-हेतवः।
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतु मर्हति ॥

(तंत्रवार्तिक—जे०सू० १।३७)

श्रीमद्भागवत में बुद्धावतार का अनेक स्थलों पर वर्णन है (भाग० २।७।३७ ;

६।८।१९ : १०।४०।२२)। फलतः सब पुराणों ने बुद्ध को अवतार स्वीकृत कर लिया। महाभारत शान्तिपर्व (अ० ३४८) में निम्नलिखित श्लोक उल्लिखित है—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कीति तेदशः।

पुरातत्व के आधार पर कहना युक्तिसंगत होगा कि अष्टम शती में अवतार रूप में बुद्ध की गणना होने लगी थी। दक्षिण भारत के महाबलिपुरम् से एक लेख उपलब्ध हुआ है जिसके अधूरे श्लोक में बुद्ध का नाम उल्लिखित है :

(रामोरामश्च रामस्य बुद्धः कल्किचतेदशः)

मध्य प्रदेश के 'सीरपुर' नामक स्थान में एक मंदिर है जिसमें राम प्रतिमा के पार्श्व में ध्यानावस्थित बुद्ध की मूर्ति खड़ी है। इन सब का निर्माण-काल आठवीं सदी माना गया है। ई० स० १०६० के आसपास काश्मीर के कवि क्षमेन्द्र ने भी अपने 'दशावतार महाकाव्य' में बुद्ध को नवम अवतार के स्थान पर वर्णित किया है। इसी रूप में कवि जयदेव ने भी बुद्ध को नवम् अवतार कहकर गीत-गोविन्द की रचना की।

(केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे)

भागवत पुराण में वर्णित बुद्ध के अवतार की मान्यता समाज मे हो गई! अग्नि (४९।८) में भी ध्यानावस्थित बुद्ध की मूर्ति का अभय मुद्रा में वर्णन किया गया है।

शान्तात्मा तम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः।
ऊर्ध्व पद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः॥

पालयुग में मध्ययुगी बुद्धमूर्ति विष्णु की मुख्य प्रतिमा के प्रभावली पर खुदी दीख पड़ती है। दशावतार की जो आकृतियाँ प्रस्तर पर खुदी है उनमें नवाँ स्थान बुद्ध को दिया गया है। अतएव शास्त्रीय उल्लेख का समर्थन प्रस्तर पर खुदी मूर्तियों से हो जाता है। कनिष्क की स्वर्णमुद्रा पर जिस रूप में बुद्ध की आकृति दृष्टिगोचर होती है वैसी आकृति मगध शैली में तैयार की गई। इसमे सिर के चारों ओर प्रभामण्डल शरीर पर चीवर तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। मध्ययुगी बौद्धमत एवं बौद्ध कला पर वैष्णव धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। तंत्रयान का नवीन रूप 'वैष्णव सहजिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैष्णव सहजिया के साथ बुद्ध प्रतिमा में किरीट-मुकुट दिखलाया गया। बिहार तथा बंगाल से मध्ययुगी बुद्धमूर्तियाँ प्रायः मुकुट (Crowned Buddha) के साथ ही मिलती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पुराणों की धार्मिक क्रांति ने कला को अछूता न छोड़ा और बुद्धमूर्ति में भी परिवर्तन आ गया।

विष्णु का अन्तिम तथा दसवाँ अवतार 'कल्कि' के नाम से शास्त्रों में उल्लिखित है। शास्त्र का कथन है कि यह अवतार भविष्य में होगा, जब प्रजा का नितान्त उत्पीड़न होगा और अधर्म अपनी चूड़ा पर पहुँच जायगा। महाभारत (शा० प० अ० ४४८) तथा मत्स्य पुराण (४७-२४८) दोनों में कल्कि के अवतार का रोचक

वर्णन मिलता है। भागवत (२।७।३८) में स्पष्ट कथन है कि धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश ही अवतार का उद्देश्य है।

मध्ययुग के खुदे प्रस्तरों पर कल्कि का स्वरूप अश्वारोही की तरह दिखलाया गया है। सूर्य के पुत्र रेवन्त की भी आकृति इसी तरह की है परन्तु रेवन्त की प्रतिमा में संगीतज्ञों की टोली, अन्य अनुचर तथा कुत्ता की आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

पाषण मूर्ति के अतिरिक्त विष्णु की कांस्य धातु की प्रतिमा स्थान-स्थान से उपलब्ध हुई है। तक्षशिला की कांस्य प्रतिमा (आ० स० ए० रि० १९३५-३६) चतुर्भुजी है। शंख, चक्र, गदा तथा पद्म के अतिरिक्त सिर पर किरीट और शरीर में हार, यज्ञोपवीत, वनमाला दिखलाई पड़ता है शिरश्चक्र (प्रभावली) भी अनुपात के अनुसार ही बना है। रंगपुर (बंगाल) की चतुर्भुजी स्थानक विष्णुमूर्ति भी कांस्य धातु की ही है।

गौण अवतार

भागवत में विष्णु के अन्य अवतारों का स्पष्ट उल्लेख है। सनक, सनन्दन, सनातन; ऋषभ, पृथु, धन्वन्तरि, सनत्कुमार, नारद, दत्तात्रेय, नारायण आदि के नाम मिलते हैं (भागवत १, ३)।

विष्णु भगवान के अन्य गौण अवतार भी यत्र-तत्र भारत में पूजित होते हैं। दत्तात्रेय दक्षिण भारत में लोकप्रिय देवता हैं जिनकी पूजा आज भी प्रचलित है। अनन्त नाम से जो मूर्ति मिलती है उसमें चार मुख तथा बारह हाथ दिखलाई पड़ता है। हरिहर प्रतिमा में आधा अंग विष्णु का तथा आधे भाग में शिव की आकृति है। मुकुट, वनमाल, चक्र से विष्णु का तथा जटा, त्रिशूल एवं सर्प से शिव का बोध होता है। विष्णु के गौण अवतारों के नाम भागवत के अन्य स्कन्धों में मिलते हैं। महाभारत में भी बहुतों का अस्तित्व मिलता है। नारद, नर, नारायण, कपिल, यज्ञ, वेदव्यास, मान्धाता, हयग्रीव आदि के नाम उल्लिखित हैं। शास्त्रीय विवेचन की पुष्टि प्रत्येक स्थल पर नहीं होती। यह आवश्यक नहीं था कि कलाकार सभी (मुख्य तथा गौण) अवतारों की प्रतिमा तैयार करें। तो भी दशावतार के बाद दत्तात्रेय, हरिहर, नारद, हयग्रीव आदि की आकृतियाँ मिलती हैं। देवीभागवत में वर्णन आता है कि राक्षस को ध्वंस करने के लिए विष्णु ने आधा घोड़े तथा आधा मनुष्य की आकृति धारण की थी जो हयग्रीव के नाम से प्रसिद्ध हुई।

लक्ष्मी

विष्णु भगवान् से सम्बन्धित देवियों में श्री, भूदेवी एवं सरस्वती के नाम आते हैं। दक्षिण भारत के विष्णु प्रनिमा में श्री (लक्ष्मी) दाहिनी ओर तथा भूदेवी (पृथ्वी) बाईं ओर खड़ी दिखलाई पड़ती हैं। दोनों विष्णु की भार्या मानी जाती हैं। उत्तर भारत में भूदेवी के स्थान को सरस्वती ने ग्रहण कर लिया। अतः भगवान के संयुक्त

प्रतिमा में (Composite forms) दो देवियों को सर्वदा पार्श्व में स्थान दिया गया। लक्ष्मी कमल लिये तथा सरस्वती वीणा सहित चित्रित हैं।

वाहन

सभी देवताओं के वाहन का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। गरुड़ विष्णु के वाहन कहे गए हैं। यद्यपि गरुड़ पक्षी की आकृति बहुत प्राचीन समय से किसी-न-किसी प्रसंग में उल्लिखित मिलती रही, परन्तु गुप्तकाल से गरुड़ को विष्णु भगवान् के वाहनरूप में स्वीकार किया गया।

चौथी सदी से गुप्त सिक्कों पर गरुड़ की आकृति सर्वत्र पाई जाती है। यदि वैदिक सूर्य तथा विष्णु को एक मान लिया जाय तो चक्र तथा गरुड़ का विष्णु से सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है। चक्र के रूप मे सूर्य भ्रमण करते हैं और उस रथ में एक ही चक्र मानते हैं। गरुड़ सूर्य के सारथी अरुण का भ्राता है। महाभारत में (आदिपर्व अ० ४८) गरुड़ द्वारा अमृत लाने का वर्णन मिलता है। उस कथानक में यह वर्णित है कि अमृत पात्र को कुश ग्रास पर रक्खा गया जिसे इन्द्र शीघ्र उठा ले गए। कुश पर कुछ अमृत के बूँद गिर गये जिसे नाग चखना चाहता था। कुश ग्रास से उसकी जिह्वा कट कर दो भागों मे बँट गई। उस कारण गरुड़ सर्प का शत्रुनाशक बन गया। पक्षियों में सबसे द्रुतगामी गरुड़ को विष्णु का वाहन निर्धारित करना आवश्यक था क्योंकि विष्णु संसार के रक्षार्थ नाना रूप ग्रहण करते हैं तथा गरुड़ के सहारे निश्चित स्थान पर पहुँच जाते हैं।

चार स्वरूप

शिल्परत्न में गरुड़पक्षी के दो भुजाएँ, चोंच की तरह नाक तथा आश्चर्यजनक पंख का विवरण मिलता है। यह प्रसिद्ध है कि बालखिल्य ऋषि के जीवन-रक्षा करने पर जिस साधारण पक्षी को आशीष मिला वह गरुड़ के नाम से विख्यात हुआ। वह कठिन बोझ भी सहन कर सकता है। अवेस्ता की टीका में 'गरुत्मान' की समता गरुड़ से की जाती है तथा दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं।

कला में गरुड़ की अभिव्यक्ति कई प्रकार से की जाती है। विष्णु मंदिर के सभामण्डप में अञ्जलि मुद्रा में गरुड़ की चतुर्भुजी मूर्ति मिलती है। यों तो अग्निपुराण में अष्टभुजी मूर्ति का वर्णन है पर कला में चतुर्भुजी प्रतिमा (विष्णु के प्रतीक के साथ अथवा एक हाथ में छत्र, दूसरे में अमृतघट तथा शेष दो हाथ अञ्जलि मुद्रा में) का ही प्रचार था। दूसरे स्थानों से गरुड़वाही विष्णु प्रतिमा उपलब्ध हुई है। गरुड़ के कंधों पर विष्णु बैठे है तथा उनके पैर गरुड़ की हथेली पर हैं। ऐसी प्रतिमा भारत के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप जावा से भी मिली है। तीसरा स्वरूप वैष्णव मंदिरों के सम्मुख स्तम्भ पर गरुड़ की मूर्ति स्थित मिलती है यानी वह गरुड़-स्तम्भ वैष्णव मत का द्योतक है। उस स्थान पर मनुष्य का शरीर तथा नाक और चोंच (पक्षी सदृश) गरुड़ का है (Bird Man)। चौथी आकृति मथुरा से प्राप्त हुई है जिसमें गरुड़ मनुष्य के आकार में खड़ा है, पीठ की ओर छोटे पंख हैं तथा हाथ में सर्प पकड़े है।

इन चार स्वरूपों में गरुड़ भगवान् विष्णु के यशस्वी वाहन के रूप में (कला में) चित्रित है।

आयुध-पुरुष

वैष्णव प्रतिमाओं का विवरण आयुध-पुरुषों के बिना अधूरा-सा प्रतीत होगा। विष्णु के चार आयुध—शंख, चक्र, गदा, पद्म के नाम शास्त्रों में मिलते हैं। इन्हीं को कला में मनुष्य रूप में दिखलाया गया है जिसे 'आयुध-पुरुष' का नाम दिया जाता है। विष्णु भगवान् के चारों भुजाओं में चार आयुध रहते हैं परन्तु कभी कला में दो हाथ तथा पार्श्व में दो पुरुष की आकृतियाँ खुदी मिलती हैं जिनके सिरे पर आयुध रक्खे हैं। मनुष्य के सिर पर चक्र होने से 'चक्र-पुरुष' कहलाता है आदि। पौराणिक ग्रन्थों में आयुध-पुरुष के नामकरण से सर्वथा पुंलिङ्ग का प्रयोग नहीं मिलता। शब्द के लिङ्गभेद के अनुसार आयुध-पुरुष का लिङ्ग निश्चित किया गया है। इसीलिए चक्र-पुरुष, गदा देवी या शंख-पुरुष कहते हैं। इसमें चक्र तथा शंख पुलिङ्ग हैं और गदा स्त्रीलिङ्ग शब्द है।

कलात्मक उदाहरणों में विष्णु प्रतिमा के दोनों पार्श्व में आयुध-पुरुष की आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। आयुध उनके सिरे पर वर्तमान है। जिस समय मुख्य प्रतिमा का हाथ आयुध-पुरुष के सिरे पर स्थित रहता है उस समय विष्णु-भार्या श्री तथा पुष्टि (सरस्वती) की आकृतियाँ वर्तमान नहीं रहतीं। गुप्तयुग में अधिकतर चक्र तथा गदा की अभिव्यक्ति आयुध-पुरुष के रूप में की गई है। पूर्व-मध्ययुगी कला में शंख तथा कमल भी आयुध-पुरुष के आकृति में मिले हैं। मनुष्य की आकृति के सिरे पर आयुध दिखलाई पड़ते हैं।

७वीं सदी के पश्चात् कला में आयुध-पुरुषों का अभाव-सा है। चौबीस परगना से विष्णु की एक योगस्थानक प्रतिमा मिली है जिसमें गदा देवी और चक्र-पुरुष दिखलाई पड़ते हैं। यह १२वीं सदी की मूर्ति है।

आयुधों में चक्र युद्ध का शस्त्र है। गदा से दुष्टों का दमन तथा शंख से अहंकार का विनाश होता है। पद्म विश्व की उत्पत्ति का द्योतक है। विष्णु तथा वराह पुराणों में आयुधों का विवरण मिलता है जो कला के नमूनों से मिलते-जुलते हैं। पटना संग्रहालय में भी आयुध-पुरुषों के सुन्दर नमूने सुरक्षित हैं।

षष्ठ अध्याय

शैव-प्रतिमाएँ

ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों में विष्णु के पश्चात् शिव की प्रधानता है। वैष्णवमत में प्रचलित व्यूहवाद अथवा अवतारवाद के सदृश शैवधर्म में इस प्रकार के विभव की कल्पना नहीं है, किन्तु शिव एक पारिवारिक देवता के रूप में पूजित होते हैं। उस परिवार के सभी सदस्य देवतुल्य स्थान प्राप्त कर पूजनीय घोषित किये गये। शिव से अनेक देवियों का सम्बन्ध स्थापित किया गया और स्थिति के अनुसार उनके विभिन्न स्वरूप कला मे तैयार हुए।

बाजसनेयी संहिता में अम्बिका का नामोल्लेख है जो शाक्तमत में प्रमुख मानी जाती हैं। साहित्य ग्रंथों में देवियों के अनेक नाम आते हैं। उपनिषद् में उमा तथा पार्वती का उल्लेख है। प्राचीन सिक्कों पर इन देवियों की आकृतियाँ अंकित हैं जिससे प्रकट होता है कि इनकी पृथक् पूजा होती रही। शिव के साथ युगल मूर्ति कालान्तर में सम्मुख आई। पुराणों में तथा महाभारत में दुर्गा का उल्लेख मिलता है जिसे महिषासुरनाशिनी का नाम दिया गया है। हरिवंश में उस देवो को विन्ध्यवासिनि भी कहते हैं क्योंकि वे विन्ध्य पर्वत पर सदा निवास करती हैं। इस प्रकार साहित्य में कुमारी, काली, महाकाली, चण्डी, कात्यायिनी आदि नाम आते हैं। मारकण्डेय पुराण में दुर्गा के कार्यों का प्रशंसात्मक वर्णन मिलता है। शिव तथा उमा (=पार्वती) की प्रधानता के क्रम में परिवार के अन्य सदस्य ने भी देवत्व प्राप्त कर लिया था। साहित्य (महाभारत तथा महाभाष्य) में स्कन्द नामक देवता का वर्णन आता है जिसकी पुष्टि सिक्कों पर अंकित स्कन्द आकृति से हो जाती है। स्कन्द को उमा, कृत्तिका या स्वाहा का पुत्र मानते हैं और वह देव-सेना के सेनानायक कहे गये हैं। उस सेनापति के अनेक भेंट-वस्तुओं मे मुर्ग तथा मोर को भारतीय कला में स्थान दिया गया जो स्कन्द मूर्ति का समीकरण उपस्थित करता है। दक्षिण भारत मे यह सुब्रह्मण्य के नाम से पूजित होते हैं। कार्य की विविधता के कारण स्कन्द को विशाख, कार्तिकेय, देवसेनापति अथवा कुमार भी कहते हैं। कुषाणनरेश हुविष्क के सिक्कों पर स्कन्द, महासेन, कुमार तथा विशाख के नाम यूनानी अक्षरों में पृथक्-पृथक् अंकित हैं। शिव के अन्य पुत्र गणेश (कार्तिकेय के भ्राता) को अधिक प्रमुखता मिल गई अतएव पंचदेवों (शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा तथा गणेश) में उनकी गणना हो गई। प्रमुखता के कारण ही गणेश लोकप्रिय देवता हो गये जिनकी पूजा सदा तथा सर्वत्र होती है। गणेश बुद्धि के देवता माने जाते हैं। सम्भवतः वैदिक युग में बृहस्पति का गणेश से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उपनिषद् में गणेश को विनायक भी कहा गया है तथा गणेश से रुद्र की समता

बतलाई गई हैं। आज भी कला तथा साहित्य में गणेश, गणपति, विनायक नाम से उल्लिखित हैं। सिद्धि के दाता गणेश की पूजा प्रत्येक सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों के प्रारम्भ में होती है।

पर्वतों पर शिव के साथ में रहने वाले तथा समूह में चलने वाले किरात, भूत, प्रेत, राक्षस आदि के नाम साहित्य में उपलब्ध हैं। कला में इनका प्रदर्शन भी मिलता है। इस प्रकार शिव के परिवार के सभी सदस्यगण लोकप्रिय देवता बन गये। कलाकारों ने उन्हें स्थान-स्थान पर प्रदर्शित भी किया है। उपर्युक्त कथन से शिव तथा विष्णु के स्वरूप का एवं उनकी विषमता का परिचय मिलता है।

साहित्य ग्रन्थों में इस देवता के दो नाम प्रसिद्ध हैं। शिव तथा रुद्र। शिव के गुणों में कल्याण तथा मंगलमय कार्यों—अनुग्रह तथा प्रसाद की गणना होती है तथा रुद्र संहार कार्य एवं विश्व के प्रलय से सम्बन्धित हैं। ब्रह्मा तथा विष्णु के सदृश सृष्टि तथा स्थिति से शैव सम्प्रदाय वाले अपने इष्टदेव को सम्बद्ध करते हैं। भारत में शिव की पूजा प्रमुख स्थान रखती है तथा हजारों मंदिरों का निर्माण प्राचीन काल में हुआ था। मध्ययुगी कला में शिव योगी एवं व्याख्याता के रूप में प्रदर्शित हैं। विद्याओं में अक्षर तथा संगीत की उत्पत्ति शिव से मानी जाती है। इन सब कारणों से शिव स्वामी, चन्द्रशेखर, विश्वनाथ, नीलकण्ठ, मृत्युञ्जय, त्रिलोचन, भूतनाथ, पशुपति, महेश्वर, महादेव आदि नामों से पुकारे जाते हैं। शिव-पूजा का आरम्भ प्रागैतिहासिक युग में हो गया था। हड़प्पा सभ्यता में शिव-पूजा का प्रसार था। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुहर (Seal) में इस देवता की आकृति खुदी है। इस कथन से शिवपूजा की प्राचीनता का आभास मिलता है। मुद्रा में जिस देवता की आकृति खुदी है उसे विद्वान पशुपति का नाम देते हैं। सृष्टि के उत्पादक प्रतीक लिङ्ग के रूप में अनेक आकृतियाँ प्रागैतिहासिक खण्डहरों से उपलब्ध हुई हैं। अतएव वैदिक युग से पूर्व किसी-न-किसी रूप में शिव-पूजा का प्रचार भारत में था, ऐसा विचार व्यक्त किया जा सकता है। वैदिक साहित्य में शिव की प्रतिमूर्ति 'रुद्र' नाम से उल्लिखित है। शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रीय अंश में 'रुद्र' के सैकड़ों नामों में उनके लक्षण की कल्पना की जा सकती है। कृत्तिवास (पशुचर्म का वस्त्र), कपर्दिन आदि नाम उनके कार्यों तथा पौराणिक कथाओं का स्मरण दिलाते हैं। वैदिक साहित्य में वर्णित 'रुद्र' के अनेक नामों के विश्लेषण से इस देवता का दो विभिन्न भावात्मक कार्य स्पष्ट हो जाता है।

रुद्र (रुद् धातु=रोना) सभी जीवों को नाश करता है तथा रुलाता है। उसके भयानक कार्य से ही उसके नामों की सार्थकता है। प्रथम रौद्र-कठोर एवं संहार कार्य तथा द्वितीय सौम्य या अनुग्रह रूप (कल्याणकारक)। इन्हीं दो रूपों का विवेचन शैव मूर्तियों के निर्माण का आधार माना गया है।

यह कहना कठिन है कि रुद्रशिव मत को किस काल से प्रमुखता मिली है। पाणिनि का सूत्र 'शिवादिभ्योण' इसकी पुष्टि करता है कि ईसा पूर्व सातवीं सदी में शिव-पूजा का प्रचलन था। महाभारत के नारायणीय भाग में भी पचों सिद्धान्तों

का वर्णन करते हुए पाशुपत का नामोल्लेख है जिसकी समता पंतजलि के शिव-भागवत् से कर सकते हैं। साहित्य में शैवमत प्रतिष्ठापक का विवरण नहीं मिलता, किन्तु पुरातत्व के आधार पर शैवमत के संस्थापक लकुलीश माने जाते हैं। इसका संदर्भ द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चौथी सदी) के मथुरा स्तम्भ-लेख में मिलता है (ए० इ० भा० २१, पृ० ८)। इस अभिलेख के आधार पर लकुलीश की तिथि दूसरी शती निश्चित होती है। इस परिणाम पर पहुँचने का कारण यह है कि उस लेख में उल्लिखित उदिताचार्य लकुलीश के दसवें शिष्य थे (भगवत् दशमेन) जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। अतएव इस शिष्य परम्परा में प्रत्येक शिष्य के बीस वर्ष की काल-गणना के अनुसार लकुलीश दो सौ वर्ष पूर्व में स्थित माने जायेंगे। लकुलीश की आकृति में दाहिने हाथ में लकुड़ (मुद्गल) दीख पड़ता है। गुजरात के एक लेख में वर्णन आया है कि भगवान शिव लकुलीश के रूप में अवतरित हुए। यह पाशुपत धर्म (शैवमत की शाखा) की संस्थापना के लिए उत्पन्न हुए थे। सम्भवतः इन्हीं की आकृति हुविष्क (कुषाणनरेश) के स्वर्ण-मुद्रा पर अंकित है। बाण ने अपने ग्रन्थों में पाशुपत लोगों का वर्णन किया है जो दिवाकर मिश्र के आश्रम में रहते थे (हर्षचरित, उच्छ्वास ८)। उस मत के अनुयायी शरीर में भस्म लगाते तथा रुद्राक्षमाला धारण करते थे (धवल भस्म ललाटिकाभिः अक्षमालिका—कादम्बरी)।

पुराणों में शिवमूर्तियों का जो प्रसंग है उसके आधार पर प्रतीत होता है कि वैदिक विवरण के सदृश शिव की मूर्तियों को दो प्रसिद्ध वर्ग में विभक्त किया जा सकता है—(१) घोर तथा (२) अघोर। शिवाख्यानों के आधार पर ही अनुग्रह एवं संहार मूर्तियों का वर्णन पुराणकारों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस स्थान पर शैवमत के विभिन्न शाखाओं (उत्पत्ति एवं विकास) का इतिहास अप्रासंगिक होगा। उपर्युक्त कथन ही शिवमूर्तियों के क्रमिक विकास तथा निर्माण का आधार समझा जा सकता है। जिस रूप का विस्तार हुआ अथवा जिस काल में कोई धार्मिक विचार प्रसारित हुआ, उसके अनुरूप ही शिव को लिङ्ग के रूप में तथा प्रतिमा रूप में उपस्थित किया गया है।

भारतवर्ष का धर्म ही प्राण है। उसकी अपनी प्राचीनतम सांस्कृतिक परम्परा भी है। इस कारण धर्म एवं संस्कृति से सम्बन्धित कल्पना तथा विचारशैली मूर्ति-निर्माण के आधार-भूत विषय थे। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर निर्माण कार्य सर्वदा प्रगतिशील रहा। इतिहास यह घोषित करता है कि अत्यन्त प्राचीन युग में प्रतीक-पूजा द्वारा मानव अपने हृदयगत विचारों को व्यक्त करता था। विभिन्न धर्मों में यही प्रथा मान्य थी। शैव मतावलम्बी लिङ्ग को ही प्रतीक मानते हैं। यह विश्व-उत्पत्ति का मूल साधन माना गया और कला में उसे स्थान भी दिया गया। भारत में लिङ्गपूजा की प्राचीनता सर्वविदित है। कालान्तर में उस स्वरूप (लिङ्ग) के दार्शनिक विचार से मानव सतुष्ट न होकर अन्य साधनों की ढूंढ़ में था। अतएव मनुष्य की आकृति तक पहुँचने में उसे विलम्ब हुआ। कलाकार

उस ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिये लिङ्ग से मुखाकृति को युक्त कर दिया जिसे 'मुखलिंग' की संज्ञा दी गई है। एक या चार मुखों की आकृतियाँ मध्यवर्ती लिंग के साथ जोड़ दी गई। परन्तु उनका यह अंतिम प्रयास न था। हम उस खोज की अंतिम श्रेणी शिव प्रतिमा में पाते हैं। कला के इतिहास के अनुशीलन से यही क्रम प्रकट होता है।

मनुष्य रूप में देवप्रतिमाएँ शिवलीला की अभिव्यक्ति करती है। उसे वर्णनात्मक (Narrative) प्रतिमा कहना सर्वथा उचित होगा। शिव की संहार मूर्तियाँ तथा विशिष्ट प्रतिमाएँ उसी उपविभाग में रक्खी जा सकती हैं। इस प्राचीन क्रम का अनुसरण कर शिवमूर्तियों का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

शिवलिङ्ग

भारतवर्ष में लिङ्ग-पूजा का प्रचार प्राग्ऐतिहासिक युग में था। मोहनजोदड़ो में शिव-लिङ्ग के पूजन से सभी परिचित थे। वैदिककाल में भी आर्य तथा अनार्य लोगों में शिवलिङ्ग पूजित होता रहा। लिंग-मूर्ति मंदिर के मुख्य भाग (गर्भगृह) में स्थापित की जाती तथा लिंग के निचले अंश को पीठ (पाषाण का निर्मित आधार) में स्थित रखते थे जिसे 'योनि' कहते हैं। इस प्रकार ये दोनों सृष्टि की उत्पत्ति के मूल कारण (पुरुष तत्त्व एवं प्रकृति तत्त्व) पुरुष तथा प्रकृति के प्रतीक कहे गये हैं। वर्तमान काल में भी शिव मंदिरों में शिवलिंग ही मुख्यतया स्थापित किया जाता है। मंदिर के ताख पर अन्य शैवमूर्तियाँ स्थिर की जाती हैं। गोपीनाथ राव ने शैवागम के आधार पर विभिन्न प्रकार के शिवलिंगों का विस्तृत विवरण उपस्थित किया है। 'वाणलिंग' (शालग्राम के सदृश) प्राकृतिक रूप में एक आकार (लिंग) बन जाता है जिसे रेवा या नर्मदा नदी के गर्भ से प्राप्त करते हैं। इस कारण उसे 'नर्वदेश्वर' भी कहा गया है। मनुष्य द्वारा निर्मित लिंग (मानुष-लिंग) एक बड़े प्रस्तर से तैयार किया जाता है। उसका निचला भाग चौकोर होता है जिसे 'ब्रह्मा-भाग' कहते हैं। आठ कोण का मध्यभाग 'विष्णु भाग' के नाम से प्रसिद्ध है। ऊपरी अंश गोलाकार रहता है जिसकी पूजा की जाती है। यही कारण है सबसे ऊपरी भाग 'पूजा-भाग' या 'रुद्र-भाग' के नाम से विख्यात है। शिवलिंगों की विभाजन प्रक्रिया लिंगपुराण (अध्याय ९९) तथा मत्स्यपुराण (अध्याय २६२) में अच्छी प्रकार से बतलाई गई है। लिंग की आकृति मंदिर के द्वार सीमा पर निर्भर करती है ताकि प्रत्येक द्वार से उपासक देवता का दर्शन कर सकें। बम्बई के समीप ऐलिफेंटा गुफा में विशाल शिवलिंग मुख्य भाग में स्थापित है। उस मंदिर के चार द्वार हैं तथा चारों तरफ द्वारपाल खड़े हैं। मानसार में शिवलिंग की लम्बाई के समान ही पीठ (योनि) के विस्तार का वर्णन मिलता है। पीठ वर्गाकार, अष्टभुजाकार या गोल आकार की तैयार की जाती थी। जल के निकलने का एक मार्ग रहता था जिसे 'योनिमार्ग' कहते हैं। पहले के दो भाग पीठ (योनि) में स्थिर किये जाते हैं। केवल पूजा भाग पर जल, पुष्प, नैवेद्य आदि अर्पित किया जाता है। मानुष-लिंग

विभिन्न बनावट के कारण 'धारा-लिंग' या 'सहस्र-लिंग' आदि नाम से विख्यात हैं। धारालिंग में पूजा भाग के कटान से बीसों लहर बन जाती हैं और जल दो कटान के मध्य से पीठ पर गिरता है। 'सहस्रलिंग' में रुद्रभाग को हजारों लम्बवत् तथा समानान्तर रेखाओं द्वारा उत्कीर्ण किया जाता है। दक्षिण भारत में शिवलिङ्गों की बहुलता है। उत्तर प्रदेश के करमदण्डा (जिला फैजाबाद) नामक स्थान से पाँचवीं सदी का एक मानुषी-लिंग प्राप्त हुआ है जिसके निचले भाग पर प्रथम कुमारगुप्त का लेख खुदा है। वह अभिलेख 'नमो महादेवाय' से प्रारम्भ होता है। मंदिरों में स्थापित होने के कारण इन्हें 'अचल-लिंग' कहा जाता है। समाज में पार्थिव पूजा का भी प्रचार है जिसमें मिट्टी का शिवलिंग बनाकर पूजते हैं। तत्पश्चात् नदी में प्रवाहित कर देते हैं। इसी को चल-लिंग कहते हैं।

मुखलिङ्ग

इतिहास के पण्डितों को यह अज्ञात नहीं है कि गुप्तकाल तक ही शिवलिंगों की स्थापना एवं पूजा विधिवत् होती रही। गुप्तनरेश द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मथुरा स्तम्भ-लेख में शिवलिंग की स्थापना का वर्णन मिलता है। उसके उत्तराधिकारी प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल (ई० स० ४३७) में स्थापित करमदण्डा से प्राप्त शिवलिंग के चौकोर ब्रह्माभाग पर अभिलेख खुदा है जिसमें शिव प्रतिमा की स्थापना तथा दान का विवरण दिया गया है। सम्भवतः गुप्तकाल के पश्चात् लिंग-पूजा की प्रधानता जाती रही। गुप्तकलाकारों ने एक नवीन शैली का समावेश किया जिसे 'मुखलिंग' कहते हैं। सम्भव है, समाज में प्रतीक (Aniconic worship) पूजा के स्थान पर मनुष्य आकृति की ओर जनता का विशेष आकर्षण हो गया। उस ज्ञानमार्ग में कलाविद् ने शिव के मनुष्य आकृति के रूप (Anthropomorphic form) में कला में स्थान दिया। उसी प्रसंग में सर्वप्रथम 'मुख-लिंग' का आविष्कार हुआ तथा लिंग के पूजा भाग पर मुख की आकृति तैयार की गई। एक मुख-लिंग की अनेक मूर्तियाँ मध्य भारत के (मध्यप्रदेश) नागौद रियासत से मिली हैं जो प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित है। रूपमण्डन के आधार पर गोपीनाथ राव ने एक तीन, चार या पाँच मुखलिंगों का विवरण दिया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३।४८।१) के अनुसार पाँच मुख शिव के पाँच रूपों-सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान—का परिज्ञान कराता है। किन्तु अभी तक पाँच मुखलिंग की मूर्ति उपलब्ध नहीं है। गुप्तकालीन एक या चतुर्मुख-लिंग, उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रदेश से प्राप्त हुए हैं। लखनऊ एवं प्रयाग के संग्रहालय तथा वैशाली के बनिया ग्राम के चतुर्मुखलिङ्ग उल्लेखनीय हैं। मुख-लिङ्ग की आकृति में जटा-मुकुट, चन्द्रमा से विभूषित है तथा ललाट पर तीसरा नेत्र स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इन लक्षणों द्वारा शिव के गुणों की कल्पना की जाती है (गुप्त-साम्राज्य का इतिहास, भा०२, प्लेट ११)। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि गुप्तकाल से पूर्व ही कुषाणयुगी कलाकारों ने स्वर्णमुद्रा पर शिव की पूर्ण आकृति तैयार की थी। ईसवी पूर्व के शासक कुषाणनरेश वीम कदफिस के स्वर्ण सिक्कों पर नन्दी

सहित शिव की मूर्ति खुदी है और मुद्रालेख में वीम 'महीश्वर' की पदवी से विभूषित किया गया है। मुद्रा-लेख निम्न प्रकार है—महरजस राजाधिराजस सर्व लोग ईश्वरस वीम कदफिसस (खरोष्ठी लिपि प्राकृत भाषा) गुप्तयुग में उस रीति को प्रोत्साहन न मिल सका। स्यात् मुख-लिङ्ग जनता में लोकप्रिय हो गया था। बाण ने तो हर्षचरित 'पंचब्रह्मरूप' शिवपूजा का वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं सदी तक मुख-लिङ्ग। (पंचमुख लिङ्ग) का किसी-न-किसी रूप में प्रचार था किन्तु गुप्तयुग के (चौथी, पाँचवीं सदी) उत्तरार्द्ध में निश्चित रूप से मनुष्य आकार में देव प्रतिमा (शिवमूर्ति) निर्मित होने लगी थी।

हर्षचरित में पंच ब्रह्मरूप शिवपूजा का वर्णन आया है। पाँच रूपों को लेकर 'पंचमुख लिङ्ग' कुषाणकाल से ही तैयार होने लगा था जिसका गुप्तयुग में विशेष प्रचार रहा। सम्भवतः पाँच तत्वों को लेकर पंचस्वरूप तैयार किया गया। तंत्रयान में भी पाँच ध्यानी बुद्ध इसी का बोधक समझा जा सकता है।

दक्षिण भारतीय शिवलिंगों में गुड्डीमल्ल (आन्ध्र प्रदेश) का मुखलिंग इतिहास तथा कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह विशाल शिवलिङ्ग पाँच फीट ऊँचा काले प्रस्तर का बना है जिसमें पीठ का अभाव है। उस लिङ्ग के निचले भाग में शिव की स्थानक प्रतिमा अप्समार के पीठ खड़ी है जो सम्पूर्ण लिङ्ग से सम्बद्ध उभरा हुआ है। सिरे भाग पर गोलाकार लिङ्ग में दोहरा कटाव दीख पड़ता है। इसी कारण इसे मुख-लिंग की श्रेणी में रखते है। लिंगपुराण में पंचमुखों के महत्व का वर्णन आया है। उनमें एक ऊपर तथा चार मानों चारों दिशाओं की ओर दृष्टि डाले हैं। महाभारत में दक्षिण दिशा में स्थित मुख को भंयकर कहा गया है। ऊपरी मुख को ईशान, पूर्वी को तत्पुरुष, दक्षिण मुख को अघोर, पश्चिमी मुख को वामदेव तथा उत्तर मुख को सद्यो-जात का नाम दिया गया है। उनके रंग के विषय में शास्त्र एकमत नहीं हैं।

लिङ्गोद्भव मूर्ति

शिवलिंग से उत्पन्न मनुष्य आकार में देवप्रितमा लिंगोद्भव मूर्ति कही जाती है। पौराणिक कथानक के आधार पर इसकी वास्तविकता प्रकट होती है। उसमें वर्णन आता है कि किसी समय ब्रह्मा तथा विष्णु में विवाद खड़ा हो गया कि सृष्टिकर्त्ता कौन है? दोनों देवतागण स्वाधिकार व्यक्त कर रहे थे कि उसी समय शिव अग्नि-स्तम्भ के रूप में प्रकट हुए। ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों स्तम्भ के ऊपरी तथा निचले भाग के अन्वे-षण में लगे पर किसी को सफलता न मिली। यही कथानक काँची, लाहौर तथा बृहदे-श्वर मंदिर (तंजौर) के प्रस्तर पर साकार प्रदर्शित है। इनमें प्रज्वलित अग्नि-स्तम्भ तो नहीं है, परन्तु पाषाण स्तम्भ के योनि स्थान से चतुर्भुजी शिव प्रतिमा प्रकट होती दृष्टिगोचर होती है। इलौरा के दशावतार गुहा में वैसी ही चतुर्भुजी प्रतिमा निर्मित है। पिछले हाथ में परशु तथा मृग हैं। तीसरा अभयमुद्रा और चौथा कट्यावलम्बित दशा में स्थित है। ब्रह्मा लिंग के ऊपरी भाग में तथा वराह मुखविष्णु नीचे की ओर दिखलाए गए हैं। दक्षिण भारत में ऐसी प्रतिमाओं की लोकप्रियता रही। कहीं पर ब्रह्मा को हंस पक्षी से तथा विष्णु को वराह मूर्ति से भी व्यक्त किया गया है। अजमेर की

लिंगोद्भव मूर्ति कुछ भिन्न है। वहाँ विशाल स्तम्भ पर शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु की आकृतियाँ खुदी हुई हैं। आन्ध्र प्रदेश के इलौरा गुहा में कैलाशनाथ मंदिर के बरामदा में दूसरे प्रकार की लिंगोद्भव मूर्ति उत्कीर्ण है। उस स्थान पर लिंग से उत्पन्न शिव मार्कण्डेय की रक्षा कर रहे हैं। कथानक इस प्रकार है कि मार्कण्डेय ऋषि शिवलिंग का पूजन कर रहे थे कि उसी समय उनकी आयु पूरी हो गई और यमराज उन्हें लेने चल पड़े। भक्त की रक्षा के निमित्त शिव उसी लिंग से उत्पन्न हुए और मार्कण्डेय को बचा लिया। प्रतिमा में मार्कण्डेय शिव-लिंग का आलिंगन करते दिखलाई पड़ते हैं। लिंग के समीप मनुष्य आकार की पूर्ण मूर्ति खड़ी है जिसका एक पैर लिंग के अन्दर तिरोहित मालूम पड़ता है। प्रतिमा के घुटने से नीचे का अंग लिंग के भीतर है। इसी आधार पर यह भी 'लिंगोद्भव' मूर्ति की श्रेणी में रक्खा गया है। दक्षिण में इलौरा तथा तंजोर की शिवमूर्तियों की ही प्रधानता है।

शिवप्रतिमा

इसकी चर्चा हो चुकी है कि कलाकारों ने लिंग, मुखलिंग तथा सम्पूर्ण प्रतिमा के क्रम को अपनाया था। यों तो कुषाण राजाओं के स्वर्णमुद्राओं पर शिव की आकृति खुदी है पर उसे प्रतिमा की संज्ञा नहीं दे सकते। सम्भवतः गुप्तकाल से शिव की पूर्ण प्रतिमा बनने लगीं।

पूजा तथा देवालय में स्थापित करने की दृष्टि से शिवलिंगों की जो महत्ता प्राप्त है वह शिवमूर्तियों को नहीं। शिवाख्यानों के आधार पर अनुग्रह एवं संहार प्रतिमाओं की कल्पना पुराणकारों द्वारा हुई है। इसमें अधिकांश शिवमंदिरों की भित्ति पर अलंकरण के रूप में प्रदर्शित की गई हैं। कैलाशनाथ मंदिर, इलौरा, एलिफेंटा गुहा, कांची का कैलासमंदिर तथा बृहदेश्वर मंदिर (तंजौर) के भित्तियों पर शिवमूर्तियाँ खोदी गई हैं जो शिव की विभिन्न लीलाओं से सम्बन्धित हैं (अनुग्रह अथवा संहार)। पुराणों में शिवमूर्तियों के दो वर्ग बतलाए गए है—(अ) घोर तथा (ब) अघोर (द्ववे तनू देवस्य घोरं अन्यां शिवं)। इसी अधार पर शैव कलाकारों ने प्रतिमा का निर्माण किया। घोर यानी संहार (रौद्र) रूप में राक्षसों का विनाश करते हुए देव विकराल भाव प्रदर्शित करते हैं। इसमें गोल आँखें, तृतीय नेत्र, लम्बी व कड़ी मूँछें, निकले दाँत, भयंकर चेहरा, विभिन्न विनाशक आयुध तथा मुण्डमाला आदि शैवमूर्ति की विशेषता है।

उग्रभाव के साथ देवता के विभिन्न नाम भी आगमों में उल्लिखित हैं। उनका विवरण अग्रिम पृष्ठों में उपस्थित किया जायगा।

अघोर यानी सौम्य (अनुग्रह) रूप में कल्याणकारक भाव प्रदर्शित हैं। इस अवस्था में देव को शिव के नाम से पुकारते हैं। शान्तभाव, इच्छित वस्तु का प्रदान, पार्वती के साथ सम्भाषण, योग तथा ज्ञान की शिक्षा आदि सद्भावना के साथ अनुग्रह प्रतिमा निर्मित की गई है।

पाँचवीं सदी के पश्चात् ऐसी शिव-प्रतिमाओं का निर्माण अधिक संख्या में होने लगा। इस प्रकार की मूर्तियों में देवता से सम्बद्ध कथानकों का प्रदर्शन दीख पड़ता

है। शिव-प्रतिमाओं के परीक्षण से ज्ञात होता है कि कतिपय मूर्तियाँ किसी पौराणिक कथानक से सम्बन्धित नहीं हैं। वे सभी 'शिव चन्द्रशेखर' के नाम से विख्यात हैं। इस श्रेणी में स्थानक (खड़ी) या आसन (बैठी) प्रतिमाओं की गणना की जाती है। साधारणतया इसमें शिव की पृथक् मूर्ति (Single icon) अथवा शक्ति (पार्वती) के साथ (Composite icon) बैठी प्रतिमा का निर्माण दीख पड़ता है। जैसे उमा-महेश्वर की मूर्ति सुखासन में प्रदर्शित है।

तीसरे वर्ग में शिव की उस प्रकार की प्रतिमाओं की गणना की जाती है जो दक्षिणामूर्ति तथा नृत-मूर्ति के नाम से सुप्रभेदागम (शैवागम) में उल्लिखित हैं। इनसे कथानक का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है किन्तु ये मूर्तियाँ शिव को अनेक कलाओं में प्रवीण (नृत्य आदि) घोषित करती हैं। शास्त्र तथा योग का प्रवचन भी उस देवता का प्रधान गुण माना गया है।

दक्षिण भारत में मध्ययुगी शिव-प्रतिमाओं का विशेष स्थान है जिनके सहारे शैवसिद्धान्तों का प्रतीकात्मक प्रदर्शन किया गया है। सदाशिव मूर्ति या महेश मूर्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना युक्तिसंगत होगा कि ये शुद्ध शैव सिद्धान्त के पवित्र उपदेशों को मूर्तिमान कर रहे हैं। इस प्रकार के विभिन्न मनुष्याकार प्रतिमाओं के प्रदर्शित या निर्मित होने पर मन्दिरों के मुख्य पूजन स्थान पर शिवलिंग ही स्थापित है जो भक्तों के ध्यान को आकर्षित करता है तथा उनकी भावना केन्द्रित हो जाती है। कुछ विद्वानों ने इस रीति के अनुसार खुदी शिवमूर्ति को वैष्णवधर्म के व्यूह सिद्धान्त के सम्बद्ध वासुदेव विष्णु की समता की है। किन्तु दोनों सिद्धान्तों तथा तत्सम्बन्धी प्रदर्शनों की तिथियों में अन्तर है। वैष्णव मत का व्यूह सिद्धान्त ईसवी पूर्व सदियों में ही ज्ञात था। ईसवी सन् के आरम्भ से प्रतिमा निर्माण (मनुष्याकार) के मार्ग में वैष्णव (तथा शैव मूर्तियों) का प्रदर्शन होने लगा जिनका व्यूह से कोई सम्बन्ध न था।

शिव-प्रतिमा के परीक्षण से ज्ञात होता है कि पारिवारिक देवता के रूप में इस देवता से सम्बन्धित अनेक आकृतियाँ हैं। मानव आकृतियाँ, सर्प, गन्धर्व, किन्नर, असुर, दैत्य, यक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल आदि के अवलोकन से भगवान् शिव के विशिष्ट गुणों का अनुमान लगाया जा सकता है। उसके त्रिनेत्र तीनों काल (वर्तमान, भूत एवं भविष्य) अथवा तीन प्रकृतिदेव-सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के द्योतक हैं। ललाट पर चन्द्रमा विनाश के साथ स्थिति एवं उत्पत्ति का परिचायक है। सर्प से कालचक्र का परिज्ञान होता है तथा भगवान् सदा मृत्यु से परे हैं। जटा वायु का प्रतिनिधित्व करती है। त्रिशूल से तीन गुणों का बोध होता है या यह कहा जा सकता है कि विश्व के तीनों कार्य—उत्पत्ति, संरक्षण तथा विनाश शिव में निहित हैं। शिव योगी के रूप में विनाश के पश्चात् जली राख (विभूति) को शरीर पर धारण करते हैं। वृषभवाहन शिव के विषय एवं काम पर विजयी होने की घोषणा करता है।

अनुग्रह अथवा सौम्य प्रतिमा

शिव प्रतिमा का निर्माण पूर्व मध्ययुग में अधिक संख्या में होने लगा। उनमें

अधिकतर पौराणिक कथाओं से सम्बन्धित हैं तथा व्याख्या या वर्णनात्मक मूर्ति (Narrative forms) के नाम से पुकारे जा सकते हैं। शिव की कतिपय ऐसी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनको किसी प्रकार के कथानक से सम्बद्ध नहीं करते। शैवागम के आधार पर वे 'शिव चन्द्रशेखर' की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। इन सभी प्रतिमाओं में शिव का शान्त, अनुग्रह या कल्याणकारक भाव व्यक्त हो रहे हैं। अतएव ऐसी मूर्तियों को सौम्य-प्रतिमा का नामकरण किया गया है। अनुग्रह प्रतिमा में खड़ी या बैठी प्रतिमाएँ भी निर्मित हैं। चन्द्रशेखर नामक प्रतिमा में शिव एकाकी हैं (Single form) अथवा कभी पार्वती के साथ खड़े हैं (Composite icon), अतएव सौम्य प्रतिमा स्थानक (खड़ी) तथा आसन (बैठी) उपविभाग में विभक्त की गई हैं।

स्थानक मूर्ति

चन्द्रशेखर प्रतिमा के सम्बन्ध में सुप्रभेदागमन में कथानक उल्लिखित है। जटा में चन्द्रमा की आकृति के कारण शिव 'चन्द्रशेखर' के नाम से विख्यात हुए। चन्द्रशेखर वस्त्ररहित मेरु पर्वत के मार्ग से भ्रमण कर रहे थे कि ऋषियों की पत्नियाँ प्रेमासक्त हो गईं। उससे क्रुद्ध होकर ऋषियों ने ऐसा यज्ञ का अनुष्ठान किया ताकि शिव की मृत्यु हो जाय। उस यज्ञकुण्ड से सर्प, मृग, अप्समार पुरुष, नन्दी, सिंह तथा परशु की उत्पत्ति हो गई। शिवजी ने सभी उत्पन्न जीवों का विभिन्न रूप से उपयोग किया। सिंह को मारकर बाघम्बर धारण किया। सर्प तथा मृग को हाथ में धारण किया। नन्दी को वाहन बनाया। अप्समार पुरुष को पैरों से कुचल दिया (नटराज प्रतिमा में वर्तमान)। इस प्रकार यज्ञस्थल से प्रगट वस्तु को अछूता न छोड़ा। इसी चन्द्रशेखर की सौम्य प्रतिमा भारतीय कला में निर्मित की गई है। जटा में चन्द्रमा सुशोभित है। जिस स्थान पर शिवमूर्ति एकाकी है वह 'केवल चन्द्रशेखर' कहलाया। जहाँ पार्वती के साथ खड़े हैं उसे उमासहित चन्द्रशेखर कहा जाता है। देवी को आलिंगन करने के कारण शिव को 'आलिंगन चन्द्रशेखर' का नाम भी दिया गया है। तंजौर के बृहदेश्वर मंदिर में ऐसी ही सुन्दर प्रतिमा खुदी है। दक्षिण भारत की इन मूर्तियों में शिव के चार हाथ हैं। पिछले दो हाथों में परशु तथा मृग है। शेष दो अभय तथा वरद मुद्रा में हैं। उत्तरी भारत में उड़ीसा से भुवनेश्वर स्थित ब्रह्मेश्वर मन्दिर में एक 'केवल चन्द्रशेखर' की मूर्ति उपलब्ध हुई है जिसमें प्रभामण्डल के साथ सुन्दर जटामुकुट दीख पड़ता है। मध्य-युग की प्रतिमाओं की तरह शिवमूर्ति दोहरे कमलासन पर खड़ी है। पार्श्व में दो स्त्रियाँ पात्र (विषपान) लिये खड़ी है। चेहरे की बनावट से शान्त तथा गम्भीर भाव प्रकट हो रहे हैं। वास्तव में भारतीय कला में ऐसे सुन्दर उदाहरण कम मिलते हैं। उत्तरी भारत में ऐसी प्रतिमाओं का अभाव-सा है।

मध्ययुगी चन्द्रशेखर प्रतिमा की समता उत्तर भारत से उपलब्ध 'हर-गौरी' की स्थानक मूर्ति से किया जा सकता है। गुप्तयुग में ऐसी प्रतिमा निर्मित होती रही। उस मूर्ति में शिव आकृति की बाईं ओर उमा दर्पण लिये खड़ी है। मुकुट गुप्तशैली

का है। ऐसी प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है जो कला की दृष्टि से सर्वोत्तम मानी जाती है। उस युग्म प्रतिमा में नीलोत्पल दीख पड़ता है। उमासहित शिव नन्दी पर झुके दृष्टिगोचर होते हैं।

आसन मूर्ति

सौम्य स्वरूप को व्यक्त करती शिव-प्रतिमा बैठी दशा में भी प्राप्त हुई है। शिव भद्रपीठ पर सुखासन में बैठे हैं। त्रिनेत्र तथा चार हाथ दीख पड़ते हैं। खड़ी प्रतिमा की तुलना में बैठी प्रतिमा का उत्तरी भारत में अधिक प्रचार है। कुषाण-युगी प्रतिमा में शिव नन्दी की पीठ पर सुखासन मुद्रा में बैठे हैं; उसमें तीन सिर तथा चार हाथ प्रदर्शित है। सुन्दर जटा की बनावट, गर्दन से अग्नि ज्वाला तथा सिरे के चारों तरफ प्रभामण्डल इसकी विशेषता है।

इसके पिछले दो हाथों में त्रिशूल तथा पाश वर्तमान है। एक अगला हाथ नन्दी के गर्दन पर तथा दूसरा गदा की मूठ पर स्थित है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) की तीन सिर वाली शिव-प्रतिमा दोहरे कमलासन पर बैठी है। अर्द्धपद्मासन की स्थिति में पार्वती को आलिंगन कर रहे हैं।

आसन मूर्तियों में उत्तर से दक्षिण भारत की शिव-प्रतिमा में कुछ विशेषता है। दक्षिण की मूर्ति बैठी दशा में उमारहित प्रदर्शित है जिसमें नया भाव व्यक्त किया गया है। उसको 'दक्षिणामूर्ति' कहते हैं। क्योंकि शिव की मुखाकृति दक्षिण दिशा में है। भगवान् शिव ऋषियों तथा भक्तों को योग एवं ज्ञान की शिक्षा दे रहे हैं। उत्तर प्रदेश के झाँसी स्थित दशावतार मंदिर के प्रदर्शनों में 'नर-नारायण' की ऐसी ही मूर्ति खुदी है। दक्षिण के काँची से 'दक्षिणामूर्ति शिव' की प्रतिमा उपलब्ध हुई है। उत्तर प्रदेश के अहिच्छत्र नामक (जिला बरेली) स्थान से प्राप्त मिट्टी के ठीकरे पर शिव का चित्र बना है जिसमें शिव योगी के रूप में उपासकों को ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। इस प्रकार की चतुर्भुजी मूर्ति के अगले दो हाथ व्याख्यान मुद्रा में हैं। पिछले हाथों में माला तथा पत्तों का गुच्छा दीख पड़ता है।

ऊपर के दोनों आसन मूर्तियों में शिव एकाकी हैं। उनकी शक्ति (उमा) को स्थान नहीं दिया गया है। भारत में उमासहित बैठी शिव-प्रतिमा (हर-गौरी) का पूजन अधिक होता है।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार पार्वती शिव के बाएँ जंघे पर स्थित हैं। बाएँ हाथ से शिव पार्वती के शरीर का आलिंगन कर रहे हैं तथा दाहिने में त्रिशूल दिखलाई पड़ता है। प्रतिमा की चौकी पर नन्दी तथा सिंह की आकृतियाँ क्रमशः शिव तथा पार्वती के वाहन रूप में खुदी हैं। शाक्तमत वाले उमासहित शिव (उमा-महेश्वर) की पूजा करते हैं। तांत्रिक लोग त्रिपुरसुन्दरी की उपासना करते हैं जो पार्वती का दूसरा नाम है। इस प्रकार की सुखासन में आलिंगन करते उमा-महेश्वर (शिव-पार्वती) की प्रतिमा उत्तर भारत में अधिक मिली हैं। इलौरा, अयहोल, धारवार, अजमेर तथा पूर्वी भारत से भी ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार उमा-महेश्वर प्रतिमा में देवी को सदा बायीं ओर स्थान दिया गया है।

विष्णुधर्मोत्तर में पार्वती को आलिंगन करते शिव का वर्णन मिलता है। ऐसी परिस्थिति में (संयुक्त प्रतिमा) शिव अपने भक्तों पर अनुग्रह भी करते हैं। जिस कारण विभिन्न नामों से विख्यात हैं।

(१) चण्डेशानुग्रहमूर्ति—शिव-पार्वती सुखासन अवस्था में बैठे हैं। शिव का दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है तथा बायाँ चण्डेश के सिर पर स्थित है।

(२) विष्णु—अनुग्रह मूर्ति—शिव की दया से विष्णु को चक्र का दान मिला। महाभारत में शिव की महिमा का वर्णन करते हुए ऐसा विवरण मिलता है कि दैत्यों को मारने में विष्णु सफल न हो सके। उन्होंने शिव की प्रार्थना की और चक्र प्राप्त कर राक्षसों का विनाश कर डाला।

(३) रावणानुग्रह मूर्ति—इलौरा (आंध्र प्रदेश) गुहा में कैलाशनाथ मन्दिर के दीवाल पर एक कथानक प्रदर्शित किया गया है। नीचे दशानन की आकृति है तथा शिरोभाग में कैलास पर्वत पर बैठे उमा-महेश्वर की युगल मूर्ति है। रावण कैलास पहाड़ को हिलाने का प्रयत्न कर रहा है। पार्वती भय के कारण शिव से चिपट रही हैं। अन्य दास-दासियाँ भागते दिखलाई पड़ते हैं। भगवान् की दया से ही रावण दशानन हो सका।

(४) किरातार्जुन मूर्ति—महाभारत में यह कथानक उल्लिखित है कि किरात को मारने के लिए अर्जुन ने शिव की अर्चना की। जब भगवान् ने पाशुपत अस्त्र अर्जुन को भेंट किया तभी वह सफल हो सका। इन सभी अनुग्रह प्रतिमाओं में उमा-महेश्वर के युगल प्रतिमा का ही वर्णन है। उपासक का ध्यान वहीं केन्द्रीभूत हो जाता है। अनुग्रह मूर्तियों के अन्तर्गत शिव के नटराज मूर्तियों का वर्णन समीचीन होगा। परन्तु इसे नृत्य प्रतिमाओं के प्रसंग में वर्णित किया जायगा।

(५) सदाशिव मूर्ति—शिव की सौम्य प्रतिमा के प्रसंग में सदाशिव का नामोल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। दसवीं सदी में पूर्वी भारत में सेनवंशी राजा शासन कर रहे थे। बंगाल में उनका आगमन करनाट देश (दक्षिण भारत) से हुआ था जहाँ शैवमत की प्रधानता थी। अतएव सेन राजा शिव के भक्त प्रसिद्ध हो गये और शिव-प्रतिमा के निर्माण में सहयोग दिया। इन्हीं शासकों ने पचमुख सहित दशभुजी शिव आकृति को अपने दानपत्रों की मुहर में स्थान दिया जिसे सदाशिव का नाम दिया जाता है। सदाशिव-पूजा का प्रचार बंगाल में हुआ। गरुड़पुराण तथा उत्तर कामिकागम में इस देव का विस्तृत वर्णन मिलता है। सदाशिव की बैठी मूर्ति के दस हाथों में दो वरद तथा अभय मुद्रा में है। शेष में शक्ति, त्रिशूल खट्वांक, सर्प, अक्षमाल, डमरू, नीलोत्पल तथा बीजपूर विद्यमान हैं। विद्वानों का मत है कि शिव ने पाँच मुखों से सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान से भक्तों के उद्धार के लिए बीस तंत्रों का आविर्भाव किया (देखिये—भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ५५०)।

रौद्र अथवा संहार प्रतिमा

ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों में शिव के उग्र रूप को रुद्र का नाम देते हैं। रुद्र की

उपासना वैदिक काल से ही इस भारतभूमि में प्रचलित है। यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय तथा तैतिरीय आरण्यक (१०।१६) में समस्त जगत रुद्र रूप बतलाया गया है (सर्वो रुद्रः तस्मै रुद्राय नमो अस्तु)। भगवान् शिव सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं। रुद्र जगत के संहारकर्ता (प्रलयकर्त्ता) प्रसिद्ध हैं। इस देवता का प्रमुख कार्य दुष्ट तथा राक्षसों का दमन करना था जिसके सम्बन्ध में अनेक कथानक कहे गये हैं। शिव की घोर (संहार) प्रतिमाएँ, भयंकर चेहरा, गोल आँखें, कड़ी मूँछे, लम्बे दाँत, शिरोभाग पर कंकाल, गले में मुण्डमाल तथा विनाशक आयुधों के सहित कला में प्रदर्शित हैं। यों तो पुराणों में अनेक उग्र (रौद्र) मूर्तियों का वर्णन है, किन्तु प्रस्तुत निबंध में प्रधान मूर्तियों का विवरण उपस्थित किया जायेगा।

(१) कामान्तक मूर्ति—आगम ग्रंथों में शिव के योगी दक्षिणामूर्ति का वर्णन आता है जिसके सामने कामदेव की आकृति खुदी है जो शिव की दृष्टिमात्र से भस्म हो जाता है। काम के चित्र का विशेष वर्णन मिलता है। कलात्मक नमूनों में सुन्दर चेहरा, सुनहले रंग का शरीर, आभूषणों से सुसज्जित तथा हाथों में काम पाँच पुष्प का बाण धारण किये हैं। जिनके नाम हैं—लम्बिनी, तापिणी द्राविणी, मारिणी तथा बेदिनी। काम की पत्नी रति तथा साथी वसन्त समीप में स्थित दीख पड़ते हैं। दक्षिण भारतीय कला में यह सम्पूर्ण कार्य तीन भागों में दिखलाया गया है। मन्दिर के एक ताख पर काम तथा रति की आकृति है जिसमें रति भय से लिपट गयी है। उसी के साथ पार्वती अंजलिमुद्रा में चित्रित हैं। मंदिर के मध्य ताख पर शिव की मूर्ति साधारण स्थिति में (योगासन में नहीं) मिलती है जिससे ध्यान-भंग की कल्पना स्वतः सिद्ध होती है। तीसरे ताख पर कामदेव को भस्म करते हुए शिव की उग्र प्रतिमा है। इस प्रकार कामान्तक रुद्र मूर्ति की सार्थकता प्रकट हो जाती है।

(२) गजसहार मूर्ति—भगवान् शिव को कृतवास (वस्त्र सदृश चमड़ा) के विशेषण से भी उल्लेख किया जाता है, जिस अवस्था में वह हाथी के चमड़े को लपेटे दिखलाई पड़ते हैं। कूर्मपुराण में इस कथानक का वर्णन आया है कि भक्त को मारने के लिए जिस समय राक्षस हाथी के वेष में आता है, भगवान् रुद्र उसे नष्ट कर डालते हैं। वराहपुराण में भी गजासुर की कथा वर्णित है। शिल्परत्न में इस देवता के चार या आठ भुजाओं का उल्लेख मिलता है। चतुर्भुजी प्रतिमा में एक हाथ में पाश तथा दूसरे में हाथी का चमड़ा। अन्य दो हाथों में हाथी के दाँत। अष्टभुजी प्रतिमा में त्रिशूल, डमरू, पाश तथा चौथे में चमड़ा है। अन्य हाथों में कपाल तथा हाथी के दाँत दीख पड़ते हैं। इसमें देवता का पैर हाथी के सिर पर स्थित है। दक्षिण भारत के मैसूर (अमृतेश्वर मंदिर), तंजौर (दरसूरम्) आदि स्थानों से गजसंहार-मूर्ति प्राप्त हुई है। सर्वत्र राक्षस को विनाश करते, शिव का उग्र रूप दिखलाई पड़ता है। वहाँ रुद्र हाथी के सिर पर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। गजासुर को मारने के पश्चात् हाथी के चमड़े को दो हाथों से ऊपर उठाए रुद्र की प्रतिमा तैयार की गई है।

(३) त्रिपुरान्तक मूर्ति—इस सम्बन्ध में कथानक है कि शिव ने तीन असुरों को एक साथ नष्ट किया था जो धातुनिर्मित दुर्ग में रहते थे। महाभारत में इस का विस्तृत विवरण मिलता है। ब्रह्मा के वरदान से तीन राक्षस एक स्थान में निवास करते रहे जो सैकड़ों वर्षों के पश्चात् एक दुर्ग बन गया। तीनों असुर ऋषियों को सताया करते थे। अंत में ब्रह्मा के आदेश से देवताओं ने शिव की प्रार्थना की। महादेव ने उन्हें नष्ट करने का वचन दिया। इसी का प्रदर्शन कला में मिलता है। इलौरा के कैलाशनाथ मंदिर में त्रिपुरान्तक मूर्ति खुदी है। उसे देखने से उग्र स्वरूप स्पष्ट प्रकट हो जाता है। कांची के अष्टभुजी मूर्ति में मुण्डमाला, ललाट पर चन्द्रमा, लाल रंग का चेहरा, तीसरे नेत्र तथा बाईं ओर शक्ति की आकृति दृष्टि-गोचर होती है। खट्वाङ्ग, खेटक, खड्ग, कपाल, त्रिशूल, अंकुश, धनुष एवं बाण आदि (दशभुजी में सारग तथा पाश भी रहता है) आयुध हाथों में वर्तमान हैं। कैलाशनाथ मंदिर में शिव के दो हाथों में धनुष-बाण है तथा रथ पर खड़े हैं। कांची में अष्टभुजी प्रतिमा रथ पर बैठी है तथा ब्रह्मा सारथी का काम कर रहे हैं। तंजौर के बृहेश्वर मंदिर से कांस्य प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है जिसमें शिव कुशल धनुषधारी प्रकट होते हैं। इन्हीं बाणों से तीनों असुरों का विनाश हुआ।

(४) अन्धकासुर-वध मूर्ति—अन्धकासुर को नष्ट करने के कारण रुद्र प्रतिमा को यह नाम दिया गया। दक्षिण भारत के इलौरा तथा एलिफंटा (बम्बई के समीप टापू) की गुहाओं में केन्द्रित स्थान पर शिवलिंग स्थापित है तथा चारों तरफ विस्तीर्ण ताख अथवा बरामदे में अन्य प्रतिमाएँ निर्मित है। इस प्रतिमा में अन्धक राक्षस को पदाक्रान्त करते शिव की अशान्त मूर्ति प्रदर्शित है। उसके हाथों में तलवार तथा खून का प्याला विशेष उल्लेखनीय है। कैलाशनाथ मंदिर तथा दशा-वतार गुहा (इलौरा) मे इस उग्र रूप की मूर्ति खुदी है।

(५) भैरव प्रतिमा—यह मूर्ति भी शिव के घोर भावना को प्रकट करती है। अधिकतर नग्न प्रतिमा प्राप्त होती है। खड़ाऊँ तथा कुत्ता की स्थिति आवश्यक है। विष्णुधर्मोत्तर में वर्णन आया है कि भैरव मूर्ति के गले में मुण्डमाल रहता है। बहुभुजी प्रतिमा मे अनेक अस्त्र-शस्त्र विद्यमान हैं। भैरव के सिर की जटा से अग्नि-ज्वाला निकल रही है। गोल आँखें, बड़ी नासिका, सर्पसहित तथा काले शरीर युक्त प्रतिमा बनी है। वाराणसी में भैरव 'कालभैरव' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यमराज (काल) भी इनसे काँपता है। उत्तरी भारत में यही लोकप्रिय प्रतिमा है। भैरव की चतुर्भुजी प्रतिमा, जटामुकुट के साथ तथा श्वानसहित स्थानक स्थिति में भी मिलती है। यह नग्न प्रतिमा चतुर्भुज मंदिर, खजुराहो के बाहर दीवाल पर खुदी है। दसवीं सदी की इस भैरव प्रतिमा के हाथों में नरमुण्ड तथा तलवार स्पष्ट दीख पड़ती है।

(६) कालारि मूर्ति—इलौरा के कैलाशनाथ मंदिर के बरामदे में शिवलिंग के साथ शिव की उग्र प्रतिमा प्रदर्शित है जो मार्कण्डेय की यमराज (काल) से रक्षा कर रही है। इसी कारण इसका नाम काल + अरि पड़ा। दशावतार गुहा (इलौरा)

में भी एक अन्य प्रतिमा प्रदर्शित है। दक्षिण भारत के तंजोर से प्राप्त मूर्ति में शिव यमराज को बाएँ पैर से कुचल रहे हैं जो सम्मुख पृथ्वी पर पड़ा है। इस रीति से कथानकों के प्रदर्शन के निमित्त कलाकारों ने अथक परिश्रम किया। आगम ग्रन्थों तथा पौराणिक कथानक को लेकर अनेक संहार प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। उपरि-लिखित प्रधान रौद्र प्रतिमाएँ शिव के घोर भावना को व्यक्त करती हैं। इन प्रदर्शनों में शत्रु को विनष्ट करने के हेतु भगवान् रुद्र के अनेक हाथ आयुध सहित खुदे हैं। भयंकर रूप की अभिव्यक्ति कारणवश की गई थी।

नृत-मूर्ति

शिव के सौम्य प्रतिमाओं में नृत मूर्ति की गणना होती है किन्तु उसका दूसरा पक्ष (कठोर रूप) भी सामने आता है। भगवान् शिव के नाच में ताल एवं लय तथा गान का अभाव रहता है अतएव उसे नृत्य शब्द से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। भारतीय शास्त्रों में शिव नृत कला में कुशल तथा आचार्य कहे गये हैं। भरत नाट्यशास्त्र में एक सौ आठ प्रकार का नृत्य वर्णित है। दक्षिण भारत के चिदम्बरम् स्थित नटराज मंदिर के गोपुरम् पर सभी नृत्यों का प्रदर्शन है। संगीत के तीन अंगों—वाद्य, गीत तथा नृत्य में अन्तिम रूप से नृत्य की प्रधानता मानी जाती है क्योंकि इसमें दोनों वाद्य तथा गान का मिश्रण रहता है। इसीलिए मध्य-युगी मंदिरों में देवता के सम्मुख नृत्य के निमित्त 'नट-मण्डप' का निर्माण किया गया। दक्षिण में वह रजत तथा कनकसभा के नाम से विख्यात है। शिव का नाच (नृत) इससे भिन्न कोमल या कठोर भाव को प्रकट करते प्रदर्शित किया गया है। अतः शिव नृत को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है—(१) कोमल (ललित) या सौम्य, (२) ताण्डव (कठोर)। प्रथम नृत शिव के कल्याणकारक तथा शांत भाव का द्योतक है। प्रसन्न मुद्रा में नृत की अभिव्यक्ति एक दार्शनिक महत्त्व रखती है। ललित नृत में शिव के दोनों पैर पीठ (आसन) पर स्थित नहीं हैं। दाहिना पैर अप्समार (पापी) की पीठ पर रक्खे हैं तथा दूसरा ऊपर उठा हुआ है। देवता के चार हाथ विभिन्न मुद्रा में दिखलाई पड़ते हैं। अगला बायाँ 'गजहस्त' दशा में है जो उठे पैर को लक्षित करता है। दाहिना अभय मुद्रा में स्थित है। पिछले दो हाथों में डमरू तथा अग्निकुण्ड दृष्टिगोचर हो रहे हैं। शिव के इस स्वरूप को दार्शनिकों ने विचित्र प्रकार से वर्णित किया है। इस विवेचन से दार्शनिक भावना पर प्रकाश डाला गया है। डमरू से सृष्टि-रचना का विचार उपस्थित होता है। अभय मुद्रा में हाथ मानव की रक्षा का भाव सामने प्रस्तुत करता है। अग्निकुण्ड की स्थिति अग्निविनाश अथवा ज्ञान की ज्वाला की भावना प्रदर्शित करती है। गज-हस्त भुजा पैर को (उठाए हुए) लक्षित कर शरणागत के विचार को व्यक्त कर रहा है। जो भक्त शिव की शरण में जायेगा वह संसार के बंधन से मुक्त होगा तथा सदा अभय रहेगा। शिव के पैर के नीचे अप्समार (पापी या दुष्ट पुरुष) अज्ञान का प्रतीक है। भगवान् उसे पैरों से कुचल रहे हैं। यानी अज्ञान का नाश कर ज्ञान

(अग्निज्वाला द्वारा) का प्रसार करते हैं। इस प्रकार भगवान् शिव के उपरिलिखित पाँच कृत्य (सृष्टि-रचना, मुक्ति, अभय, अज्ञान का विनाश एवं ज्ञान-प्रसार) इस प्रतिमा-नृत मूर्ति के द्वारा प्रदर्शित हो रहे हैं। कलाकार की कुशलता इसमें परिलक्षित होती है। हाथ तथा पैरों की अवस्था के अतिरिक्त भगवान् शिव का तृतीय नेत्र (ज्ञान नेत्र) भी दिखलाया गया है। जटा-मुकुट, माला, यज्ञोपवीत तथा उरस सूत्र भी यथास्थान प्रदर्शित हैं। शरीर पर बाघम्बर धारण किये हैं तथा ओठों पर मृदुल मुसकान है। कुछ मूर्तियों में शरीर के चारों ओर वृत्त के रूप में प्रभामण्डल बनी दीख पड़ती है। दक्षिण भारत की धातु प्रतिमा में शिव एकाकी हैं परन्तु उत्तर भारत की पाषाण मूर्ति के कतिपय दृष्टांत में युग्म प्रतिमा भी वर्तमान है। इस प्रकार की प्रतिमा में नटराज की दाहिनी ओर पार्वती खड़ी हैं।

भारत में पाँच प्रकार की नृत-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

(१) दक्षिण भारतीय शैली में धातु प्रतिमा की बहुलता है। पाषाण मूर्ति नहीं के बराबर है। यह प्रतिमा पूर्णतया दार्शनिक भाव प्रदर्शित करती है। इसमें अप्समार (कुकर्म का प्रतीक पुरुष) की पीठ पर शिव का नृत हो रहा है। डा० कुमार-स्वामी ने इसके द्वारा व्यक्त उन्नत एवं विशिष्ट विचारों का विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थ में (Dance of Siva) किया है। दक्षिण भारत की विविधता उत्तर में अज्ञात है।

(२) उत्तर भारतीय शैली में नटराज शिव की एकाकी मूर्ति कम संख्या में प्राप्त हुई है। उत्तर भारत के नृत प्रतिमाओं में अप्समार का अभाव है। नटराज के साथ शिव के वाहन (नन्दी) अथवा पार्वती की प्रतिमा निर्मित है। पश्चिम भारत की मूर्तियों में नटराज नन्दी के समीप नृत कर रहे हैं। बादामी, इलौरा तथा ग्वालियर की प्रतिमाओं में भी नन्दी नटराज के समीप खड़ा दीख पड़ता है।

(३) पूर्वी भारत में नन्दी के पीठ पर नृत करते नटराज की आकृति बनी है। इस प्रकार की प्रतिमा में नटराज की दश भुजाएँ हैं। नटेश के हाथ में वीणा है, नन्दी ऊपर की ओर स्वामी का मुख देख रहा है तथा वह भी नाचने की मुद्रा में है। पूर्वी भारत में शैवमत का अधिक प्रचार था। पालनरेशों के पश्चात् सेन शासक करनाट देश से आकर बंगाल में बस गये थे। उनका राजधर्म शैवमत ही था। अतएव पूर्वी भारत में विविध प्रकार की शिव प्रतिमाएँ निर्मित हुई। सदाशिव का आरम्भ सेनकाल में ही हुआ। नटराज की विशेष प्रकार की मूर्ति तैयार की गई थी। इस स्थान की नटराज प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर युगल मूर्ति है (Composite icon) जिसमें पार्वती तथा गंगा (दोनों शक्तियाँ) अपने वाहन (क्रमशः सिंह तथा मकर) पर खड़ी लास्य नृत का आनन्द ले रही है। मत्स्यपुराण (अध्याय २५९) में ऐसी नटराज प्रतिमा का विवरण मिलता है। पूर्वी भारत के सेनवंशी राजा शैव मतानुयायी थे जिनके समय में सदाशिव की दशभुजी प्रतिमाएँ तैयार की गई। सम्भवतः उसी रीति को नटराज प्रतिमा में भी अपनाया गया। ढाका संग्रहालय में नन्दी के समीप (पीठ पर नहीं) नृत करती शिवमूर्ति सुरक्षित है।

(४) उपरिलिखित नटराज प्रतिमाओं में किसी-न-किसी आधार (अपस्मार या नन्दी) पर शिव नृत करते प्रदर्शित हैं। किन्तु ऐसी भी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जिसमें शिव पृथ्वी पर ही नाच रहे हैं। मध्ययुग में बहुभुजी प्रतिमाओं का प्रचार हो गया। अतः इस प्रकार की मूर्तियों में भगवान् शिव बहुभुजी प्रदर्शित हैं। पूर्वी भारत के अतिरिक्त मध्यभारत, रींवा तथा खजुराहो से भी बहुभुजी नटराज प्रतिमा प्रकाश में आई है। उन हाथों में नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए त्रिशूल, पाश, डमरू, कपाल, अग्नि, घंटा आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। कुछ हाथ अभय मुद्रा या गजहस्त रूप में प्रदर्शित हैं। खजुराहो की आठभुजी तथा रींवा की सोलहभुजी नटराज मूर्ति पृथ्वी पर नृत कर रही है। बादामी गुहा (दक्षिण भारत) से ऐसी प्रतिमा का पता लगा है।

(५) दक्षिण भारत के होयसलेश्वर मंदिर तथा दारसूरम् से नटराज की नयी प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसमें शिव हाथी की पीठ पर नृत कर रहे हैं।

धातु प्रतिमा

प्रस्तर के अतिरिक्त धातु प्रतिमाओं की बहुलता दक्षिण भारत में दीख पड़ती है। दसवीं सदी से चोलनरेशों ने ताँबा या कांस्य प्रतिमा का निर्माण कराया था, वैसा स्वरूप पाषाण मूर्ति में कम ही उपलब्ध हुआ है। धातु प्रतिमा के प्रत्येक उदाहरण में अपस्मार (पातकी) विद्यमान है। शिल्परत्न में प्रभामण्डल का वर्णन मिलता है। इस कारण चोलकालीन नटराज धातु प्रतिमाओं में पीठ से युक्त प्रभामण्डल शरीर के चारों तरफ विस्तृत दीख पड़ता है। मद्रास संग्रहालय में नटराज धातु प्रतिमाओं की प्रधानता है। दक्षिण भारत में विभिन्न रूप में (चतुर कटिसन ललित ललाट तिलक आदि) नृत मूर्ति का निर्माण हुआ था किन्तु समस्त 'नटराज' में समाहित हो गईं। श्री गोपीनाथ राव का मत है कि दक्षिण के मंदिरों में नटराज के लिए पृथक् स्थान निर्धारित है जिसे 'नटनसभा' अथवा 'सभा' कहते हैं। विद्वानों का मत है कि नृत प्रतिमा का मूल यह विचार है कि भगवान् शक्ति की सुर सहित प्राथमिक रूप से अभिव्यक्ति करते हैं। भक्तों को आह्लाद प्रदान करते हैं। उसी शक्ति की प्राप्ति के लिए उपासक तल्लीन हो जाते हैं। कथासरित्सागर में शिव के सांध्यनृत का वर्णन मिलता है।

ताण्डव नृत

भगवान शिव के लास्य नृत का वर्णन हो चुका है जिसमें सौम्य रूप में शक्ति सहित नृत का विवरण मिलता है। अनुग्रह स्वरूप नटराज प्रतिमाओं की अधिकता हैं। दक्षिण भारत में इसी की लोकप्रियता है। भैरव के सदृश तामसिक रूप को प्रकट करने वाला ताण्डव नृत कहा जाता है। श्मशान में विश्व-प्रलय के पश्चात् भैरव नृत करते हैं। भयंकर रूप तथा भस्म लगाये दशभुजी प्रतिमा नृत करते प्रदर्शित की जाती है। दक्षिण भारत में इसका दृष्टांत पाया जाता है। इलौरा तथा एलिफेंटा से ताण्डव शिव की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। भुवनेश्वर में भी ऐसी ही मूर्ति उपलब्ध हुई हैं।

तात्पर्य यह है कि नृत करते नटराज की प्रतिमा सौम्य भाव को प्रकट करती है किन्तु भैरव के स्वरूप में ताण्डव नृत का प्रदर्शन करते तामसिक मूर्ति निर्मित मिलती है।

विशिष्ट शैव प्रतिमाएँ

शांत तथा रौद्र मूर्तियों के अतिरिक्त पौराणिक कथानक के आधार पर कलाकारों ने शिव की अनेक प्रतिमाएँ तैयार कीं जो वर्णनात्मक शैली की हैं। प्रत्येक मूर्ति किसी-न-किसी विशेष कार्य से सम्बन्धित है। उन प्रतिमाओं में छः मूर्तियों को महत्वपूर्ण समझकर निम्न विवरण उपस्थित किया जा रहा है—

(१) गंगाधर मूर्ति—शिव द्वारा गंगा को जटा में धारण करने की कथा विष्णु तथा भागवतपुराणों में कही गई है। सगर के पुत्रों ने यज्ञ किया। उनका अश्व पाताल में जाकर रुक गया। राजपुत्रों को भ्रांति हुई कि कपिल ऋषि ने उसे रोक रक्खा है। उनके कटु-व्यवहार से कपिल क्रुद्ध हुए और उनके शाप से सभी राजा भस्म हो गये। उस समय अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने कल्याण का उपाय बतलाया कि गंगाजल से ही राजपुत्र जीवित हो सकेंगे। इसी कार्य से निमित्त भगीरथ ने शिव से प्रार्थना की और आकाश से गंगा शिव के जटा में उतरी। उसी से गंगा का नाम भागीरथी पड़ा। कला में इसी कथानक को पाषाण पर खोदकर प्रदर्शित किया गया है। शिव खड़े हैं। समीप में पार्वती को एक हाथ से आलिंगन कर रहे हैं। दूसरे से उमा की ठुड्डी पकड़े हैं। सिर पर जटा है जिस पर गंगा की मुखाकृति दिखलाई पड़ती है। गंगा की उपस्थिति से द्वितीय पत्नी की भावना के कारण उमा का चेहरा मलिन है। सम्भवतः शिव पार्वती को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दक्षिण भारत में ऐसी प्रतिमा समाज में पूजित होती है। ऐलिफेंटा गुहा की दीवाल पर, महाबलिपुरम् के विशाल चट्टान पर, इलौरा के कैलाशनाथ मंदिर के बरामदे में तथा काँची के प्रस्तर पर गंगाधर प्रतिमा खुदी हुई है। तंजौर से कांस्य की भी ऐसी प्रतिमा मिली है। दक्षिण भारत में गंगाधर प्रतिमा अधिक संख्या में प्राप्त हुई है।

(२) अर्द्धनारीश्वर प्रतिमा—इस प्रतिमा के नाम से ही आधा नारी तथा आधा पुरुष की आकृति का परिज्ञान होता है। यह तो सृष्टि का प्रतीक है तथा पुरुष-प्रकृति के मिश्रित स्वरूप यानी परमब्रह्म की याद दिलाता है। कालिदास के कथन "जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ" का साक्षात् दृष्टांत है। शिवपुराण की कथा का प्रस्तर पर प्रदर्शन है। ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना के साथ प्रजापति को पैदा किया। परन्तु उनको यह ज्ञान हुआ कि नारी के बिना पुरुष सृष्टि की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। तब महेश्वर की प्रार्थना की जो अर्द्धनारीश्वर के रूप में प्रकट हुए। एलिफेंटा के गुफा में अर्द्धनारीश्वर की विशाल प्रतिमा है। प्रतिमा के बाएँ भाग में नारी के केश-ग्रंथि, केयूर, मेखला, नूपुर तथा स्तन स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। पुरुष (दाहिने) भाग में जटा-मुकुट, हाथों में परशु, सर्प तथा वीणा विद्यमान है।

अर्द्धनारीश्वरोदेव कथ्यते लक्षणान्वितः।
दक्षिणं पुरुषाकारं वामं योषिन्मयं वपुः॥ (शिल्परत्नम्)

इससे शैव तथा शाक्त मतों का सम्मिश्रण भी सिद्ध होता है। दक्षिण भारत के बृहदेश्वर मंदिर तथा दारसुरम् में अर्द्धनारीश्वर की बहुभुजी प्रतिमा विद्यमान है। तीन सिर, आठ भुजाएँ तथा विस्तृत प्रभामण्डल दारसुरम् की प्रतिमा की विशेषता है। एलिफेंटा, बादामी, काँची, महाबलिपुरम् तथा मदुरा के कलात्मक नमूने में एक सिर तथा दो हाथ हैं जो एक व्यक्ति के शरीर पर पाया जाता है। खजुराहो से भी ऐसी ही प्रतिमा मिली है।

मध्ययुग के प्रतिहार लेख (ए० इ०, भा० १९, पृ० १७५) तथा बंगाल के सेन शासकों के अभिलेखों (वही, भा० १४, पृ० १५९) में अर्द्धनारीश्वर की स्तुति की गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में शैव कलाकार की ऐसी प्रतिमा का निर्माण करते रहे। मध्य भारत से ११वीं सदी की अर्धनारीश्वर प्रतिमा के चार हाथ दिखलाए गए हैं। बायाँ भाग नारी का है जिसके कानों में कुण्डल तथा हाथ में दर्पण है। दाहिना भाग पुरुष का है जिसके हाथ में त्रिशूल विराजमान है।

(३) कल्याणसुन्दर मूर्ति—शिव की वर्णनात्मक प्रतिमाओं में कल्याणसुन्दर मूर्ति अत्यन्त आकर्षक तथा प्रसिद्ध है। इसमें शिव-पार्वती के विवाह का दृश्य प्रदर्शित है। दक्ष की पुत्री सती पार्वती के रूप में पैदा होकर शिव से विवाह के लिए तपस्या करने लगीं। देव ने ब्राह्मणवेष में पार्वती की परीक्षा ली। वह ब्राह्मण नदी में गिर गया और सहायता के लिए आर्त्तनाद किया। पार्वती ने उसे उठाने से इन्कार कर दिया क्योंकि उसका प्रण था कि पार्वती के हाथ शिव के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकते।

इलौरा तथा एलिफेंटा गुफा की दीवाल पर यह दृश्य विस्तृत रूप से खुदा है। ब्रह्मा, विष्णु, गन्धर्व, अष्टपाल आदि देवता की आकृतियाँ भी खुदी हैं। हिमालय पार्वती को शिव के हाथ में अर्पित (कन्यादान) कर रहा है। इसमें पाणि-ग्रहण का दृश्य स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है। ब्रह्मा पुरोहित के रूप में अग्नि (यज्ञ-कुण्ड) के समीप हैं। इन्द्र ब्रह्मा के पीछे खड़े हैं। लक्ष्मी भी पार्वती की पीठ की ओर खड़ी हैं। प्रदर्शन के निचली पंक्ति में पाणि-ग्रहण का दृश्य है। प्रस्तर के ऊपरी भाग में वरुण, अग्नि, यम, वायु, विद्याधर आदि अपने वाहन के साथ विद्यमान हैं। ऐसे जमघट में कलाकार ने बड़ी कुशलता दिखलाई है। मदुरा में ऐसा ही प्रदर्शन (पाषाण-मूर्ति) मिलता है। कलकत्ता संग्रहालय में पाषाण प्रतिमा तथा मद्रास में कल्याणसुन्दर प्रतिमा की कांस्य मूर्ति भी सुरक्षित है।

(४) हरिहर मूर्ति—विष्णु प्रतिमा के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि शैव तथा वैष्णव मतों में सद्भावना उत्पन्न करने के लिए 'हरिहर मूर्ति' का निर्माण किया गया। इसमें दोनों देवताओं के आयुध तथा आकृतियाँ विशेष ढंग से तैयार की गई हैं। बायाँ भाग हरि (विष्णु) तथा दाहिना हर (शिव) का है। जटा-मुकुट तथा किरीट से दोनों देवता के शिरोभाग स्पष्ट हो जाते हैं। कानों में सर्प, कुण्डल तथा मकरकुण्डल क्रमशः हर तथा हरि के आभूषण रूप में प्रदर्शित हैं। वैजयन्ती माल विष्णु की स्थिति का द्योतक है। नन्दी तथा गरुड़ दोनों वाहन

अपने देवता के अधोभाग (चौकी या पीठ) पर दिखलाई पड़ते हैं। बादामी की प्रतिमा से बिहार प्रदेश की हरिहर मूर्ति भिन्न रूप में प्रदर्शित है। चतुर्भुजी प्रतिमा में त्रिशूल तथा कपाल शिव के हाथों में तथा शंख एवं चक्र विष्णु के आयुध के स्थान पर खोदे गए हैं। कलकत्ता संग्रहालय में उत्तर भारत से प्राप्त कई हरिहर मूर्ति सुरक्षित हैं। गुजरात तथा बड़ौदा से भी ऐसी ही प्रतिमा उपलब्ध हुई हैं। खजुराहो की हरिहर प्रतिमा भी सुन्दरता के कारण उल्लेखनीय है।

(५) महेश मूर्ति—सुप्रभेदागम में शिव की प्रधानता वर्णन कर उनके सृष्टि-रचना, रक्षण तथा विनाश के कार्यों पर बल दिया गया है। महेश के पाँच सिर तथा दश हाथों का भी विवरण मिलता है। प्रत्येक चेहरे में तीन नेत्र की बनावट आवश्यक है। पाँच सिर पाँच स्वरूप के द्योतक हैं। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान। मध्ययुग की मूर्तियों में दशभुजी मूर्ति सदाशिव के नाम से प्रसिद्ध थी। उसमें तीन सिर ही दिखलाई पड़ते हैं। सेनकालीन बंगाल में सदाशिव की मूर्तियाँ बनती रहीं। दक्षिण की सदाशिव प्रतिमाएँ भी इससे तनिक मिलती-जुलती हैं।

महेश मूर्ति में चार भुजाएँ तथा तीन आँखें होती हैं। शरीर को अनेक आभूषण सुशोभित करते हैं। गोपीनाथ राव ने इस प्रसंग में एलिफेंटा की त्रिमूर्ति का वर्णन किया है। परन्तु महेश मूर्ति की विशेषता उसमें नहीं है। विद्वानों में मतभेद है कि उस त्रिमूर्ति को महेश मूर्ति का नाम दिया जा सकता है या नहीं? क्या यह त्रिदेव का द्योतक है? डा० बनर्जी त्रिमूर्ति (एलिफेंटा गुहा) को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की मुखाकृति नहीं मानते। उनका कथन है कि दाहिनी ओर का सिर नारी के सदृश है। अतः शिव-पार्वती के साथ एलिफेंटा में दिखलाए गए हैं। सम्मुख शिव की सौम्य तथा बाईं ओर रौद्रमूर्ति हैं (उसमें मूँछें दिखलाई पड़ती हैं। चेहरा अशांत भाव में दिखलाया गया है)। यदि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की प्रतिमाएँ होतीं तो विष्णु को जटामुकुट नहीं रहता। ब्रह्मा के चार सिर होते हैं। किन्तु यहाँ एक ही सिर है इसलिए एलिफेंटा की तथाकथित त्रिमूर्ति-महेश्वर प्रतिमा ही है। महेश मूर्ति से शिव की उस सर्वशक्ति की अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा वह उत्पत्ति, रक्षा तथा संहार का कार्य करते हैं।

(६) धर्म मूर्ति—खजुराहो में स्थित कन्दरिया महादेव के मन्दिर पर जितनी मूर्तियाँ खुदी हैं उनमें एक शिव की विशिष्ट प्रतिमा वर्तमान है जिसके चार हाथ हैं। आदित्यपुराण में धर्म के चार मुख तथा चार हाथ वर्णित हैं। सम्भवतः चार मुख वाली प्रतिमा का (जिसे आठ हाथ होना चाहिए) नया रूप देकर अष्टभुजी प्रतिमा को चतुर्भुजी ही तैयार किया ताकि धर्म के वर्णन से सामंजस्य हो जाय। खजुराहो प्रतिमा सुखासन में बैठी है। चार हाथों में दो नष्ट हो गये हैं। चार मुखों में तीन (सामने, बायाँ, दाहिना) स्पष्ट है। अतएव धर्म की आकृति को शिव के स्वरूप में व्यक्त किया गया है।

(७) भिक्षाटन मूर्ति—मध्यदेश से एक भिक्षापात्र लिये शिव की मूर्ति मिली

है जिसका रौद्र स्वरूप ही है। दो भुजाएँ हैं। गले में मुण्डमाल है। भयंकर गोल आँखें हैं। शिव के बाएँ हाथ में कंकालध्वज है तथा दाहिने में भिक्षापात्र दिखलाई पड़ता है। काशी की मध्ययुगी शिव प्रतिमा के दाहिने हाथ में भिक्षापात्र वर्तमान है (कपाल से इसका भिन्न आकार है)। अनुग्रह रूप में शिव की भिक्षाटन मूर्ति अन्नपूर्णा देवी के सम्मुख दिखलायी जाती है किन्तु यह भिक्षाटन प्रतिमा उससे सर्वथा भिन्न है।

एकपाद शिव

शिव के अन्य प्रकार की एक विशिष्ट प्रतिमा का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इससे धर्मपरायण ब्राह्मण मत के त्रिदेवों में शिव को प्रमुख स्थान मिल जाता है। इसे 'एकपाद' प्रतिमा कहते हैं। भगवान् शिव एक पैर पर खड़े हैं तथा हाथों में सभी आयुध विद्यमान है। शिव के शरीर कुक्षि से दाएँ तथा बायीं ओर क्रमशः चतुर्भुजी ब्रह्मा तथा विष्णु दीख पड़ते हैं। दोनों देवता के अगले दो हाथ अंजलि मुद्रा में हैं तथा पिछले हाथों में आयुध दृष्टिगोचर होता है। एक पैर पर स्थित-शिव की गणना एकादश रुद्रों में की जा सकती है जिसमें अज-एकपाद वैदिक रुद्र का एक अंग समझा जाता है। वैष्णव मत में भी इसी रीति से महाविष्णु की केन्द्रित प्रतिमा उपलब्ध हुई है। सम्भवतः शैव भक्तों ने अपने इष्टदेव की सार्वभौमिकता के निमित्त एकपाद की प्रतिमा तैयार की हो। दक्षिण भारत में ही इस मूर्ति की उपलब्धि हुई है।

मुद्राओं पर शिव आकृति

ईसवी सन् पूर्व में ही उत्तर पश्चिम भारत में कुषाण शासकों ने स्वर्णमुद्रा प्रचलित किया जिस पर 'शिव की आकृति' खुदी है। वीम कदफिस सर्वप्रथम शासक था जिसने अपने सिक्कों के पृष्ठभाग पर शिव की आकृति अंकित किया था। इसके सोने अथवा ताँबे के सिक्कों पर नन्दी सहित शिव स्थानक रूप में दीख पड़ते हैं। दाहिने हाथ में त्रिशूल है। सम्मुख त्रिशूलधारी शिव खड़े हैं। पीछे नन्दी दीख पड़ता है।

शासक को महीश्वर (महेश = शिव) का भक्त क. । गया है। कुषाण राजाओं में कनिष्क समूह के सभी शासकों के सिक्कों पर द्विभुजी अथवा चतुर्भुजी शिव की आकृति निर्मित है। कनिष्क को स्वर्णमुद्राओं पर शिव के हाथों में त्रिशूल, बकरी, डमरू तथा अंकुश दीख पड़ते हैं और ओइशो (ग्रीक भाषा में शिव का नाम) लेख अंकित है। किसी सिक्के पर त्रिशूल का अभाव है। किसी मुद्रा पर त्रिशूल, पाश, डमरू तथा हाथी का अंकुश विद्यमान है। हुविष्क के सिक्कों पर दो हाथ वाली आकृति में लम्बा त्रिशूल तथा अकुश (क्रमशः दाहिने तथा बायें हाथ) दिखलाई पड़ता है। चतुर्भुजी मूर्ति का सर्वथा अभाव नहीं है। प्रायः चार हाथों में एक सदृश आयुध (त्रिशूल, बकरी, डमरू तथा हाथी का अंकुश) स्पष्टरूप से दीख पड़ते हैं। ओइशो नाम भी प्रायः अंकित है। वासुदेव के स्वर्णमुद्राओं पर शिव के दो

हाथों में पाश तथा लम्बा त्रिशूल वर्तमान है। शिव सामने खड़े हैं तथा नन्दी पीठ की ओर खुदा हुआ है (पंजाब संग्रहालय, मुद्रा सूचीपत्र फलक १७, ३१, ३६-६५ फलक १९, २११)। ब्रिटिश संग्रहालय में शिव के पाँच सिर सहित कुषाण सिक्क संगृहीत है जिसे पाषाण पर के पंचमुख से समता कर सकते है।

पीठ

शिवलिङ्ग के आधारशिला प्रकार को पीठ कहते हैं। मानसार में तीन प्रकार की पीठ का वर्णन आया है। उनके नाम निम्नलिखित हैं।

(१) नागर पीठ--वर्गाकार।

(२) द्रविड़ पीठ--अष्टकोण।

(३) वेसर पीठ--गोलाकार।

पीठ की लम्बाई के सम्बन्ध में यह वर्णित है कि लिङ्ग की लम्बाई के बराबर पीठ का लम्बान होना चाहिए।

अध्याय ७

देवी-प्रतिमाएँ

भारतीय दर्शन की आद्याशक्ति प्रकृति है या प्रकृति ही शक्ति है। इसी कारण शक्ति को जगत में प्रमुख स्थान दिया गया है। मातृदेवी के नाम से विश्व में इसी की पूजा करते थे। मिस्र, मेसोपोटामिया, ईरान तथा प्रागैतिहासिक भारत में मातृदेवी (भूदेवी) की कुरूप आकृति बनाई जाती रही। संसार की उत्पत्ति (विश्व-सृष्टि) का कारण मानकर शक्ति की पूजा सदा होती रही जिसे कालान्तर में शिव से सम्बन्धित करते हैं। इस कारण शक्ति के सौम्य तथा उग्र भाव का प्रदर्शन कला में दीख पड़ता है। वैदिक संस्कृति में देवी शक्ति की आराधना से उस आर्य भाव का बोध होता है जिसका सम्बन्ध सृजन से मानते हैं। अतः शिवलिङ्ग के साथ योनि (Cosmic Receptacle) को स्थान दिया गया है। अनार्य सभ्यता में शक्ति ही विनाश का मूल कारण मानी गई जिस भावना को आर्य शक्ति से सम्बद्ध कर दिया गया। कल्याण तथा विनाश के दोनों देवी गुणों का सम्मेलन शक्ति द्वारा प्रदर्शित होता है। ऋग्वेद (दशम मण्डल) के देवी-सूक्त के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि देवता, मनुष्य तथा पशु के मूलतत्त्व में शक्ति-भावना प्रधान है। प्रागैतिहासिक युग में कला का विकास न होने से मिट्टी की मातृदेवी की आकृतियाँ बनने लगीं। पुराणों में भी इसी शक्ति का वर्णन नाना रूप में मिलता है। उसके तीन नाम महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती मिलते हैं। इन्हीं के पुजारी 'शाक्त' कहलाए। देवीभागवत (१।१७) में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—'कृष्णार्चायां नाधिकारो, यतो राधार्चनं विना' बिना राधा की पूजा के कृष्णपूजा का अधिकारी नहीं हो सकता। पद्मपुराण (पाताल खण्ड, अ० ६९) में राधा को आद्याशक्ति माना गया है। वह शक्तिरूपा है तथा देवत्रय की उत्पादिका है। 'न राधिका समा नारी' का उल्लेख शक्ति की प्रधानता का परिचायक है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (प्रकृति खण्ड) के प्रथम अध्याय में बहुत देवताओं के पत्नियों के नाम मिलते हैं। कार्तिक की षष्ठी, वह्नि की स्वाहा, यज्ञ की दक्षिणा, गणेश की पुष्टि, यक्ष की रति तथा पुण्य की प्रतिष्ठा के नाम उल्लिखित हैं। आज भी समाज में यज्ञ के पश्चात् दक्षिणा देना आवश्यक समझा जाता है। उनके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता। मार्कण्डेयपुराण के देवी-माहात्म्य में शक्ति उपासना का विवरण मिलता है। दर्शन साहित्य में सांख्य-कार ने प्रकृति (शक्ति) को ही मुख्य स्थान दिया है और पुरुष को उसका सहायक।

मध्ययुगी—ब्राह्मण-मत, महायान तथा वज्रयान में तांत्रिक पूजा का विशेष आदर था और शक्ति के उपासक शाक्त-मत के अनुयायी कहे गये हैं।

उत्तर वैदिक काल में अम्बिका, उमा, दुर्गा आदि का नाम ब्राह्मणग्रन्थों में

मिलता है। केनोपनिषद् में उमा को ब्रह्मविद्या का मानुषी रूप कहा गया है। वेदान्त में महामाया का नामोल्लेख है। देवी की मातृत्व भावना को लेकर उसे जगन्माता भी कहते हैं।

कालान्तर में धार्मिक भावना की अभिवृद्धि के कारण प्रधान देवताओं से शक्ति का सम्बन्ध स्थापित हुआ। गुप्तयुग के पश्चात् दार्शनिक विचार में एक नया मोड़ आया। उस सिद्धान्त में शक्ति को प्रमुखता दी गई। शक्ति के सहयोग से ही विश्व, उत्पत्ति में देवतागण समर्थ हो सकते हैं। देव तथा शक्ति के इस गूढ़ मेल का क्या मूलस्रोत था, यह कहना कठिन है। सम्भव है, शक्ति तथा देवता का मिलन संन्यासप्रधान बौद्धमत के विरोध में प्रस्तुत किया गया हो। यों तो जैनमत तथा महायान में शक्ति सिद्धान्त वर्तमान था।

पुरातत्त्व की सामग्रियों के अध्ययन से प्रकट होता है कि कलाकार ने विभिन्न धार्मिक विचारधारा के कारण शक्ति प्रतिमा को मुख्यतया तीन स्वरूप में तैयार किया।

(१) एकाकी मूर्ति—सर्वप्रथम मातृदेवी के सदृश आराध्य देवियों की एकाकी प्रतिमा बनाई गई। लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती आदि की मूर्तियाँ सम्बन्धित देवों से पृथक् तैयार की गईं थीं। अतिप्राचीन युग से प्रायः वर्तमान काल तक हिन्दू समाज में यह भावना काम कर रही है। कुषाणकालीन सोने के सिक्कों पर 'आरडोक्षो' तथा गुप्तयुग के उदयगिरि गुहा (वेसनगर के समीप) पर दुर्गा की आकृति खुदी है। मध्ययुग के वज्रयान देवसमूह में तारा, अपराजिता, मारीचि आदि देवियों की पृथक् (एकाकिन्) मूर्तियाँ मिलती हैं। नालंदा से पार्वती की एकाकी कांस्य प्रतिमा भी मिली है। ११वीं सदी के काले प्रस्तर की पार्वती मूर्ति भी उपलब्ध हुई है जिसके सिरे पर गणेश, ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु दीख पड़ते हैं। ललाट पर तीसरा नेत्र भी वर्तमान है।

(२) युगल रूप में—कलाकारों ने धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित विचारधारा का आदर किया तथा उस पर आधारित प्रतिमाएँ तैयार कीं। देवताओं की शक्ति को कला में स्थान देकर युगल प्रतिमाएँ बनाई गईं। यह देवी प्रतिमा का दूसरा रूप था। विष्णु की भार्या लक्ष्मी, शिव की पार्वती, रुद्र की दुर्गा आदि प्रतिमाएँ पुरुष-प्रकृति अथवा ईश्वर-माया के सिद्धान्त का पिष्टपेषण करती हैं।

(३) तीसरे स्थान पर युगल प्रतिमा को हटाकर 'अर्द्धनारीश्वर' की मूर्ति तैयार हुई। देवी-देवताओं की युग्म मूर्तियों में बाहरी दृष्टि से पार्थक्य की भावना हो जाती है। इसे त्याग देने तथा पुरुष-प्रकृति में एकरूपता (दोनों एक हैं) लाने के लिए अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति का निर्माण आवश्यक था। वह दार्शनिक सिद्धान्त के उच्चतम भाव को प्रस्तुत करती है। अन्य मतों के सदृश शाक्तधर्मावलम्बी देवी के प्रतीक—चक्र या यंत्र की भी पूजा करते थे। भारतीय कला में प्रस्तर या धातु-फलक पर यंत्र खुदे मिलते हैं। चक्र की आकृति में पुष्प की पंखुड़ियों के सदृश बनावट रहती थी। उनमें कोण का आकार बन जाता था। उसे ही यंत्र का नाम

दिया गया है। इसमें त्रिकोण इस रूप में परस्पर गुंथा रहता था कि बीच का रिक्त स्थान चतुर्भुज आकार का दीख पड़ता है। मध्ययुग में ऐसे यंत्र अधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं। शाक्तमतावलम्बी उसकी पूजा किया करते थे।

दुर्गा

देवी की दो प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं—(१) सौम्य तथा (२) उग्र। सौम्य प्रतिमाओं का विवरण सम्बन्धित देवसमूह के साथ उपस्थित किया गया है। उग्र देवियों की मूर्तियाँ अष्ट, दश, बारह अथवा अठारह-भुजी तैयार की जाती रहीं। पूर्वी भारत से बहुभुजी उग्र स्वरूप में देवी, दुर्गा की अधिक संख्या में प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। राक्षस महिष को मारने से उसे 'महिषासुरमर्दिनी' कहा जाता है। मार्कण्डेयपुराण में शक्ति के रूप में महादुर्गा (काली), महालक्ष्मी तथा महासरस्वती का वर्णन मिलता है। सम्भवतः गुप्तकाल से देवी की पाषाण प्रतिमा का आरम्भ हुआ। यह कहा जा चुका है कि विदिशा के समीप उदयगिरि गुहा की दीवाल पर अष्टभुजी दुर्गा की प्रतिमा खुदी है। यह अधिक सुन्दर मूर्ति नहीं है, खण्डित है किन्तु यह व्यक्त करती है कि गुप्तयुग से 'महिषासुरमर्दिनी' (उग्र देवी) के पूजा का प्रचार हो गया था। किसी प्रतिमा में केवल उग्र भाव प्रदर्शित है लेकिन महिषासुर का अभाव है। भीटा (प्रयाग के समीप) से ऐसी ही मूर्ति मिली है जिसमें केवल दो भुजाएँ दीख पड़ती हैं। क्रमशः बहुभुजी प्रतिमा का निर्माण बढ़ता गया। भुजाओं की संख्या देवी के आयुध पर निर्भर करता था। आगम ग्रन्थों में भुजाओं में पाश, अंकुश, शंख, खड्ग, भाला, बाण, धनुष आदि आयुधों का वर्णन मिलता है। कुछ हाथ वरद तथा अभय मुद्रा में भी दीख पड़ते हैं। चौथी सदी से वर्तमान समय तक समाज में 'महिषासुरमर्दिनी दुर्गा' की पूजा होती आ रही है। उग्र रूप में देवी की एकाकी मूर्ति ही भारतीय कला में निर्मित दीख पड़ती है। मध्ययुग से इसका विशेष प्रचार हुआ। उत्तर भारत में बंगाल तथा बिहार में महिषासुर को ध्वंस करती दुर्गा की सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। दक्षिण भारत के अयहोल (आंध्र-प्रदेश), महाबलिपुरम् (मद्रास) तथा उड़ीसा की प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से असुन्दर नहीं हैं। सर्वत्र बहुभुजी दुर्गा की प्रतिमा तीन नेत्र वाली, अशान्त वेष में अपने वाहन सिंह के साथ समस्त आयुधों के सहारे महिषासुर का विनाश करती बनाई गई हैं। बंगाल से एक पाषाण को बत्तीस भुजावाली दुर्गा मूर्ति उपलब्ध हुई है जिसमें महिषासुर से युद्ध करती अलौकिक शक्तिमय दुर्गा राक्षस को मारने में संलग्न दीख पड़ती है। उस मूर्ति के प्रभावली पर गणपति, सूर्य, शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा की आकृतियाँ खुदी हैं। बिहार से पालयुग की चतुर्भुजी दुर्गा की प्रतिमा मिली है जो सिंह की पीठ पर बैठी है। ढाल, तलवार, त्रिशूल वर्तमान है, चौथा हाथ वरद मुद्रा में है। नालंदा की कांस्य प्रतिमा दुर्गा-पूजा के विस्तृत प्रसार का द्योतक है। इसमें चार भुजाएँ तथा तीन नेत्र हैं। आयुधों के साथ सुसज्जित है। प्रतिमा की चौकी पर सिंह तथा महिष की आकृति दिखलाई पड़ती हैं। पालयुग के एक पाषाण पर नवदुर्गा की आकृतियाँ खुदी हैं जिसके मध्य में महिषासुरमर्दिनी की अट्ठारह हाथों वाली प्रतिमा

स्थित है। लेखों में नवदुर्गा (शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघंटा कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायिनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धमाता) के मन्दिर—संस्कार तथा पूजा निमित्त दान का वर्णन मिलता है (बंगाल का इतिहास, भा० १, पृ० १२) कला में इनका स्पष्ट उदाहृण नहीं मिलता। पुराणों में काली, महाकाली, भद्रकाली का विवरण आया है परन्तु तदनुसार कलात्मक नमूने उपलब्ध नहीं हुए हैं। खजुराहो के मन्दिर पर काली की आकृति खुदी है जिसमें रक्तपात्र तथा गदा वर्तमान है। एक हाथ अभय मुद्रा में है। दूसरी प्रतिमा में खड्ग, खप्पर तथा नरमुण्ड विद्यमान हैं। वराहपुराण में महिषासुर का कथानक वर्णित है। वैष्णवी की तपस्या करते समय अनेक सुन्दर देवियाँ वहाँ उपस्थित थीं। महिषासुर उन देवियों को चुराने पहुँचा जिसकी सूचना मिलते ही दुर्गा ने उसे नष्ट कर दिया। दार्शनिक अर्थ में महिष (काला=काल=अन्धकार= अज्ञान) कलुष विचार का मूर्तिमान रूप है। वह काल बनकर जीवों का विनाश करता है। देवी दुर्गा उपासकों की रक्षा कर ज्ञान देती हैं।

श्री तथा लक्ष्मी

देवी के प्रमुख तीन रूपों में महालक्ष्मी की गणना होती है। सदा से भारतीय संस्कृति में शक्ति को प्रधानता मिल चुकी है और महापुरुषों के नाम देवियों सहित (प्रथम स्थान में) उच्चारित किये जाते हैं—राधाकृष्ण, सीताराम, गौरीशंकर आदि। मानव जीवन में नारी (लक्ष्मी) को भी वही स्थान दिया गया, इस कारण लक्ष्मी-पूजा का आरंभ अत्यन्त पुराने समय में हुआ था। यह सन्देहरहित हो जाता है। वैदिक साहित्य में भी श्री-पूजा का विधान पाया गया है। वाजसनेयी संहिता में श्री तथा लक्ष्मी आदित्य की पत्नियाँ कही गई हैं। यह परम्परा रामायण तथा महाभारत युग तक चलती रही। इसी कारण श्री एवं लक्ष्मी की प्रार्थना साथ-साथ की गई है। कालान्तर में इस घनिष्ठ सम्बन्ध का निर्वाह न हो सका। श्री को भूदेवी का नाम दिया गया है और दक्षिण भारतीय भूदेवी को कला में स्थान दिया गया। लक्ष्मी का स्थान पृथक् हो गया। यों तो बंगाल में लक्ष्मी को सरस्वती की सहकर्मिणी मानते हैं। किन्तु उत्तरी भारत के वैष्णव कला में सरस्वती तथा लक्ष्मी को विष्णु प्रतिमा के पार्श्व में प्रदर्शित किया गया है।

लक्ष्मी—भाग्यदेवी या वैभव की अधिष्ठातृ देवी के रूप में भी वर्णित हैं। सरस्वती विद्या की देवी प्रसिद्ध हैं। सम्पत्ति के इच्छुकजन लक्ष्मीपूजक बन गये। लक्ष्मी के निवास से ही सुख, वैभव एवं सम्पत्ति-लाभ होता है। अतएव राजघराने में उसे 'राज-लक्ष्मी' कहकर पूजा करते थे। नगर-लक्ष्मी के प्रस्थान (नगर का लक्ष्मी द्वारा त्याग) की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु राजा के सदाचारी, दयालु तथा पवित्रात्मा होने पर लक्ष्मी निवास करती हैं यानी कहा गया कि राजलक्ष्मी शोभा बढ़ाती हैं।

कलात्मक प्रदर्शन

भारतीय कला में लक्ष्मी या श्री को दो आसन में प्रदर्शित किया गया है। लक्ष्मी

कमलासन पर बैठी हैं। दूसरे नमूने में देवी कमल पर खड़ी हैं तथा दो हाथी सूँड़ में पकड़े घड़े से जलधार लक्ष्मी पर छोड़ रहे हैं। इसे 'गज-लक्ष्मी' कहा जाता है। हाथी से लक्ष्मी का सम्बन्ध कब और कैसे हुआ, यह कहना कठिन है। सम्भवतः हाथी सम्पत्ति का सूचक माना गया और इसी को धन की देवी (लक्ष्मी) से सम्बद्ध कर दिया गया। ईसवी पूर्व सदियों में भारतीय कलाकारों ने भरहुत तथा अमरावती की वेदिका पर भी स्थान दिया। भरहुत में इस देवी के चार स्वरूपों का प्रदर्शन है। एक बैठी तथा तीन खड़ी मूर्तियाँ हैं। श्री (सुन्दरता), आशा, श्रद्धा तथा पवित्रता के द्योतक हैं। उसी स्थान पर एक विभिन्न देवी की आकृति बनी है जिसके नीचे श्री माँ अंकित है। इसे श्रीमाता कहा जा सकता है। शुङ्गकालीन बोधगया वेदिका पर कमल पर खड़ी 'गजलक्ष्मी' की प्रतिमा खुदी है। साँची के उत्तर तोरण पर कमलासन पर बैठी देवी आकृति पर दो हाथी सूँड़ में पकड़े घड़े से जल छोड़ रहे हैं।

इस तरह शुङ्गकाल में श्री माँ अथवा गज-लक्ष्मी के पूजा का प्रचार था। 'गजलक्ष्मी' की भावना बौद्धकला में कहाँ से ली गई, यह विवादास्पद है। सम्भव है है कि वैदिक परम्परा से अनुकरण कर बौद्ध कलाकारों ने लक्ष्मी (कमलासन पर बैठी) या गजलक्ष्मी (कमलासन पर खड़ी) को शुंगकालीन कला में स्थान दिया। लक्ष्मी की एकाकी मूर्ति 'गज-लक्ष्मी' के रूप में प्रदर्शित की गई। इस देवी की चतुर्भुजी धातु प्रतिमा राजशाही से प्राप्त हुई जिसकी तिथि ११वीं शती मानी गयी है। यद्यपि इन देवियों को एकाकी प्रतिमा तैयार होने लगी किन्तु देवताओं के साथ युगल-मूर्ति का अभाव नहीं है। पूजा में युग्म प्रतिमा की प्रधानता दी जाती है। इस प्रकार श्री या लक्ष्मी विष्णु की भार्या के रूप में कला में स्थान पायी। भारत के पूर्वी भाग में केन्द्रित विष्णु प्रतिमा के साथ लक्ष्मी (श्री) तथा सरस्वती (पुष्टि) का प्रदर्शन दीख पड़ता है। दक्षिण भारत में पुष्टि का स्थान भूदेवी ने ले लिया। वैष्णव प्रतिमाओं में प्रायः सर्वत्र ही इन देवियों को स्थान दिया गया है।

गुप्तयुग में वैष्णव मत का प्रचुर प्रसार हुआ, इसलिए गुप्त शासक 'परम-भागवत' की पदवी से विभूषित हुए। उन्होंने लक्ष्मी को अपने सिक्कों पर स्थान दिया। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख में विष्णु की भार्या लक्ष्मी की प्रार्थना की गई है।

श्रीयमभिमतभोग्यां नैककालापतीनां
त्रिदशपति-सुखार्थं यो बलेराजहार।
कमल-निलयनायाः शाश्वत धाम लक्ष्म्या
स जयति विजितार्तिः विष्णुरत्यन्त-जिष्णुः ॥

लक्ष्मी को श्री या कमला भी कहा गया है। वह कला में कमलासन पर बैठी या खड़ी दिखलाई गईं हैं। गुप्त सिक्कों पर भी लक्ष्मी कमलासन पर बैठी दीख पड़ती हैं। हाथ में कमलनाल लिये युवती के रूप में कलाकारों ने सुन्दर आकृति तैयार की है। विष्णुधर्मोत्तर में भी श्री तथा गज-लक्ष्मी का उल्लेख मिलता है। ईसा पूर्व सदियों से मध्ययुग तक पाषाण पर श्री, लक्ष्मी या गजलक्ष्मी की प्रतिमाएँ खुदी मिलती हैं।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि विष्णु के वराह अवतार के बाद भूदेवी का सम्बन्ध तथा स्थान वैष्णव कला में पाते हैं। दक्षिण भारतीय शैली में एक विशेष बनावट कुचबन्ध का समावेश पाते हैं अन्यथा मूलतः दक्षिण अथवा उत्तर भारतीय शैली की लक्ष्मी की प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं है।

भारतीय कला में युग्म प्रतिमाओं की बहुलता है। आसन रूप में एकाकी देवी मूर्ति का अभाव-सा है। बंगाल में शक्ति देवी की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें अप्रचलित मूर्तियाँ भी निर्मित हैं। उदाहरण के लिए शिवलिङ्ग से निकलती हुई देवी प्रतिमा ढाका से प्राप्त हुई है। उसमें चतुर्भुजी देवी की मूर्ति दीख पड़ती है। दो हाथ ध्यान मुद्रा में हैं। पिछले दो हाथों में माला तथा पोथी है। भट्टशाली इसकी समता महामाया या त्रिपुरभैरवी से करते हैं।

देवी के विभिन्न नाम

पुराणों में शिव की शक्ति के विभिन्न नाम उनके गुणों के ऊपर आधारित हैं। पार्वती (पर्वत की पुत्री), गिरिजा (पर्वत से उत्पन्न), गौरी (गौर वर्ण वाली), उमा (रात्रि शान्ति), अम्बिका (माता), जगद्माता (विश्व की आदिमाता), भवानी (भव से सम्बन्धित), कन्याकुमारी (कन्या, बालिका), अन्नपूर्णा (अन्न को देनेवाली), सर्वमंगला (सदा शुभ करनेवाली) दुर्गा (अगम्य), चण्डी (उग्र), भैरवी (भयंकर) महिषमर्दिनी (महिष का विनाश करनेवाली) तथा महेश्वरी (महान देवी) आदि नामों से शक्ति का उल्लेख मिलता है।

सप्तमात्रिका

एकाकी देवी प्रतिमाओं में मातृका समूह का नामोल्लेख किया जा सकता है। उनकी आराधना समस्त भारत में होती रही किन्तु गुप्तयुग से पूर्व की कोई मातृका प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है। यों तो देवियाँ अपने देव (पति) के साथ वर्णित हैं तथा युगल मूर्तियाँ भी मिलती हैं, किन्तु एकाकी मूर्तियाँ समूह में प्रदर्शित होने से सात की संख्या के कारण ही सप्तमातृका नाम से प्रसिद्ध हुईं। इसमें सभी उग्र स्वरूप में प्रदर्शित नहीं हैं। केवल वाराही तथा चामुण्डा भिन्नस्वरूपा हैं। वाराही में शूकरमुखी देवी भैंसे पर बैठी हैं तथा चामुण्डा भयंकर चेहरे के साथ प्रेतासना हैं। मातृभावना के प्रदर्शन के निमित्त प्रत्येक देवी की गोद में एक शिशु है जो माता के स्तन का दुग्धपान कर रहा है। इलौरा का प्रदर्शन अतीव सुन्दर है जिसमें किसी भावना या प्रतीक का अभाव नहीं है। दोनों पार्श्व में वीरभद्र तथा गणेश की मूर्तियाँ हैं जो उनके संरक्षक कहे जाते हैं।

पाँचवीं सदी के गुप्तसम्राट् प्रथम कुमारगुप्त के गंगाधर लेख में मातृका के मंदिर का उल्लेख है और वह भयंकर स्थान के रूप में वर्णित है (वेश्मात्युग्रम)। उसमें मातृका के संख्या का उल्लेख नहीं है। किन्तु मध्ययुग की चालुक्य प्रशस्ति में निम्न वाक्य मिलता है—जिसमें संख्या का दिग्दर्शन है। हारीति पुत्राणां सप्तमातृकाभिर-भिवर्धितानाम्। अतएव सप्तमातृका की उपासना एवं पूजा का प्रचार पाँचवीं सदी से

भारत में अवश्य हो गया था। वराहमिहिर ने (बृहत्संहिता, अध्याय ५७) मातृकाओं के सम्बन्ध में केवल इतना उल्लेख किया है कि सभी अपने पति (देवता) के वाहन तथा आयुध से युक्त होती हैं—

यस्य देवस्य यत्रूपं यथा भूषण वाहनम्।

टीकाकार उत्पल ने उनका नामोल्लेख किया है। जिसका क्रम निम्न प्रकार से है—

१. ऐन्द्री, २. वैष्णवी, ३. रौद्री, ४. कौमारी, ५. ब्राह्मी, ६. यामी तथा ७. वारुणी।

भारतीय कला में भिन्न प्रदर्शन है। वारुणी की आकृति दीख नहीं पड़ती। मार्कण्डेयपुराण (अध्याय ८८) में वर्णन मिलता है कि चण्डिका की सहायता के लिए सप्तमातृकाएँ या योगिनियाँ उत्पन्न हुई थीं। (ऋग्वेद की सात बहनों से इनकी समता की जा सकती है)। यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो एक मूलशक्ति के सात रूप में प्रकट सप्तमातृकाएँ कला में प्रदर्शित हुई हैं। इन्हें एक ही देवी की सात विभूतियाँ कह सकते हैं। इनका ध्यान के साथ सात नामों की गणना होती है। ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री। पुराणों में वर्णन मिलता है कि इसी मातृगण से रक्तबीज असुर का वध हुआ। अन्धकासुर विनाश के पश्चात् शिव ने सोचा कि उसका रक्त पृथ्वी पर न गिरे, इसलिए एक शक्ति को उत्पन्न किया।

अन्य देवतागण भी इस कार्य में सहायता करने के लिए अपनी शक्तियों (देवियों) को आयुध के साथ भेजे। उन शक्तियों की संख्या सात थी और चामुण्डा के सहित आठ हो जाती हैं। कलात्मक उदाहरणों में नारसिंही के स्थान को चामुण्डा ने ले लिया। अतएव संख्या में कुल सात मातृकाएँ रह गईं। कलाकारों ने उनकी सयुक्त प्रतिमाएँ तैयार कीं। इलौरा तथा राजपूताना के नमूनों में सप्तमातृका के दोनों पार्श्व में वीरभद्र तथा गणेश की मूर्तियाँ भी खुदी हुई हैं। मध्ययुगी कला में सप्तमातृका का क्रम इस प्रकार है :—

(१) ब्रह्माणी, (२) माहेश्वरी, (३) कौमारी, (४) वैष्णवी, (५) वाराही, (६) इन्द्राणी तथा (७) चामुण्डा। रूपमण्डन के अनुसार दो पुरुष आकृतियाँ यानी सप्तमातृका के आरम्भ में वीरभद्र और अन्त में गणेश की प्रतिमा होनी चाहिए। खजुराहो में सप्तमातृका की ऐसी ही प्रतिमा मिली है।

सप्तमातृका की एकाकिन् या संयुक्त प्रतिमाएँ विभिन्न रूपों में निम्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं—

(अ) स्थानक (खड़ी अवस्था) - खजुराहो।

(ब) आसन (बैठी प्रतिमाएँ)—इलौरा एवं बंगाल।

(स) नृत्य करती—भेराघाट (मध्यप्रदेश)

पुराणों (देवीपुराण, वराहपुराण आदि) के वर्णन से पता चलता है कि मातृका के चार हाथ हैं। गोद में शिशु दिखलाई पड़ते हैं। प्रतिमा की पीठ (चौकी) पर

सम्बन्धित वाहन खुदे हैं। ऐलिफेंटा गुहा में देवियों के वाहन ध्वज पर अंकित हैं हैं (जैसे पशुध्वज होता है)। अतएव शिशु एवं वाहन के कारण किसी व्यक्ति को मातृका के पहचानने में कठिनाई का अनुभव नहीं होता है।

स्थानक अथवा बैठी प्रतिमाओं में आसन के अतिरिक्त कोई मूल भेद नहीं है। सर्वप्रथम वीणा सहित पुरुष वीरभद्र की मूर्ति है। अन्तिम छोर पर गणेश विराजमान हैं।

(१) ब्रह्माणी (ब्रह्मा की शक्ति) के तीन सिर तथा चतुर्भुजी प्रतिमा खजुराहो, ऐलिफेंटा तथा इलौरा के गुहा में खुदी है। दो हाथ वरद तथा अभय मुद्रा में। तीसरे में यज्ञपात्र। हंस (वाहन) की आकृति नीचे। गोद में शिशु दिखलाई पड़ता है। किसी में यज्ञोपवीत भी वर्तमान है।

(२) माहेश्वरी—(शिव की शक्ति) अर्द्धपर्यङ्क आसन में बैठी है। नन्दी की आकृति नीचे (चौकी पर)। चतुर्भुजी प्रतिमा है। त्रिशूल सहित तथा अभय मुद्रा में हाथ दीख पड़ते हैं। गोद में शिशु दृष्टिगोचर होता है।

(३) कौमारी—कार्तिकेय की पत्नी का नाम कौमारी है। बैठी मूर्ति तथा चतुर्भुजी प्रतिमा की गोद में शिशु है। देवी का वाहन मोर नीचे खोदा गया है। उनके केशविन्यास कार्तिकेय के सदृश हैं।

(४) वाराही—विष्णु के वराह अवतार की देवी को वाराही कहा गया है। इसका अशान्त चेहरा है। सिर वराह तथा धड़ मनुष्य (स्त्री का) है। वराहपुराण में चतुर्भुजी प्रतिमा का वर्णन है। खजुराहो के नमूने में दो हाथ वरद तथा अभय मुद्रा में हैं। बङ्गाल से प्राप्त एकाकी मूर्ति में कपाल (बायें हाथ में) तथा सूअर के दाँत दिखलाई पड़ते हैं। आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता में वाराही की एक विचित्र प्रतिमा सुरक्षित है जिसके हाथ में मछली विद्यमान है।

(५) वैष्णवी—विष्णु की शक्ति होने के कारण चार आयुधों में—शंख, चक्र दो हाथों को सुशोभित करता है, तीसरा हाथ अभय मुद्रा में, चौथे में शिशु विराजमान है। गरुड़ की आकृति नीचे खुदी है। खजुराहो में छः हाथों वाली वैष्णवी प्रतिमा प्राप्त हुई है परन्तु हाथों के खंडित होने से आयुध का पूरा परिज्ञान नहीं हो सकता।

(६) ऐन्द्राणी—इन्द्र की शक्तिका नाम है। यह अर्द्धपर्यंक आसन में बैठी हैं। चतुर्भुजी प्रतिमा में दो हाथ अभय तथा वरद मुद्रा में तथा तीसरे में वज्र है, चौथे में शिशु विराजमान है। चौकी के नीचे ऐरावत हाथी की आकृति खुदी है, जो इन्द्र का वाहन कहा जाता है।

(७) चामुण्डा—राजपूताना, इलौरा, ऐलिफेंटा तथा उड़ीसा से प्राप्त मूर्तियों में चामुण्डा का चेहरा भयानक, अद्भुत तथा विलक्षण भाव प्रकट करते दीख पड़ता है। उसके चार हाथ हैं जिसमें कपाल, शूल तथा नरमुण्ड है। गले में मुण्डमाल दिखलाई पड़तो है। गहरे भाग में उभरी (ऊपर उठी) आँखें हैं। अशिष्ट (गंजा)

सिर से अग्नि ज्वाला निकल रही है। उसका कृश शरीर तथा संकुचित उदर भयंकरता में वृद्धि करने के हेतु प्रदर्शित है। चामुंडा प्रेतासन (शव) पर बैठी है। मृत शरीर के हाथ अंजलि मुद्रा में हैं। खजुराहों से प्राप्त चामुंडा प्रतिमा के छः हाथ हैं—डमरू, त्रिशूल, अंकुश, खप्पर, नरमुंड लिये हैं। ऐसी छाभुजी मूर्ति को कंकाली का भी नाम दिया जाता है। चामुण्डा की तरह बारहभुजी प्रतिमा (रौद्रवेष में) 'सिद्धयोगेश्वरी' कही जाती है। उसके एक हाथ में मृत व्यक्ति (नग्न शरीर) दिखलाई पड़ता है।

बंगाल में नारसिंही (नरसिंह की शक्ति) की एकाकी प्रतिमा मिली है जिसका ऊपरी भाग सिंह का तथा धड़ स्त्री का है। खुला मुँह सिंहगर्जन के भाव को प्रदर्शित कर रहा है। इसी के स्थान पर चामुंडा की मूर्ति सप्तमातृका में समाविष्ट हुई।

नृत्य-सप्तमातृका

जबलपुर (मध्यप्रदेश) के समीप भेराघाट पर स्थित चौसठ योगिनी का मन्दिर है। उनमें नृत्य करती सप्तमातृका की आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी दाहिनी ओर वाहन से मातृका का परिचय हो जाता है। यह अद्वितीय उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता।

दश महाविद्या

जीवन के प्रत्येक दिन प्रभा के पश्चात् अन्धकार तथा रात्रि के अनन्तर दिन के क्रम से चलता है। इसी से काल का अनुमान लगाया जाता है। शास्त्रों में विवरण आता है कि नियति का क्रम (कालचक्र) दिवा-रात्रि के सदृश चलता रहता है। इसे दश उपविभाग में विभक्त किया जाता है। इसमें पाँच उपविभाग शिव से तथा पाँच उनकी शक्ति से सम्बन्धित हैं। इन दश विद्या (ज्ञान) की जानकारी से विश्व के रहस्य (शक्ति) का पता लगता है। उन दश शक्तियों के कारण ही जगत की गति तथा स्पन्दन का परिज्ञान हो जाता है। शक्तियों के धड़कन से ही अतिश्रेष्ठ ज्ञान की उपलब्धि होती है। अतएव उन अतिउत्तम दश वस्तुओं को महाविद्या के नाम से पुकारते हैं। ज्ञान के मूलस्रोत उन्हीं को मानते हैं और जो देवी शक्ति के विभिन्न रूप को प्रकट करती हैं, उन्हें विश्व के प्रलय का कारण भी समझना उचित होगा। जगत का अन्त उसी में है, इस कारण भयावह भी है। उन शक्तियों के बल पर मानव जीवन का लक्ष्य भी प्राप्त करता है, बन्धन से मुक्त होता है तथा भगवान् की सत्ता से आनन्द-लाभ कर अपनी स्थिति (जीवन) की असारता का परमज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव दशमहाविद्या का विवरण शास्त्र-कारों ने सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया है।

दश महाविद्या के नाम निम्न प्रकार हैं—

(१) महाकाली या काली (कालशक्ति)

(२) तारा (क्षुधाशक्ति)

(३) षोडशी (पूर्णशक्ति)

(४) भुवनेश्वरी (ज्ञानशक्ति)
(५) छिन्नमस्ता (त्यागशक्ति)
(६) भैरवी (मरणशक्ति)
(७) धूमावती (दरिद्रताशक्ति)
(८) बगला (क्रूरशक्ति)
(९) मातंगी (प्रभावशक्ति)
(१०) कमला (ऐश्वर्यशक्ति)

इन दश महाविद्याओं में काली को प्रमुख स्थान दिया जाता है। महाकाली महारात्रि की भी प्रतीक है। उजेला के बाद अन्धकार तथा कृष्णपक्ष के पश्चात् शुक्ल का क्रम काल का द्योतक है। इसी प्रकार प्रलय के पश्चात् घोर निद्रा का प्रादुर्भाव होता है। सभी वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, केवल महाकाल की स्थिति रह जाती है। शिव में सभी विलीन हो जाते हैं अतः वह विश्व से परे हैं-(परात् परः)

उस शिव की शक्ति महाकाली का स्थान महारात्रि के सदृश है जिस घोर अन्धकार (प्रलय) में सभी निद्रा में हैं (नष्ट हो गये हैं)। उस काली या काल के द्योतक देवी की प्रतिमा भारतीय कला में उपलब्ध होती है। उसकी प्रतिमा अन्य देवियों से सर्वथा भिन्न है। इसकी प्रतिमा सदा एकाकी है। शरीर नग्न, जिह्वा निकाले, मुण्ड का माला धारण किए, हाथों में तलवार तथा बाएँ में नरमुण्ड सहित काली की मूर्ति दृष्टिगोचर होती है। यदि इस प्रतिमा के रहस्य या दार्शनिक पक्ष पर विचार करें तो प्रकट होगा कि काली की चार भुजाएँ चार दिशाओं की द्योतक हैं अथवा विश्व पर प्रभुख को व्यक्त करते हैं। संसार से निर्लेप होकर आश्चर्य में जिह्वा निकाले दीख पड़ती हैं। शिव के सदृश श्मशान के समीप निवास करने से मुण्डमाला धारण किये हैं। काली के हाथ में नरमुण्ड यह घोषित करता है कि काल से किसी का बचाव नहीं। सभी को नष्ट होना पड़ेगा। तलवार विनाश का साधन है। महाकाली शव पर खड़ी दिखलाई पड़ती हैं। उसका तात्पर्य यह है कि देवी सभी को नष्ट करती है और काल के पश्चात् किसी की स्थिति सम्भव नहीं। शव यह बतलाता है कि जगत में सभी अस्थिर है। किसी की सत्ता स्थिर रूप से ज्ञात नहीं है। अतः विश्व के मलबा पर काली खड़ी है जो शव के सदृश अशक्त है।

महाकाल ही सर्वत्र व्याप्त है। मानव उससे भयभीत होता है। काली के हाथ में प्रज्वलित आग भय का संचार करती है। परन्तु काल ही मनुष्य का जीवन है। प्रतिक्षण (काल में) मनुष्य कार्य में व्यस्त है। उसके सहारे (समय की आशा में) वह कार्य में केन्द्रित हो जाता है और अन्त में वही काल मानव को निगल जाता है। इस रूप में विश्व का अन्त हो जाता है। अतएव उस काल की देवी महाकाली मनुष्य का रक्षक तथा विनाशक भी हैं। उपनिषद् में वर्णन आता है कि महाकाली दिगम्बरा है। काल ही उसका वस्त्र है। जब सभी नष्ट हो जाता है तो कुछ भी शेष नहीं रह जाता। प्रश्न होता है कि क्या शेष रहा? अतः काली का नग्न शरीर उस विश्व की स्थिति का परिचायक है। नाश की प्रवृत्ति तामसिक क्रिया के सदृश है अतएव

काल तमस् से आवृत माना गया है। इसी कारण काली का शरीर काला प्रदर्शित किया जाता है। जिस प्रकार काले रंग में सभी रंग विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार काली में सारा विश्व समाहित (केन्द्रित) हो जाता है। इस प्रकार महाकाली की प्रतिमा को उस कालचक्र का प्रतीक मान सकते हैं। भारतीय कलाकारों ने इस रहस्य को ध्यान में रखकर तथा काली से सम्बन्धित प्रत्येक विषय की सार्थकता समझकर ही कला में उसे स्थान दिया। शिव की भयंकर शक्ति दुर्गा से भी काली का अधिक महत्त्व साहित्य तथा कला में प्रकट होता है।

दूसरी महाविद्या तारा को भी कला में स्थान दिया गया है। वह हिरण्यगर्भ की मूलशक्ति मानी जाती है। "तारत्यनमा सा तारा" का भाव यह है कि वह देवी तारा मानव को एक किनारे पर स्थिर कर देती है। हिन्दू तथा बौद्ध धर्म की देवी तारा को शक्ति-प्रतिमाओं में प्रमुख स्थान दिया गया है। बौद्ध मतानुयायी उसे अवलोकितेश्वर की शक्ति कहता है। भारतीय कला में इस देवी की प्रतिमा पूर्व-मध्ययुग में बहुलता से उपलब्ध हुई है। अन्य महाविद्याओं का कला में प्रदर्शन नहीं मिलता।

अध्याय ८

सूर्य-प्रतिमा का विकास

वैदिक काल के प्रमुख देव-समूह में सूर्य की गणना होती है। सूर्य तथा विष्णु को एक ही स्वरूप मानते हैं। यही कारण है कि सूर्य तथा वासुदेव (विष्णु) दोनों 'आदित्य' शब्द से अभिहित हैं।

वैदिक आर्यों के प्रधान देवता इन्द्र थे। इन्द्र अपने पराक्रम से सब देवों को पराभूत कर देते हैं और उत्पन्न होते ही देवों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लेते हैं। फलतः आर्यों की सभ्यता तथा साम्राज्य के विस्तार में इन्द्र का दैवी अनुग्रह सदा जागरूक रहता था। कालान्तर में आर्यों के इस जातीय देवता इन्द्र की प्रमुखता का ह्रास होने लगा। उनके स्थान पर सूर्य की प्रतिष्ठा हो गई। अतएव "सूर्य आत्मा जगतस्वस्थुषश्च" मन्त्र ऋग्वेद में आता है। दैनिक जीवन में गायत्री मन्त्र द्वारा सूर्य की ही प्रार्थना करते हैं कि हे देव ! मेरी बुद्धि को प्रज्वलित करें। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पराक्रम से प्रकाश की ओर श्रद्धा का निर्देश नैसर्गिक है। पराक्रम भौतिक बल का लक्ष्य करता है किन्तु प्रकाश आध्यात्मिक गुण की ओर। फलतः इन्द्र से धार्मिक श्रद्धा हट कर प्रकाश के देव सूर्य की ओर अग्रसर हो गयी। इस कारण धार्मिक जगत में उपासकों की श्रद्धा एवं भक्ति सूर्य की ओर विकसित होकर प्रतिष्ठित हो गयी। इस परिवर्तन का इतिहास 'वृषाकपिसूक्त' (ऋग्वेद १०।८६) में अन्तर्हित है। वृषा शब्द प्रजनन के अर्थ में प्रयुक्त है तथा कपि शब्द सूर्य का वाचक है। क्योंकि दोपहर के समय सूर्य का रंग कपिश या कपिल हो जाता है। इसके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इन्द्र की पूजा के स्थान पर सूर्य (विष्णु) की उपासना विकसित हो गई। वैदिक सूर्य सूक्तों में सूर्यदेवता का रोग-निवारक रूप का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। ऋक्संहिता के एक सूक्त (१।१९१) में सूर्यदेवता को विष दूर करने का श्रेय दिया गया है। हृदयगत तथा शारीरिक रोगों के अपहरण करने में सूर्यदेवता के सामर्थ्य का वर्णन कई ऋचाओं मे मिलता है। (ऋक् १।५०।११, अथर्व १।२२।१ तथा ६।८१) सम्भव है, सूर्यदेवता मानसिक रोगों के निवारक होने के कारण विख्यात हुए। नेत्राधिष्ठाता तथा अन्धता-निवारण के हेतु भी सूर्य लोकप्रिय देवता हो गए जिनकी स्तुतियाँ उपनिषदों तथा संस्कृत साहित्य में मिलती हैं। पुराणों में वर्णन है कि यादवों में सूर्यपूजा का विशेष प्रचार था। इसलिए विष्णु के अनन्तर कृष्णपूजा का प्रचलन हो गया। भविष्यपुराण में एक कथा वर्णित है कि शाम्ब को कुष्ठ रोग से मुक्त करने के लिए शकद्वीप से मग ब्राह्मणों (सूर्य के पुजारी) को द्वारिका बुलाया गया। शाम्ब ने विधिवत् सूर्य-मंदिर की स्थापना की। ईरान के धार्मिक इतिहास में भी मग ब्राह्मण तथा सूर्यपूजा का विशद विवरण उपलब्ध

है। यद्यपि पौराणिक कथानक की तिथि ईसवी सन् चौथी शती मानी गई है किन्तु सूर्यपूजा का आरम्भ पहले हो चुका था।

सूर्य-पूजा की प्राचीनता

भारतीय कला में सूर्य के मनुष्याकार प्रतिमा का निर्माण कोई प्राचीन घटना नहीं हैं किन्तु ईसवी सन् पूर्व में ही सूर्यदेवता के प्रतीक–चक्र का कला में समावेश हो गया था। आहत सिक्कों पर भी चक्र-चिह्न अंकित है। सूर्य-मण्डल का प्रतीक अन्य सिक्कों (Tribal coins) तथा मुहरों (Seals) पर अंकित मिले हैं। वैशाली (मुजफ्फरपुर, बिहार) के मुहर पर 'भागवत आदित्यस्य' खुदा है तथा भीटा (प्रयाग, उत्तर प्रदेश) मुहर पर वही शब्द 'आदित्यस्य' अंकित है। ये सभी उल्लेख सूर्यपूजा के प्रचार के द्योतक हैं।

सूर्यपूजा की तिथि का प्रश्न विवादास्पद है। इस विवाद का आधार यह है कि कुषाणकालीन सूर्य-प्रतिमा ईरानी वेष में दीख पड़ती है। लम्बा कोट, घुटने तक लम्बा उपानह (पैर की आकृति का अभाव) तथा सिरे पर लम्बी ऊँची टोपी के सहित सूर्य आकृति बनी है। दूसरा आधार यह होगा कि सूर्य के पुजारी मग ब्राह्मणों का भारत में आगमन ईरान से मानते हैं। इन लोगों ने (शाकद्वीपी ब्राह्मण=मग) शकद्वीप से भारत में प्रवेश कर सूर्यपूजा का विस्तार किया। भविष्यपुराण में शाम्ब से सम्बन्धित कथानक में निम्न वर्णन मिलता है—

मकरो भगवान् देवो भास्कर परिकीर्तितः
मकरध्याने योगाश्च मगाहृयंते प्रकीर्तिता।

(भविष्यपुराण, अध्याय १३४)

बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने (बृहत्संहिता, अध्याय ६०) इसी बात की पुष्टि की है। मुसलमान लेखक अलबेरूनी (११वीं सदी) ने भी उसकी पुनरावृत्ति की है। मध्ययुग के एक अभिलेख में भी सिथिया (शक द्वीप) से मग ब्राह्मणों के भारत आगमन का उल्लेख किया गया है।

देवो जीया त्रिलोकी मणिरममरुणो यन्निवासेन पुण्यः।
शाकद्वीपस्स दुग्धम्बु निधि बलयितो यत्र विप्रो मगाख्या॥

(ए० इ०, भा० २, पृ० ३३३)

ईसा पूर्व सदियों की भारतीय कला में जितनी सूर्य-प्रतिमा उपलब्ध हुई उनमें चार घोड़ों द्वारा चालित रथ में सूर्य की बैठी आकृति है। इस दृष्टान्त से उसके वेष का पूरा ज्ञान नहीं हो पाता।

मथुरा का टिकराभाजा गुहा की बाहरी दीवाल तथा बोधगया वेदिका पर खुदी मूर्ति से देवता की पूरी आकृति नहीं मिलती। सर्वत्र एक पहिये के रथ चार घोड़ों द्वारा खींचा जा रहा है जिसमें सूर्यदेवता बैठे दिखलाये गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में वर्णित सूर्य विवरण के आधार पर ईसा पूर्व सदियों में सूर्य-प्रतिमा बनी होगी। गंधार से चार घोड़ों के पीठ पर बैठी सूर्यप्रतिमा प्राप्त हुई है,

किन्तु मथुरा से प्राप्त दूसरी सूर्यप्रतिमा (स्थानक) खड़ी है जिसमें घुटने तक लम्बा उपानह दृष्टिगोचर होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भारत में सूर्य-प्रतिमा का निर्माण आरम्भ हो गया था तथा ईसवी सन् से लेकर बारहवीं सदी तक सर्वत्र सूर्य-प्रतिमाएँ (पूर्ण आकार में) बनती रहीं। चौथी सदी से सूर्यपूजा का अधिक प्रचार हुआ। गुप्तकालीन लेखों—मंदसोर (मालवा) तथा इन्दौर (मध्य प्रदेश) में सूर्यमंदिर का निर्माण और तैलिक श्रेणी द्वारा दीपदान का वर्णन मिलता है।

तस्मिन्नेव क्षितिपति-विषे बंधुवर्म्मण्युदारे
सम्यक्स्फीतं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांसे।
शिल्पावाप्तैर्द्धन-समुद्रयेः पट्टवायैरूदारं
श्रेणीभूतैः भवनमतुलं कारितं दीप्तरश्मेः॥

(प्रथम कुमारगुप्त का मंदसोर लेख)

प्राच्यां दिशीन्द्रपुराधिष्ठान माडास्यात लग्नमेव प्रतिष्ठापितक-भगवते सवित्रे दीपोपयोज्यमात्मयशोभिवृद्धये मूल्यं प्रयच्छतिः (स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र)।

इसके पश्चात् हूणनरेश तोरमाण सूर्य का उपासक था। छठी सदी के आरम्भ में जितने तोरमाण के सिक्के प्रचलित हुए, उन पर चक्र अङ्कित है। इसने अपने पुत्र का नाम मिहिरकुल (मिहिर=सूर्य) रक्खा। कहा जाता है कि मुल्तान का (=मूलस्थान) सूर्यमंदिर इसी ने निर्मित किया था। मिहिरकुल के ग्वालियर लेख में सूर्यमंदिर के निर्माण का वर्णन मिलता है। मध्ययुगी अभिलेखों में सूर्य को मानव के स्वास्थ्य का रक्षक कहा गया है। उसमें सूर्य समस्त रोगों के नाशक के रूप में वर्णित है।

सूर्यं समस्त रोगानां हर्त्ता विश्व प्रकाशकः (ज० ए० सो०, भा० २६, पृ० १४७)

दूसरे लेख में भी भगवान् सूर्य को तकमी एवं दिनकर—'श्री तकमी दिनकारिन् भट्टारक' (ए० इ०, भा० २७, पृ० २६) कहा गया है। तकमन शब्द अथर्ववेद में (१।४।६) रोग के लिए प्रयुक्त है। अतएव तकमी (सूर्य की उपाधि) शब्द से सूर्य को रोग का विनाशक मानते हैं। इसकी पुष्टि में बारहवीं सदी के गड़हवा सूर्य-प्रतिमा (उत्तर प्रदेश) से की जा सकती है। इस मूर्ति उदाहरण में सूर्य के पार्श्व में आश्विन (अश्वमुख सहित) की आकृति खुदी है जो अमृतघट लिये है। पुराणों में अश्विन-देवभिषजौ (देवतागण का चिकित्सक) कहे गये हैं। इन सभी विवरण तथा प्रतिमा दृष्टांत से विदित होता है कि मनुष्य के स्वास्थ्य के रक्षक सूर्यदेव थे। इस कारण मध्ययुग तक भगवान् सूर्य की पूजा लोकप्रिय हो गई थी। चहमान लेख में सूर्यमंदिर के लिए दान का वर्णन है (ए० इ०, भा० ९, पृ० ६३)। प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल ने सूर्य के लिए अग्रहार दिया था। गहड़वालनरेश जयचन्द्र ने भगवान् लोलारक (सूर्य का दूसरा नाम) के लिए कई ग्राम दान किया था। देवश्री लोलार्काय (ए० इ०, भा० ४, पृ० १२९)। ग्यारहवीं सदी के मुसलमान लेखकों ने (अल-इद्रिसी तथा अलबेरूनी) मुल्तान के सूर्यमन्दिर को सुल्तान के आय का साधन

कहा है। जहाँ भारत के प्रत्येक कोने से आकर भारतीय जनता सूर्य की पूजा करती थी। दान का धन मुसलमान राजा के लिए आय का साधन बन गया। काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर, काठियावाड़ का गोप मन्दिर, सोमनाथ, थाना आदि का सूर्यमन्दिर इस देवता के लोकप्रियता की याद दिलाते हैं। राजपूताना के धौलपुर (नवीं सदी), ओसिया (दसवीं सदी), हिसार (जोधपुर), भरतपुर तथा खुजराहो (मध्य प्रदेश) के मन्दिरों का सम्बन्ध भी सूर्यपूजा से रहा। पूर्वी भारत के सेननरेश परमसौर (सूर्य उपासक) की पदवी से विभूषित थे। उड़ीसा के कोणार्क मन्दिर का खण्डहर सूर्यपूजा की याद दिलाता है। अतएव साहित्यिक तथा पुरातत्व के आधार पर ईसवी पूर्व मध्ययुग तक सूर्यपूजा के अविकल प्रवाह का परिज्ञान हो जाता है।

सूर्य-प्रतिमा

भारत में प्राप्त सूर्य-प्रतिमाओं के परीक्षण से प्रकट होता है कि सूर्य-प्रनिमा के प्रारम्भिक खुदी आकृति से तथा मध्ययुगी मूर्ति से कोई मेल नहीं है। अजीब भिन्नता है। उत्तर भारतीय शैली में ईरानी प्रभाव है। यह प्रतिमा 'उदीच्यवेष' में वर्णित है। साहित्य के आधार पर कलाकारों ने सूर्य-प्रतिमा का निर्माण किया। मत्स्यपुराण (अध्याय ९२), बृहत्संहिता (अध्याय ५७) तथा विष्णुधर्मोत्तर में इस शैली का वर्णन मिलता है।

रविः कार्यश्शुभश्मश्रुः सिन्दुरारुण सुप्रभः।
उदीच्य वेषः स्वाकारः सर्वाभरणभूषितः॥
चतुर्बाहुमहातेजाः कवचेनाभिलंकृत।
कर्तव्या रशनाचास्य पानोपङ्क्ति संज्ञितां॥
स्वरूपरूपः स्वाकारो दण्डः कार्योस्य वामतः।
दक्षिणे पिङ्गले भागे कर्तव्यश्चति पिङ्गलः॥
× × ×
एकचक्रे च सप्ताश्वे षडश्रे वारथोत्तरे।
उपविष्टस्तु कर्तव्यो देवो ह्यरुण सारथिः॥ (मत्स्यपुराण)

सूर्य उदीच्य वेष में पूर्ण अलंकृत, चार भुजाओं सहित परिलक्षित होता है। वह एक चक्र के सात घोड़े सहित रथ पर बैठा है तथा अरुण सारथि है। ईसवी पूर्व प्राचीन प्रतिमा में चार घोड़े दीख पड़ते हैं किन्तु गुप्तयुग से सात घोड़े की कल्पना सूर्यप्रतिमा में आरोपित की गई।

प्राचीन भारत के चार घोड़े वाले रथ का वर्णन यूनानी लेखक स्ट्रेबो ने किया है। वह राजा की शोभायात्रा थी। सम्भवतः इस पर वैज्ञानिक रूप से विचार कर तथा सूर्यकिरणों में सात रंगों को घोड़े से अभिहित कर गुप्तकालीन रथ को सात घोड़ेयुक्त तैयार किया गया।

सूर्य की रथ में बैठी प्रतिमा आरम्भ में तथा कालान्तर में खड़ी प्रतिमा बनने लगी। सिर पर मुकुट है। दोनों हाथों में पुष्पित कमल है। सात घोड़ों के

रथ वाली प्रतिमा की पीठ (Pedestal) पर सात घोड़ों की आकृति खुदी है। प्राचीन काल से ही सूर्य का कमल पुष्प से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पौराणिक कथानक में सूर्य भास्कर (उत्पत्ति की प्रमुख शक्ति) पुष्पित कमल के मध्य में स्थित वर्णित है। अतएव सूर्य एवं कमल का सम्बन्ध अद्वितीय हैं और भारतीय कला में अविच्छिन्न रूप से दृष्टिगोचर होता है। सूर्य की मनुष्याकार प्रतिमा में दो कमल सूर्य का एक प्रमुख प्रतीक है। उत्तरगुप्तकालीन प्रतिमाओं में सभी विशेषताएँ दीख पड़ती हैं।

अग्निपुराण में पैररहित सारथी अरुण का वर्णन मिलता है। सूर्यमूर्ति के दोनों पार्श्व में दो स्त्री तथा दो पुरुष की आकृतियाँ खुदी हैं। उषा तथा प्रत्युषा (प्रभा तथा छाया) दोनों सूर्य की पत्नियाँ हैं तथा दाहिने पिंगल (अग्नि के लिए) तथा बायें दण्ड (स्कन्द के स्थान पर) खड़े हैं। पिंगल के हाथों में लेखनी तथा मसिपात्र है तथा दण्ड शूल सहित खड़े हैं। विष्णुधर्मोत्तर में चतुर्भुजी कवचधारी तथा उदीच्य वेषधारी सूर्यमूर्ति का विवरण मिलता है। इस प्रकार की प्रतिमा कुषाणकाल, गुप्तयुग तथा उत्तर-गुप्तकाल में बनती रही। कनिष्क के स्वर्णसिक्कों पर सूर्य की खड़ी प्रतिमा अङ्कित है और मिहिरो नाम यूनानी अक्षर में खुदा है। (पं० म्यू० क० फलक १७, सं० ५३ तथा ६३)। सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि सभी प्रतिमा में पैर की अंगुलियों की बनावट वर्जित थी। इसी कारण गुप्तकालीन कलाकारों ने पैर से घुटने तक के भाग को लम्बे उपानह से ढँक दिया (चरणौ नित्य संवृतौ)। भारतीय शिल्पशास्त्रों में वर्णित सूर्यप्रतिमा पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट था। सूर्यप्रतिमा में कमल पुष्प तथा घोड़ों का समावेश भारतीय माना जाता है। पूर्वी भारत से एक ऐसी भी प्रतिमा आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित है जिसमें पैर का भाग रथ से ढँका दिखलाया गया है जिससे पैर को दिखलाने की आवश्यकता ही न थी और न उसके लिए स्थान रहा।

शाम्बपुराण में (अध्याय ३१) सूर्य के पाद का माप यानी लम्बाई १४ अंगुल का उल्लेख आया है। अंगुष्ठ, अंगुली, गुल्फ आदि की लम्बाई का वर्णन है। सम्भवतः कालान्तर में सर्वत्र ही पैर (पाद) की आकृति सहित सूर्यप्रतिमा बनने लगी।

स्थानक प्रतिमा

उत्तर भारत में, विशेषकर बिहार तथा बंगाल में सूर्य-प्रतिमाओं की अधिकता है। मथुरा संग्रहालय में कुषाण तथा गुप्तकालीन कुछ सूर्यमूर्तियाँ सुरक्षित हैं। बिहार या बंगाल से प्राप्त मध्ययुगी प्रतिमाएँ (उपरिलिखित विवरण से) अधिक सुन्दर हैं तथा कुछ विशिष्टता रखती हैं। नवीं-दसवीं सदी की (मगध से प्राप्त) सूर्यप्रतिमा मध्ययुगी कला के जीवित उदाहरण हैं। मूर्तियाँ दोहरे कमल पीठ पर खड़ी निर्मित हैं। सिर के पीछे एक बड़ा गोलाकार प्रभामण्डल है जो कमर से सिरे तक विस्तृत है। सिर पर किरीट, मुकुट तथा कमल पुष्प के सदृश कुण्डल वर्तमान है। माला, कमरबन्द तथा गाँठ सहित अलंकृत धोती भी दिखलाई पड़ती है। अन्य विशेषताएँ स्थानक सूर्यप्रतिमा के समान है। उत्तर-मध्ययुग की प्रतिमाओं में दण्ड, पिंगल भी

उदीच्य वेष में है तथा पैर खुदे हुए नहीं हैं। बहुत सम्भव है कि कलाकारों ने घुटने से निचले भाग की खुदाई को स्थगित कर दिया हो। प्रतिमा में प्रदर्शित लम्बा उपानह वास्तव में पैर का बिना खुदा भाग है। पूर्वी भारत की कतिपय सूर्यप्रतिमा में (दोनों पार्श्व में) दो स्त्रियाँ धनुष-बाण चलाती दिखलाई गई हैं। सम्भवतः उनका कार्य अन्धकार दूर करना है। सूर्य तथा सारथी अरुण के मध्य पृथिवी की खुदी आकृति मध्ययुग की एक विशेषता है।

सूर्य की आसन (बैठी) प्रतिमा

उत्तर भारत में इन स्थानक मूर्तियों के अतिरिक्त सूर्य की बैठी प्रतिमा अनेक स्थानों से उपलब्ध हुई है। बैठी प्रतिमाओं का इतिहास अत्यन्त पुराना है। ईसा पूर्व सदियों के भाजा गुहा की दीवाल पर चार घोड़े के रथ पर बैठी सूर्यमूर्ति खुदी है। उषा, प्रत्युषा दो पत्नियाँ भी दीवार पर दीख पड़ती हैं। सूर्य का रथ (चक्र तथा घोड़े) एक विकृत रूप वाली आकृति को कुचलता दिखलाया गया है। सम्भवतः अन्धकार के दैत्य को सूर्य नष्ट कर प्रकाश बिखेरने जा रहा है। मथुरा की सूर्यमूर्ति (प्रायः तीसरी सदी) में देवता के दो हाथ तथा स्थूलकाय का प्रदर्शन है। वह रथ में अपने घुटने पर बैठे हैं जिसे चार घोड़े खींच रहे हैं। मध्ययुग में पूर्वी बंगाल से दो प्रकार की बैठी प्रतिमाएँ प्रकाश में आई हैं। पहली प्रकार की मूर्ति में सूर्य धोती-चादर सहित रथ में बैठे हैं (भट्टशाली-ढाका संग्रहालय की सूची, फलक १९)। दूसरे प्रकार की प्रतिमा एक विशेष उद्देश्य को लेकर बनाई गई थी। वह वज्र-पर्यंक आसन में स्थित है। उसे 'गज-सुंड' का नाम दिया गया है। बंगाल, (दीनाजपुर) पंजाब, उत्तर प्रदेश (सारनाथ) तथा राजपूताना से 'गजसुंड' को सूर्यप्रतिमा प्राप्त हुई हैं। इसमें सूर्य कमलासन पर विराजमान हैं। सभी परिचायक उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। सिरे के भाग पर हाथी के सूँड़ की आठ आकृतियाँ बनी हैं। इसका अभिप्राय यह था कि भगवान् सूर्य हस्तनक्षत्र से सम्बन्ध रखते हैं। उसी को कलाकारों ने 'गजसुंड' (हाथी के सूँड़) से व्यक्त किया है। इसी सूर्य के पूजन से अधिक वृष्टि की सम्भावना रहती हैं। यही कारण था कि सूर्य (जो समुद्र से पानी खींचता है और बादल बन जाते हैं) का सम्बन्ध हस्तनक्षत्र से किया गया जिसमें वर्षा का अनुमान लगाया जाता है।

बहुभुजी प्रतिमा

सूर्य के दो हाथ कमल पुष्प से सदा युक्त दिखलाई पड़ते हैं। मुसलमान लेखक अल-इद्रिसी ने मुल्तान के चतुर्भुजी सूर्यप्रतिमा का उल्लेख किया है। मध्यप्रदेश तथा बंगाल से छः हाथवाली प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इससे भी विचित्र तीन सिर तथा दसभुजी सूर्यप्रतिमा की सूचना मिली है।

बारेन्द्र अनुसन्धान संस्थान (वार्षिक विवरण १९२८–३० फलक)।

सूर्यप्रतिमा में अधिक (चार से ज्यादा) हाथों की स्थिति कुछ विचित्र मालूम पड़ती है। सम्भवतः इस प्रकार के प्रदर्शन में शाक्त मत का प्रभाव रहा।

दक्षिण भारतीय शैली

उत्तर-गुप्तयुग में कलाविदों को सूर्यमूर्ति के पैर ढँकने या न खोदने का वास्तविक अर्थ अज्ञात था। इन लोगों की धारणा थी कि सूर्य के पैर देखने से मनुष्य रोगी हो जाता है।

इसी भय के कारण उत्तर भारत में पैर के भाग को उत्कीर्ण नहीं किया गया। दक्षिण भारत में इस भ्रम को हटाकर कलाकारों ने पैर की अंगुलियों को स्पष्ट रूप से दिखलाया है। श्री गोपीनाथ राव ने अंशुभेदागम के आधार पर दक्षिण भारतीय सूर्यमूर्ति के केवल दो हाथों का वर्णन किया है। उनमें कमल की कलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कंधे की सतह तक पहुँच जाती हैं। सिर कान्तिमंडल से घिरा है तथा शरीर पर अनेक आभूषण हैं। मुक्ता कुण्डल, उदरबन्ध तथा गले में हार विराजमान हैं। प्रतिमा के वक्षस्थल पर यज्ञोपवीत है तथा पारदर्शक वस्त्र के कारण शरीर के अंग स्पष्टतया दिखलाई पड़ते हैं। एक पहिया वाला रथ सप्तकोण के आकार का है। सात घोड़ों सहित रथ का चालक अरुण है। इस प्रकार पैर की बनावट, कमल पुष्प का स्थान तथा उदरबन्ध की स्थिति के कारण दक्षिण भारतीय सूर्यप्रतिमा निजी विशेषता रखती है।

नवग्रह

मध्ययुगी प्रतिमा के केन्द्र में सूर्य स्थित थे। उनके पार्श्व में अन्य आकृतियाँ (उषा, पिंगला, दंड, अरुण, पृथ्वी आदि) को स्थान दिया गया था परन्तु उपासक का ध्यान सूर्य पर ही केन्द्रित था। अन्य प्रकार की प्रतिमा में सूर्य प्रधान देवता नहीं हैं। नवग्रह में उनके स्थान का उल्लेख अग्निपुराण में मिलता है। उनके नाम हैं—

सूर्यः सोमो मङ्गलश्च बुधश्चाथ बृहस्पतिः।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति गुहा स्मृताः॥

(अग्निपुराण, अध्याय १६४)

१. सूर्य, २. सोम (चन्द्रमा), ३. भौम (मंगल), ४. बुध, ५. गुरु (बृहस्पति), ६. शुक्र, ७. शनि, ८. राहु तथा ९. केतु।

कला में सभी आकृतियाँ एक साथ खुदी हैं। प्रायः सब में किरीट एवं रत्नजटित कुंडल दीख पड़ता है। प्रथम सात ग्रहों के नाम पर सात वार (दिन) स्थिर किये गये जो आज तक प्रचलित हैं। मध्ययुगी स्थापत्य कला में नवग्रह की आकृति मंदिरों के मुख्यद्वार के चौखट पर खोदी जाने लगी। राजपूताना तथा गुजरात में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। कालान्तर में नवग्रह की पूजा होने लगी। प्रत्येक गृहयज्ञ में अशुभ के विनाश के निमित्त 'स्वस्त्ययन' के अवसर पर नवग्रह का पूजा विधिवत् सम्पन्न होता है।

इनकी प्रतिमाएँ पाषाण, धातु, चन्दन आदि सामग्रियों के साथ बनती हैं। श्री गोपीनाथ राव ने 'रूपमंडन' के आधार पर नवग्रहों के विभिन्न प्रतीक का विवरण प्रस्तुत किया है। खजुराहो में नवग्रह पाषाण पर खुदे मिले हैं। मध्ययुग के भवनों के

मुख्यद्वार के ऊपरी चौखट पर भी नवग्रह आकृति खुदी दिखलाई पड़ती है। जैनियों ने भी इसे सहर्ष अपनाया था।

सूर्य-प्रतिमा का विश्लेषण

भारत में उपलब्ध समस्त सूर्यप्रतिमाओं का परीक्षण इस देवता की मूर्ति के विकास का चित्र सम्मुख उपस्थित करता है। ईसवी पूर्व सदियों में तथा कुषाणयुग में सूर्यप्रतिमा को चार घोड़ों वाले रथ पर बैठा दिखलाया गया है। भाजा, बोधगया तथा मथुरा की प्रतिमाओं का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। सूर्यप्रतिमा की पूजा विष्णु तथा शिव के सदृश लोकप्रिय नहीं थी। केवल वैदिक रीति से उनका पूजन होता था। बोधगया की वेदिका पर खचित सूर्य आकृति से (एक पहिया का रथ, चार घोड़े) क्रमशः प्रतिमा विकसित होती गई। इस बोधगया की सूर्यप्रतिमा में करधनी (=कटिसूत्र) का प्रदर्शन स्पष्ट रूप से किया गया है। विद्वानों का मत है कि सूर्यप्रतिमा में मेखला के स्थान पर सांप की केचुल का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार से सूर्य तथा सर्प का दार्शनिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। भारत में नाग तथा सूर्यपूजा का प्रचार प्राचीनतम काल से था। ईरानी सपक्षनाग की तरह अजगर भी सम्पूर्ण जानवर को निगल जाता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि अजगर जीवन को समाप्त कर काल का बोधक हो जाता है। सूर्य भी प्रातः से संध्या तक काल (=समय) बतलाता है। उसी प्रकार यम को भी काल कहना युक्तिसंगत होगा। यम का शरीर भी सर्प से लिपटा रहता है। विष्णुधर्मोत्तर में ऐसे यममूर्ति का विवरण है जो काल सहित दिखलाया गया है तथा काल के हाथों सर्प दीख पड़ता है। उसी यम (काल) को विवस्वान सूय का पुत्र कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्प, यम तथा सूर्य काल (=समय) के बोधक हैं तथा उन्हें एक ही श्रेणी में रखना उचित होगा। बोधगया की सूर्यप्रतिमा में केचुल की करधनी है जिसे अव्यंग भी कहते हैं। अतएव सर्प तथा सूर्य का सम्बन्ध अद्वितीय है जिसका विच्छेद नहीं हो सकता। यम मनुष्य के जीवन (काल) का अन्त करने वाला है अतएव महिष के (काला=काल) रूप में शक्ति-प्रतिमा के प्रदर्शन में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के अन्य दृष्टांतों में दार्शनिक रूप से विचार करने पर प्रतिमा की अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है। सूर्य की वासुदेव से भी समता करना अनुचित न होगा। यह वासुदेव शेषनाग के फन पर विश्राम करते हैं तथा अपने को वासुकि (नाग) की भी संज्ञा दी।

> आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मिकामधुक।
> प्रजनश्चामि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

(भगवद्गीता १०।२८)

सूर्य को नवग्रह में दिखलाने का विशेष अभिप्राय था। उसमें राहु को सर्प से उद्भूत मानते हैं। अतः नवग्रह में सूर्य की गणना प्रसंगोचित ही है। ईरान में सैनिक घोड़े पर सवार होकर आवश्यकतावश ऊँचा उपानह धारण करता था। सूर्य की

किरणें सैनिक के रूप में दौड़ती हैं। अन्धकार नामक शत्रु का विनाश करती हैं। अतएव परिस्थिति से विवश होकर ऊँचा उपानह का प्रदर्शन सार्थक प्रकट होता है। उत्तर-गुप्तयुग से सूर्यप्रतिमा के प्रदर्शन में कई विषयों का समावेश हुआ जिसका मुख्य आधार पौराणिक कथानक थे।

भारतवर्ष में सूर्यप्रतिमा ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध हुई है। सूर्य-पूजा लोकप्रिय होने के कारण सभी सदियों में कलाकारों ने प्रतिमा तैयार की। गुप्त-युग से तो अतीव सुन्दर मनुष्याकार की प्रतिमा उत्तरी भारत में बनती रही। ७वीं सदी से १२वीं सदी तक सूर्य की मूर्ति काले प्रस्तर के अग्रभाग पर खोदी जाती थी जो भ्रान्तिवश पूर्ण ज्ञात होती है (Stele form.)। पिछला भाग साधारण प्रस्तर की तरह खुरदुरा है। पूर्वी भारत की सेन प्रशस्तियों में सूर्यप्रतिमा के पूजन का वर्णन है। मूर्ति सजीव तथा रक्त-संचारित प्रकट होती है। उड़ीसा का कोणार्क (कोण + अर्क = कोण पर निर्मित सूर्यमंदिर) सूर्यमन्दिर का खण्डहर उसकी लोकप्रियता का जीता-जागता नमूना है।

दक्षिण भारत की प्रतिमा उत्तरी भारतीय प्रतिमा से तनिक भिन्न है। इसमें हाथ कन्धे तक उठाये दीख पड़ते हैं। कमल आधा खिला है। पैरों में पाँव की अँगुलियाँ बनी हैं जिन पर कोई आवरण नहीं है। उनमें उदरबन्ध अपनी विशेषता रखता है।

सूर्य की पूजा विष्णु तथा शिव के साथ भी होती रही। विष्णु नारायण तथा मार्तण्ड भैरव नामक प्रतिमाएँ उसी की ओर संकेत करती हैं।

मूर्ति-सम्बन्धित लेख

साहित्य तथा अभिलेखों के आधार पर सूर्य जीवन का स्रोत कहा गया है। प्रतिमाएँ उसे काल का बोधक भी व्यक्त करती है। इसी कारण सूर्यपूजा का स्थान वैदिक काल से वर्तमान समय तक समाज में दीख पड़ता है। सूर्य प्रकृतिदेवता हैं और स्वास्थ्य प्रदान करता है। इसी भाव को पूर्वी बंगाल के एक प्रतिमा-लेख में व्यक्त किया गया है। "श्री तकमी दिनकारिन (=दिनकर=सूर्य) भट्टारक" वाक्य अंकित है। तकमी रोग के लिए प्रयुक्त है। दीनाजपुर से प्राप्त दूसरी सूर्यप्रतिमा के पृष्ठभाग पर इसी भावना सहित लेख अंकित है—

सूर्य समस्त रोगानां हर्ता विश्व प्रकाशकः।

इसी विचार की अभिव्यक्ति गोरहवा (उत्तर प्रदेश) से उपलब्ध सूर्यप्रतिमा (१२वीं सदी) द्वारा की जाती है जिसमें सूर्य के साथ ही दो अश्विन की आकृतियाँ खुदी हैं। पुराणों में अश्विन को देवता का चिकित्सक कहते हैं (देवभिषजौ)। साहित्य के वर्णन का साक्षात्कार गोरहवा मूर्ति से हो जाती है। यद्यपि ऐसी प्रतिमा अधिक संख्या में नहीं मिली है किन्तु उसका रहस्य स्वास्थ्य लाभ के लिए था, इसमें संदेह नहीं।

अध्याय ९

गणेश तथा अन्य देव-प्रतिमाएँ

ब्राह्मण धर्म में, पंचदेवों में गणेश (गणपति) की गणना होती है। तैत्तिरीय आरण्यक में इनका नामोल्लेख हुआ है। किन्तु वर्तमान भावना सहित विचार महाभारत युग से समाज में आया। पौराणिक कथानक में गणपति शिव के पुत्र कहे गये हैं अतएव शिव के परिवार में उन्हे स्थान दिया गया है। भारतीय कला में शिव-परिवार में अथवा गणेश की एकाकी प्रतिमा निर्मित होती रही। ऋद्धि तथा सिद्धि उनकी दो पत्नियाँ हैं जिनकी युगल प्रतिमा (गणेश तथा ऋद्धि एवं सिद्धि) अल्प संख्या में प्राप्त हुई है। अग्निपुराण में वर्णन के आधार पर पता चलता है कि तान्त्रिक मत में गणेश को प्रमुख स्थान मिल चुका था। गणपति हिन्दू धर्म के विचार (मूल-धारणा) के प्रतीक हैं जिनकी पूजा प्रत्येक कार्यारम्भ में होती है। गृह के प्रधान द्वार पर भी इनकी आकृति तैयार की जाती है। गणपति की हस्ति सदृश मुखाकृति के पीछे जो भी पौराणिक कथानक हो परन्तु गज के सिर वाले गणेश का रहस्य या दार्शनिक विचार विचारणीय है। गज शब्द में ग का अर्थ लक्ष्य या उद्देश्य से है और ज का प्रयोग उत्पत्ति के अर्थ में किया गया है। अतः उसके पूजन में उद्देश्य की पूर्ति की कामना निहित है। इससे सूक्ष्म को विशालता से सम्पर्क स्थापित करने की भावना व्यक्त होती है। विश्व या मनुष्य का सूक्ष्मदर्शन तथा सम्पूर्ण संसार (त्रिभुवन) से मिलन में गज (हस्ति की मुखाकृति) प्रथम विश्राम (सीढ़ी) का प्रतिनिधित्व करता है। गणपति पूजन से मानव को उद्देश्य (लक्ष्य यानी मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इसीलिए युगल प्रतिमा में सिद्धि गणपति के सूँड़ को अपनी गोद में लिये प्रदर्शित की गई। गणेश की आकृति (सूक्ष्म तथा विशालता का मिलन द्वारा) को गूढ़ विचार से प्रत्येक मानव को आत्मा का परमात्मा से मिलना तथा आत्मा की अन्तर्वर्ती अवस्था का परिज्ञान हो जाता है। गणपति का मनुष्याकार भाग प्रत्यक्ष सिद्धान्तों का मूर्तरूप है जो अव्यक्त से अनुत्तम है। उस अप्रत्यक्ष का स्वरूप गज के सूँड़ द्वारा परिलक्षित होता है। इसीलिए मस्तिष्क का भाग हस्ति के शिरोभाग से प्रदर्शित किया गया है। गणपति विघ्नराज भी कहे जाते हैं अतः प्रत्येक यज्ञ में पुण्याःवाचन के समय गणेश को स्मरण किया जाता है। स्वस्तिक गणपति का सुचित्रित प्रतीक है जिसके केन्द्र से चार शाखाएँ विभिन्न दिशाओं को मुड़ जाती हैं। उस आकृति से स्वस्तिक का मोड़ केन्द्र की ओर आकर्षित नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि जगत के बाह्य रूप से मानव या जीव में ऐक्य की मूल भावना नहीं हो पाती। गणपति के वाहन मूषक की स्थिति भी इसी प्रकार दार्शनिक धारणा लेकर कला में प्रदर्शित की जाती है। मूषक प्रत्येक घर में निवास करता, सर्वत्र भ्रमण करता है तथा वस्तुओं को चुरा ले जाता

है। वह सदा बिल में रहता है जिसे बुद्धि से समता करते हैं। मूषक आत्मा का प्रतीक है जो सर्वव्यापी है और प्रत्येक जीव (घर) में स्थित है। आत्मा किस समय जीव के धन (प्रसन्नता) का हरण कर लेता है, यह ज्ञात नहीं है। अतएव गणपति को मूषक की सवारी दी गई है। मूषक शब्द में 'मुष' का अर्थ है चुराना (मुस लेना, हरण करना)। मूषक मनुष्य के आनन्ददायक अथवा बुरी वस्तुओं को बिना भेदभाव से चुरा लेता है। उसी प्रकार जीव मानव शरीर में रहकर भले-बुरे से निर्लिप्त रहता है। उस पर आनन्द या विषाद का प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार अपने लम्बे-चौड़े कर्ण से सभी गन्दी वस्तुओं को मस्तक से हटा देता है। सूप के समान धूल (भूसा) से अन्न को पृथक् करता है यानी अगुण से गुण को विलग कर देता है। इसका प्रभाव यह है कि आत्मा सदा निर्लेप रहती है।

गणपति नाम की भी व्याख्या विद्वानों ने बड़े मार्मिक ढंग से की है। पहला अक्षर 'ग' ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है। 'ण' से मोक्ष की कल्पना मानते हैं। पति परब्रह्म का वाचक है। एकदंत (नाम) शब्द भी सर्वशक्तिमान का द्योतक है। हेरम्ब नाम से वह देवता दुर्बल का रक्षक माना गया है। बिना जनक की उत्पति के कारण गणेश को विनायक कहते है। इस प्रकार नामों की सार्थकता सिद्ध होती है।

गणपति को तुंडिल (बड़ा पेट) अवस्था के कारण ग्रामदेवता भी कहते है। डा० कुमारस्वामी का मत था कि गणेश यक्ष के सदृश नगर की रक्षा करते है। नाग सिर सहित यक्ष की मूर्ति भी अमरावती से उपलब्ध हुई है। अतः दोनों में समानता दीख पड़ती है। भारतीय कला में इनके विशिष्ट गुणों तथा महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण ब्राह्मण कलाविदों ने स्थान दिया। इन सभी विषयों पर विचार कर जैन तथा बौद्ध कला में भी गणेश को अपनाया गया। भारतीय साहित्य में यक्ष, नाग, पिशाच, भूत, किन्नर, असुर, दैत्य, दानव, सिद्ध, विद्याधर आदि देवतागण के नाम मिलते है जिन्हें 'व्यन्तर-देवता' भी कहा गया है। यद्यपि इसमें गणेश या गणपति का नामोल्लेख नहीं है, पर महाभारत में विनायक नामक श्रेणी में अनेक देवताओं की गणना होती है जो शुभ कार्य में विघ्न पैदा करते थे। उन विघ्नकर्ता के विनाशक गणेश (विघ्नराज) की महत्ता भी वर्णित है। यही कारण है कि गणेश को गणपति-विनायक भी कहते हैं। शिवपुराण, स्कन्दपुराण, लिङ्गपुराण आदि ग्रन्थों में गणेश की उत्पत्ति की कथा विभिन्न रूप से मिलती है। गणेश विघ्नकर्ता हैं, उनको तुष्ट करने से विघ्न दूर होते हैं, शिव ने गणेश को अपने गणों का स्वामी बनाया तथा युद्ध के पश्चात् उनको गणपति का पद मिला आदि विषयों में मतैक्य है। आरम्भ में वह गजबदन नहीं थे और बाद में हाथी का सूँड़ उनके कन्धे पर बैठाया गया। इस तरह की वार्ता आख्यानों में मिलती है। अधिकतर अज्ञानवश कहा जाता है कि वैदिक मंत्रों में गणेश की स्तुति है। परन्तु मंत्रों की व्याख्या से इस नाम के देवता की कल्पना नहीं की जा सकती। यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय में उल्लिखित मंत्र में "गणनान्त्वा गणपति गूं हवामेह" (जो गणेश पूजन के समय पढ़ा जाता है) गणपति शब्द का उल्लेख मात्र है। इसके अतरिक्त गणेश के साथ कोई सम्बन्ध जोड़ा नहीं जा सकता।

पुराणों तथा गाणपत्य वाङ्मय में गणेश के अनेक ध्यान दिए गए हैं। इन्हीं ध्यानों के आधार पर कला में मूर्तियाँ तैयार की गईं। एक अवतरण नीचे दिया जाता है—

चतुर्भुजस्त्रिनेत्रश्च-कर्तव्योऽत्र गजाननः, नागयज्ञोपवीतश्चशशाङ्कृत शेखरः।
दक्षेदन्तकरे दद्यात् द्वितीये चाक्षसूत्रकम्, तृतीये परशुं दद्यात् चतुर्थे मोदकं तथा॥

कला में गणेश का प्रारम्भ

पंचदेवों में (विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा तथा गणेश) गणपति का नाम ही स्पष्ट कर देता है कि गुप्तकाल से पूर्व ब्राह्मण देवतागण में गणेश का कोई स्थान न था। गुप्तकालीन अभिलेखों में भी गणेश तथा उनके अनुयायी का उल्लेख नहीं मिलता। डा० भण्डारकर का मत है कि बृहत्संहिता के प्रतिमा लक्षण अध्याय में गणेश की मूर्ति का वर्णन क्षेपक के समान है। अतः पाँचवीं तथा छठी शताब्दी के पश्चात् गणपति की पूजा भारतीय समाज में आरम्भ हुई और पुराणों में वर्णित ध्यान के आधार पर गणेश की प्रतिमा खोदी जाने लगी। नवीं सदी के घटियाला (जोधपुर) स्तम्भ पर चारों दिशाओं में गणेश की चार मूर्तियाँ खुदी हैं। उसी पर अंकित लेख से विदित होता है कि ककुद नामक व्यक्ति ने अपने व्यवसाय की उन्नति एवं सफलता के लिए गणेश की प्रतिमाएँ खुदवायी थीं। यद्यपि गणपति के पुजारी विभिन्न वर्गों में विभक्त किये जाते हैं परन्तु मूलतः गणेशपूजा की ही प्रधानता रही और सर्वत्र पूजित होते रहे।

भारतीय कला में गणेश की तीन प्रकार की प्रतिमाएँ मिली हैं—

(१) बैठी प्रतिमा-एकाकिन् या युगलमूर्ति में साधारणतया दो भुजाएँ वर्तमान हैं। एक में परशु तथा दूसरे में मूलक। गजबदन, एकदंत एवं लम्बोदर उनकी विशेषता है। कभी पुस्तक तथा लेखनी भी हाथों में दिखलाई पड़ती है। विष्णुधर्मोत्तर आदि आगम ग्रन्थों में चतुर्भुजी गणेश का विवरण मिलता है। उन हाथों में शंख, चक्र, कृपाण तथा कमल विद्यमान है। अथवा पाश (मोह का चिह्न) तथा अंकुश (प्रवृत्ति का प्रतीक) भी दीख पड़ता है। पीठ पर चूहा की आकृति खुदी है। युग्म प्रतिमा में गणेश की पत्नियों में लक्ष्मी, विघ्नेश्वरी ऋद्धि तथा सिद्धि के नाम तथा कलात्मक उदाहरण मिलते हैं। उसमें गणेश शक्ति को आलिंगन करते दिखलाए गए हैं। युग्ममूर्ति को शक्ति-गणेश भी कहा जाता है।

युगल तिमा के आलिंगन अवस्था में शक्ति की मूर्ति नग्न दिखलाई पड़ती है। रत्नजटित मुकुट, आभूषणों से सुसज्जित शक्ति को विघ्नेश्वरी का नाम दिया जाता है। कला के नमूनों तथा ग्रन्थों के वर्णन में सामंजस्य नहीं दीख पड़ता। भूमरा के शिवमंदिर में आसन अवस्था में गणेशमूर्ति मिलती है। मथुरा से लाल प्रस्तर की मूर्ति तथा भितरगाँव से मिट्टी के ठीकरे पर गणेश प्रतिमा प्राप्त हुई है।

खजुराहो से भी चतुर्भुजी बैठी गणेश-प्रतिमा उपलब्ध हुई है।

गणेश की बैठी प्रतिमा का ही पूजन समाज में होता है, सम्भवतः इसी कारण समस्त भारत में आसन पर स्थित प्रतिमा उपलब्ध हुई है। गुप्तयुग से मध्यकाल तक

ऐसी प्रतिमा की बहुलता है। दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में भी (जावा, बाली, सुमात्रा) गणेश की बैठी प्रतिमा पाई जाती है जो दोहरे कमल पर बैठी है। सम्भवतः उसका अनुकरण भारत के मध्यकालीन गणेश-प्रतिमा से किया गया था। भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा की दीवाल पर गणेश की मूर्ति खुदी है जिसके दो हाथ हैं। अर्द्धपर्यंक आसन में हैं। मोदक भाण्ड हाथ में दिखलाई पड़ता है। खजुराहो से गणेश की मूर्ति पार्वती की गोद में बैठी प्राप्त हुई हैं। इससे गणेश शिव-परिवार से सम्बन्धित सिद्ध हो जाते हैं।

(२) स्थानक प्रतिमा—गणेश की खड़ी मूर्ति अभंग रूप में है। वह कभी त्रिभंग भी दीख पड़ती है। चतुर्भुजी प्रतिमा दोहरे कमल के आसन पर खड़ी है। उड़ीसा के मयूरभंज से ऐसी मूर्ति प्रकाश में आई हैं जिसके हाथों में भाला, एक दाँत, मोदक पात्र हैं, चौथा आयुध स्पष्ट नहीं है। यह नमूना गणेश के ध्यान पर आधारित प्रकट होता है जिसमें गजानन की मूर्ति त्रिनेत्र वाली तथा चतुर्भुजी कही गई है। गले में सर्प का जनेऊ है। हाथों में दाँत, रुद्राक्षमाला, परशु तथा मोदक वर्तमान है। उड़ीसा के नमूने में गजमस्तक पर किरीट-मुकुट, सुन्दर आभूषण तथा आसन पर चूहा दिखलाई पड़ता है।

ऐसी भव्य प्रतिमा की संख्या अधिक नहीं है। इन्हें प्रसन्न-गणपति का भी नाम दिया जाता है। खजुराहो की स्थानक प्रतिमा में गणेश के चार भुजाएँ हैं। तीन हाथों में मोदकपात्र, कुठार तथा परशु दिखलाई पड़ता है। चौथा वरद मुद्रा में हैं।

(३) नृत गणपति—नृत शब्द का प्रयोग यह प्रकट करता है कि गणेश नाचते दिखलाये गए हैं। उड़ीसा के मयूरभंज से ऐसी ही मूर्ति उपलब्ध हुई है। दोहरे कमल का आसन है। नृत्य करते उनके आठ हाथ दिखलाई पड़ते हैं। खजुराहो से चार, आठ या सोलह भुजावाली कई गणेश की नृत-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। मैसूर से भी ऐसी ही नृत-गणेश की प्रतिमा मिली है। एक दाहिना हाथ गजहस्त मुद्रा में है। अन्य हाथों में दाँत, अक्षमाला, मोदक पात्र आदि हैं। कलाकार ने पैरों के मोड़ को इस कुशलता से प्रदर्शित किया है कि नृत्य की अवस्था व्यक्त होती है। बंगाल से भी नृत गणपति की मूर्ति मिली है जो आम्रवृक्ष की शाखा के नीचे नाच रही है। वृक्ष की आकृति प्रभावली पर स्पष्ट रूप से खुदी है। चूहा की आकृति पीठ के नीचे है।

गणेश की पाँच मुख वाली मूर्ति का भी पता चला है जिसमें एक मस्तक से पाँच सूँड़ सम्बन्धित है। कलाभवन में यह प्रतिमा सुरक्षित है। सोलह भुजावाली गणेशमूर्ति अधिक नहीं मिलती किन्तु केरल से सोलहभुजी धातु प्रतिमा उपलब्ध हुई है। दक्षिण भारत से हेरम्बगणपति नामक मूर्ति भी मिली है जिसमें गणेश सिंह की पीठ पर बैठे दिखलाए गए हैं। इस प्रकार गणेश-प्रतिमा भारत तथा बाहर के देशों (जावा, वाली आदि) से भी प्राप्त हुई है जो गणेश-पूजा के प्रचार का द्योतक है।

हनुमान

पंचायतन-पूजा का प्रसार हो जाने पर हिन्दुओं में अन्य देवताओं का पूजन स्वाभाविक हो जाता है क्योंकि उनका सम्बन्ध उन पाँचों (विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा एवं गणेश) से किसी-न-किसी रूप में पुराणों में वर्णित हैं। हनुमान राम से (वैष्णव-मूर्ति), कार्तिकेय शिव से, रेवन्त सूर्य से, गजलक्ष्मी मनसा आदि देवी प्रतिमा से सम्बन्धित हैं। इस कारण इन गौण देवी-देवताओं का पूजन मध्ययुग से अधिक प्रचलित हो गया। हनुमान के कथानक से सभी परिचित हैं। मध्ययुग के शासकों ने इस देवता की मूर्ति तैयार की जिसमें वानर का शरीर, एक हाथ में गदा तथा दूसरे में पर्वत चट्टान लिये दीख पड़ते हैं। मध्य प्रदेश के कल्चुरी नरेशों के सिक्कों पर भी हनुमान की आकृति खुदी है। रामावतार प्रतिमा में हनुमान का अभाव है किन्तु राम लक्ष्मण, जानकी की संयुक्त मूर्ति में हनुमान भी दिखलाई पड़ते हैं। रामकथा के प्रसार के पश्चात् हनुमान का पूजन बढ़ने लगा तथा समाज में प्रतिमा तैयार होने लगी। दक्षिण भारत से हनुमान की धातुप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो कमलासन पर खड़ी हैं। इसमें अन्य प्रतीकों (गदा या पर्वत) का अभाव है।

कार्तिकेय

भगवान् शिव के परिवार में कार्तिकेय भी प्रधान देव माने गये हैं। इन्हें कुमार या महासेन की भी संज्ञा दी जाती है। तारक राक्षस के मारने के लिए कार्तिकेय का जन्म हुआ था। शिव के दो पुत्रों—गणेश एवं कार्तिकेय में गणेश शिव के गणों के प्रधान माने जाते हैं तथा कार्तिकेय युद्ध से सम्बन्धित। इनकी पूजा देव-सेना के सेनानायक के रूप में भी होती है। अतः इन्हें युद्ध के देवता मानते हैं। पंचदेवों में गणेश का स्थान हीन समझा गया, इसी कारण इनको शिव मंदिरों के चौखट (मुख्य द्वार) पर स्थान दिया गया। गुप्तकाल में पंचायतन पूजा में गणेश को स्थान प्राप्त था किन्तु मध्ययुग के आरम्भ से गणेश को वह प्रतिष्ठा न मिल पाई। गुप्तयुग के स्वर्णसिक्कों पर कार्तिकेय को स्थान दिया गया। प्रथम कुमारगुप्त की स्वर्णमुद्रा कार्तिकेय प्रकार से प्रसिद्ध है। कलाभवन (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में कार्तिकेय की मोरवाही सुन्दर प्रतिमा सुरक्षित है। उसमें एक सिर तथा दो हाथ वर्तमान हैं। शिव-पूजा के विकास में कार्तिकेय का समादर बढ गया। समाज के विभिन्न रूप पूजित होने लगे। बृहत्संहिता में मोर तथा शक्ति कार्तिकेय के अंग माने गए हैं। स्कन्दः कुमार रूपः शक्तिधरो बर्हिकेतुश्च' पुराणो (मत्स्य, अग्नि) में उनके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन आता है। भारत के संग्रहालयों में कार्तिकेय की भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। चार हाथ, छः सिर, बारह हाथ आदि। छः मुख के कारण षडानन या कुमार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसकी प्रतिमा युवा पुरुष के सदृश है तथा कुमार नाम भी सार्थक हो जाता है। उसके छः सिर, हँसता चेहरा (प्रातः सूर्य की तरह चमकता) लाल वस्त्रयुक्त तथा बारह भुजी वाली प्रतिमा तैयार की जाती थी। उसके हाथों में शक्ति, धनुष, बाण, तलवार, मुद्गर, हथौड़ा, विजयध्वज, घंटा, खेट, मुर्गा पक्षी और शेष हाथ संवर्धन मुद्रा में दीख

पड़ते हैं। सिर तथा दो भुजा सहित प्रतिमा भी मिली है जो शक्ति तथा मुर्गा पक्षी सहित खुदी हुई है। कार्तिकेय का वाहन मोर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है।

आगम ग्रन्थों में कार्तिकेय स्कन्द के नाम से भी वर्णित है। दक्षिण भारतीय प्रतिमाओं को सुब्रह्मण्य का नाम दिया गया है। इसी नाम से सर्वत्र (दक्षिण भारत में) उसकी पूजा होती है। सुब्रह्मण्य की प्रस्तर तथा कांसे की सुन्दर प्रतिमाएँ काफी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। देशिक-सुब्रह्मण्य की मूर्ति में यह देवता अपने पिता (शिव) को ओम् के विषय में शिक्षा देता है, ऐसी बातें कही जाती हैं।

पूर्वी भारत में कार्तिकेय की द्विभुजी खड़ी प्रतिमा मिली है जिसमें वाहन मोर एक तरफ खुदा हुआ है। किन्तु दक्षिण भारत की तरह उत्तरी भारत में धातु-प्रतिमा का अभाव है। प्रस्तर तथा धातु-मूर्तियाँ एक ही स्वरूप की नहीं हैं। कार्तिकेय कई राजवंशों का आराध्यदेव के रूप में कला में प्रदर्शित है। अयोध्या के राजा देवमित्र तथा विजयमित्र के सिक्कों पर इस देवता की आकृति खुदी है। यौधेय गण के सिक्कों पर ब्रह्मण्यदेव का नाम अंकित है। इस प्रकार कार्तिकेय की लोकप्रियता प्रकट होती है।

रेवन्त

युद्ध के देवतागण में रेवन्त की भी गणना होती है। सूर्य परिवार में रेवन्त सूर्य का पुत्र कहा गया है। पूर्वी भारत में ही रेवन्त की मूर्तियाँ मिलती हैं। पटना तथा नालंदा संग्रहालय में प्रस्तर तथा कांसे की भी प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। रेवन्त घोड़े पर सवार दिखलाया गया है जिस कारण भ्रमवश उसे कल्कि समझ लेते हैं। किन्तु रेवन्त का कलात्मक नमूना उसका सूर्य से सम्बन्ध स्थापित करता है। रेवन्त शिकारी के रूप में दिखलाए गए हैं। घोड़े पर सवार हैं। पैरों में सूर्य प्रतिमा के सदृश ऊँचा जूता वर्तमान है। घोड़े के पैरों के मध्य में कुत्ता की आकृति है तथा निचले भाग में संगीतज्ञ (वाद्यसहित) दिखलाए गए हैं। जंगल में शिकार के समय नगाड़ा बजाया जाता है तथा कुत्ते भी उस कार्य में सहायता के लिए रखे जाते हैं। इस कारण वाद्य-सहित व्यक्तियों का झुण्ड तथा कुत्ता का स्थान शिकार के दृश्य के द्योतक हैं। बृहत्संहिता में निम्न पंक्तियाँ उल्लिखित है, इसमे रेवन्त मूर्ति को पहचानने में सरलता हो जाती है।

रेवन्तोऽश्वारूढो मृगया क्रीडादि परिवारः।
पृष्ठस्य सूर्य्यवत कार्यो रेवन्तश्च तथा प्रभुः ॥ (हेमाद्रि)

पूर्वी बंगाल में रेवन्त की प्रतिमा भिन्न रूप में निर्मित है। दीनाजपुर (घाट नगर) प्रतिमा में रेवन्त डाकुओं से युद्ध करते प्रदर्शित हैं।

वरुण

वैदिक युग में प्रकृति देवताओं में वरुण की प्रार्थना की जाती रही, ताकि आर्य लोगों का जीवन वृष्टि के कारण सुखमय व्यतीत हो। ऐतिहासिक काल से ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की पूजा का विधान समाज में आया जो वैदिक प्रजापति, विष्णु तथा रुद्र के दूसरे नाम माने जाते हैं। इन त्रिदेवों की पूजा के सम्मुख अन्य देवताओं का

समादर कम हो गया और पौराणिक देवता-समूह में अन्य देवगण भी समाविष्ट हो गये। कालान्तर में हिन्दूधर्म की विलासिता के कारण नाना देवताओं की पूजा प्रचलित हुई। इसके कई कारण थे।

मध्ययुग से भारतीय कला में प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त गौण देवों की भी प्रतिमा बनने लगी। वरुण को उसी श्रेणी में रक्खा जा सकता है। इस देवता की मूर्ति सुलभ नहीं है। बृहत्संहिता, अग्नि तथा मत्स्य पुराणों में वरुण के सम्बन्ध में हमारी जानकारी होती है। वरुण जल के देवता हैं, अतएव कलाकारों ने प्रतिमा को ऐसे ही वस्तुओं से युक्त किया जिसका किसी-न-किसी रूप में जलदेवता से सीधा सम्बन्ध जोड़ा जा सकता था।

वरुण की आकृति में अलंकरण के स्थान पर गले में मोती का हार वर्तमान है। उनके चार हाथों में शंख, कमल, रस्सी तथा रत्नपात्र दीख पड़ता है। मोती, शंख, कमल या रत्नपात्र का सीधा सम्बन्ध जल या समुद्र से है। समुद्र से मोती तथा रत्न निकाले जाते हैं। शंख भी समुद्र में पैदा होता है। कमल की उत्पत्ति जल से है। अतः ये सारे लक्षण जल के देवता में उपयुक्त माने जाते हैं। वरुण समुद्र के देवता हैं, अतएव हाथ में रस्सी को मछली के जाल का एक भाग समझना उचित होगा। मछुआ जाल के सहारे मछली मारता है या समुद्र से मोती निकालता है। इस कारण रस्सी की वास्तविक उपयोगिता सिद्ध होती है। इन लक्षणों की वास्तविकता पर ध्यान रख कर वरुण के वाहन का भी विचार आवश्यक हो जाता है। इस देवता के वाहन के विषय में शास्त्रों में मतभेद है।

(१) हंसारूढ़श्च पाश भृद्वरुणः (बृहत्संहिता)
(२) मकरे वरुणः पाशी (अग्निपुराण)
वरुणं च प्रवक्ष्यामे पाश हस्तं महाबलम्।
(३) मृगाधिरूढ वरदं पताकाध्वज संयुतम् (मत्स्यपुराण)

हंस, मकर तथा हरिण, तीनों वाहनों में प्रथम तथा द्वितीय का सीधा सम्बन्ध जल से है। अतएव हंस या मकर वाहन उपयुक्त हैं किन्तु हिरण का जलदेवता से सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। कागड़ा जिले के मंदिर में स्थित मकरवाही वरुण की मूर्ति प्रकाश में आई है।

अग्नि

वैदिक देवताओं में अग्नि को प्रमुख स्थान दिया गया है। इनकी पूजा समाज में सर्वदा प्रचलित रही। यद्यपि हिन्दी भाषा में अग्नि शब्द स्त्रीलिङ्ग है किन्तु प्रतिमा निर्माण को सदा पुरुष का स्वरूप दिया गया है। अग्नि (अग्नि देवता) की मूर्ति उत्तरी भारत में कई स्थानों से उपलब्ध हुई है। प्रतिमा दो या चतुर्भुजी निर्मित है। दो हाथ वाली प्रतिमा में माला तथा कमण्डलु दीख पड़ता है तथा चतुर्भुजी रूप में, ज्वाला तथा त्रिशूल दाहिने दो हाथों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। बाएँ हाथ में माला तथा कमण्डलु वर्तमान हैं। अग्निदेव के शरीर से चारों तरफ ज्वाला निकलती दीख पड़ती है। चेहरे पर लम्बी दाढ़ी है तथा उसकी पत्नी स्वाहा की भी आकृति बाईं जाँघ पर बैठी खुदी है।

अग्नि को सारे यज्ञों के केन्द्रीभूत मानते हैं अतएव उसकी पत्नी का नाम स्वाहा सर्वथा उचित है। हाथों में कमण्डलु की स्थिति यज्ञ की ओर संकेत करता है। भारत के समस्त देवतागण में अग्नि का प्राचीनतम स्थान है अतः प्रतिमा में दाढ़ी दीर्घायु का द्योतक है। शरीर से निकली ज्वाला अग्नि के प्रज्वलित होने की वार्ता का पोषक है। इस प्रकार अग्नि के समस्त लक्षण कार्य के अनुरूप ही हैं।

अग्नि के वाहन बकरा का सम्बन्ध यज्ञदेवता (अग्निदेव) से स्पष्ट प्रकट नहीं होता। यदि आध्यात्मिक बातों पर विचार किया जाय तो प्रकट होता है कि अग्नि में रजोगुण की प्रधानता है। अग्नि में शक्ति तथा तेज है। आग शक्ति का पुंज है। शरीर से ज्वाला उसका प्रतीक है तथा बकरा भी रजोगुणी है। इस कारण अग्नि के वाहन के स्थान पर रक्खा गया।

वामोत्संगगता स्वाहा—
ज्वाला त्रिशूले कर्त्तव्ये त्वक्षमाल्यं च वामके (हेमाद्रि)

कुबेर

भारतीय साहित्य में कुबेर को धन का देवता मानते हैं। यद्यपि इस शब्द के अर्थ से इस देवता का शरीर कुरूपवान प्रकट होता है परन्तु वैभव एवं सौभाग्य से सम्बन्धित होने के कारण, ब्राह्मण, जैन तथा बौद्धकला में कुबेर को समादर तथा सम्मान दिया गया। कुबेर की मूर्ति सर्वत्र मिलती है। इसकी प्रतिमा में लम्बोदर तथा दो बड़े दाँत दीख पड़ते हैं किन्तु शरीर मूल्यवान आभूषणों से सुसज्जित है। हाथ, बाहु तथा गले में मणियुक्त आभूषण हैं। सिर पर रत्नजटित मुकुट है। कुबेर प्रतिमा के हाथों में पैसे की थैली तथा नेवला वर्तमान है। थैली से कोष का परिज्ञान होता है। नेवला पेट को दबाने से मणि उगलने लगता है, इसी कारण नेवला का प्रतीक सार्थक प्रतीत होता है। ब्राह्मण कला में कुबेर की स्त्री वृद्धि (वैभव) बाईं जांघ पर स्थित दीख पड़ती है। बौद्ध कला में उसे हारीति या बसुधारा भी कहते हैं। इन सभी लक्षणों से कुबेर ऐश्वर्य एवं वैभव के देवता सिद्ध हो जाते हैं।

मत्स्य पुराण में निम्न प्रकार वर्णन आता है—

कुबेर च प्रवक्ष्यामि कुण्डलाभ्यामलंकृतम्।
हार केयूर रचितं सिताम्बरधरं सदा॥
लम्बोदरः चतुर्बाहुवामपिंगल लोचनः
वामोत्संगगता कार्या वृद्धिदेवी वरप्रदा। (हेमाद्रि)

लम्बोदर होने के कारण कुबेर गणेश के सदृश प्रकट होते है। स्यात् विद्वानों ने गणेश को शिव का गणनायक तथा कुबेर को कैलास पर्वत पर निवास करने के कारण सम्बन्धित किया हो। यक्षों के साथ कुबेर (उत्तर दिशा का स्वामी) कैलास पर रहता था जिसका वर्णन कालिदास ने मेघदूत में किया है। जावा में भी कुबेर की सुन्दर प्रतिमा आसन पर बैठी मिली है।

यमराज

यम को वैदिक देवता-समूह में सम्मिलित कर उसे धर्मराज का नाम दिया

गया। वह धर्म का मूर्तिमत्ता कहा गया है। प्रेतराज नाम के कारण उसे प्रेतवर्ग का स्वामी मानते हैं। यम शब्द की सार्थकता पर ध्यान देने से प्रकट होता है कि यह देवता मानव को बन्धन में रखता है। यानी उसे धर्मविरोधी नहीं होने देता। क्योंकि सभी जीवों का वह भाग्यविधाता है। महाभारत (१२।४४०७) में वर्णन आता है कि यम के दण्ड के कारण जगत को नियमन में रहना पड़ता है। वह मृत्यु भी है, काल भी है तथा पितृपति भी है। उसे दक्षिण दिशा का स्वामी कहते हैं (दक्षिणपति)। यमराज तथा काल पर्यायवाची इस कारण है कि दोनों जीवमात्र का अन्त करने वाले हैं। काल आ जाने पर कोई बच नहीं सकता तथा यम भी उस समय आ जाता है।

यमराज की प्रतिमा यदा-कदा उपलब्ध हुई है। यम की भयावनी कार्यनिष्ठा को जानकर कलाकारों ने अपनी कृतियों में कम स्थान दिया। अशुभ बातों का अधिक प्रदर्शन नहीं किया जाता। यम की डरावनी आकृति है। शरीर कुरूप एवं भद्दी बनावट वाला है। कोयले की तरह काला शरीर, लाल आँखें तथा खूनी वस्त्र दीख पड़ते हैं। सिर पर साधारण ताजनुमा बनावट है। हाथों में रस्सी तथा तलवार वर्तमान हैं। यमराज काले भैंसा पर सवारी करता है। भैंसा अज्ञान का प्रतीक है। अज्ञान के कारण मनुष्य का नाश होता है और काल (यमराज) उसे उठा लेता है। इसी कारण दुर्गा ने असुर के रूप में इस महिष (महिषासुर) का नाश किया। दार्शनिक रूप में यम को काल का स्वरूप निर्मित करते समय वृद्ध पुरुष की आकृति दी गई। ढाल-तलवार भी हाथों में दिया गया जिससे मानव का अन्त कर सके। पद्मपुराण में यम को विष्णु भी कहा गया। यमराज का साथी रोग है जो राक्षस का कार्य करता रहता है।

पौराणिक कथाओं में यम तथा यमी की कथा वर्णित है जो रात्रि यानी यामिनी के नाम से विख्यात हुई। यम के भ्राता मनु का भी उल्लेख है जो विश्व में आचार, व्यवहार या सिद्धान्त के नियमों को बनाने वाला कहे जाते हैं। वह शास्त्रकार हैं। तात्पर्य यह है कि मानव या प्राणिमात्र को नियम में रहने के लिए यमराज प्रेरणा देता है। मनु के नियमों का पालन करने की ओर उत्साहित करता है जो अज्ञानवश वैसा न करेगा उसका अन्त होगा तथा काल के मुख में विलीन हो जायगा। यही यमराज के पीछे छिपा सिद्धान्त है।

अध्याय १०

धातु-मूर्तियाँ

प्राचीन भारत में धातु की मूर्तियाँ बनाने की विचित्र शैली थी। मोहनजोदड़ो से एक नर्तकी की प्रागऐतिहासिक धातु-प्रतिमा मिली है। बिहार के चम्पारन जिले के लारिया नामक स्थान से सोने के पत्तर पर खुदी मातृदेवी की आकृति उपलब्ध हुई है। इसे मौर्ययुग की कलाकृति मानते हैं। बिहार प्रान्त के चौसा नामक स्थान से काँसे का धर्म-चक्र प्राप्त हुआ है। उसमें चक्र की मूँठ और दो यक्षिणियों की मूर्ति है—जो साँची तोरण की यक्षिणी से मिलती है। इसलिए धर्मचक्र को शुङ्गकालीन कृति मानते हैं। कुषाणकालीन शाहजी की ढेरी नामक स्थान से बुद्ध के अवशेष सहित धातु की डिबिया मिली है जिसके ऊपरी भाग पर बुद्ध, इन्द्र तथा ब्रह्मा की छोटी मूर्तियाँ बनी हैं। प्रथम शती की ये धातुमूर्तियाँ साँचे में ढाल कर तैयार की गई थीं। यों तो ईसवी पूर्व सदियों में गण शासकों द्वारा सिक्के ढालने का कार्य होता रहा परन्तु मूर्ति-निर्माण में साँचे का प्रयोग कम किया जाता था। श्री गोपीनाथ राव ने यह मत व्यक्त किया है कि 'ध्रुव-बेर' प्रतिमाएँ धातु की नहीं बनाई जाती थीं। धातु का प्रयोग 'चल-प्रतिमा' के लिए ही होता था। सिक्कों के ढालने (Casting of Coins) की नयी रीति समाज में अपनाई गई थी और 'आहत-सिक्कों' (Punch marked) के स्थान पर राजा तथा 'गण-मुख्यों' ने साँचे का प्रयोग आरम्भ किया। अतएव यह कहना युक्तिसंगत होगा कि सिक्कों के ढालने की रीति का प्रयोग कालान्तर मे प्रतिमा-निर्माण की दशा में होने लगा। यद्यपि दोनों कार्यो के मूल मे कोई अन्तर न था परन्तु धातु-मूर्तियों के ढालने की शैली सिक्कों से भिन्न थी।

गुप्तकाल में धातु का प्रयोग कई रूपों में हुआ था। मेहरौली का लौह-स्तम्भ तथा सुल्तान गंज (भागलपुर) से प्राप्त ताँबे की बुद्ध प्रतिमा उस कला के जीवित उदाहरण हैं। गुप्तयुग में सिक्कों के लिए सोना, चाँदी तथा ताँबे का प्रयोग होता रहा एव लोहे का भस्म बनाया जाता था। परन्तु प्रतिमा-निर्माण में इन धातुयों का उस रूप से उपयोग नही हुआ। यह आश्चर्य है कि ढालने की कला (Casting process) से पूर्ण परिचित होने पर भी गुप्तकालीन कलाविद् मूर्तियों के ढालने में उस शैली का अधिक समावेश न कर सके।

उत्तर-गुप्तकाल से धातु-मूर्तियों की बाढ़ मगध में दिखलाई पड़ती है। नालंदा तथा विक्रमशिला में बौद्धमत की तीसरी शाखा तन्त्रयान पल्लवित तथा पुष्पित हुई जिसके कारण वज्रयान देवता-समूह (Vajrayana Pantheon) का प्रादुर्भाव हुआ। आठवीं सदी से पूर्वी भारत में पालनरेश शासन कर रहे थे जिसमें धर्मपाल तथा

देवपाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये नरेश बौद्धधर्म के उपासक थे। जिनके शासनकाल में पाँच ध्यानी-बुद्ध के परिवार की वृद्धि हुई और प्रस्तर एवं धातु की मूर्तियाँ तैयार होने लगीं। ध्यानीबुद्ध, लोकेश्वर एवं तारा आदि देवता-देवी की प्रधानता के कारण पालयुग में अनगिनत मूर्तियाँ बनाई गईं। प्रारम्भ में तो सारनाथ शैली को मगध के कलाकारों ने अपनाया था, परन्तु कालान्तर में साधन-माला की साधना (श्लोकों) में उल्लिखित विवरण के अनुसार पूर्वी भारत के कलाकारों ने वज्रयान-प्रतिमाएँ निर्मित कीं।

विशेषता एवं धातु का प्रयोग

इन प्रतिमाओं की विवेचना के आधार पर दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम विशेषता धातु-मूर्तियों के आकार तथा शैली की है; जो सर्वशा पालयुग की प्रस्तर मूर्तियों से शत-प्रतिशत मिलती-जुलती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि इन पर अंकित तिथियों से शासक की अवधि का ज्ञान हो जाता है। मगध में जो धातु-प्रतिमाएँ मिली हैं उन पर प्रायः लेख (बौद्ध-मन्त्र—यो धम्मा हेतु प्रभवा) तथा वर्ष में तिथि अंकन है। ये तिथियाँ पालवंशी राजाओं के राज्य-वर्ष में दी गई हैं। लेखों की लिपि भी पालयुग की है, अतएव धातु-प्रतिमाएँ सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी के मध्य में रक्खी जा सकती हैं। आश्चर्य यह है कि लेखों में काँची (दक्षिण भारत) के कलाकारों के भी नाम उल्लिखित हैं। यह कहना कठिन है कि काँची से मगध में आने का उनका क्या उद्देश्य था। यह कथन असंगत न होगा कि पालयुग—जो वज्रयान का प्रधान युग था—में ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित धातु-प्रतिमाएँ भी निर्मित हुईं। धर्मपाल तथा नारायणपाल परमसौगत पदवी धारण करते हुए भी ब्राह्मणधर्म को प्रोत्साहित किया और क्रमशः विष्णु तथा शिव-मंदिरों का निर्माण करवाया। यदि मूर्तियों की गणना की जाय तो ब्राह्मणधर्मी प्रतिमाओं की संख्या बौद्धों से न्यूनतर नहीं है।

प्रायः विष्णु संहिता, मानसार तथा शिल्परत्न में धातु-प्रतिमाओं की बनावट का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण मूर्तियाँ एवं तन्त्रयान प्रतिमाएँ प्रस्तर की मूर्तियों से अक्षरशः मिलती हैं। उपरिलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त साधनमाला को भी आधार ग्रन्थ मान सकते हैं। धातु-मूर्तियों के प्रसंग में आठ धातु के नाम निम्न क्रम से मिलते हैं :

(१) सुवर्ण, (२) रजत, (३) ताम्र, (४) पीतल, (५) कांस्य, (६) आयस (लौह), (७) सैसक (सीसा) एवं (८) त्रापुष (?)।

शास्त्रों में प्रथम पाँच धातुओं द्वारा निर्मित मूर्तियों का उल्लेख है जो मुक्ति, शक्ति तथा सन्तान एवं स्वास्थ्य प्रदान करने वाली कही जाती हैं। मगध में स्थित नालंदा तथा कुर्किहर नामक स्थानों से कांस्य प्रतिमाएँ अधिक संख्या में मिली हैं। इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि बिहार में स्थित हजारीबाग के खानों से ताँबा तथा टीन अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। इसलिए कुर्किहर के कांस्य

मूर्तियों की संख्या अधिक है। नालंदा में धातु के गलाने के निमित्त अग्निकुण्ड (भट्ठी) का भी अवशेष मिला है। खेद है कि धातु गलाने के रासायनिक पदार्थों का उल्लेख नहीं मिलता। भारतीय इतिहास में धातु पर काम करने वाले कलाकारों के नाम भी नहीं मिलते। तिब्बती इतिहास का तारनाथ ने नालंदा के दो धातुकलाकार—धीमान तथा विटपाल का नामोल्लेख किया है जो धातुमूर्तियों को साँचे में ढाल कर तैयार करते रहे। मगध की धातु-प्रतिमाओं का अनुकरण भारत से बाहर जावा, सुमात्रा में भी हुआ था। जावा से विष्णु तथा शिव की अतीव सुन्दर धातु-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो आठवीं सदी की मानी गई हैं।

उत्तरी भारत में वज्रयान प्रतिमाओं का निर्माण प्रस्तर मूर्तियों के शत-प्रतिशत अनुकरण पर किया गया था। अङ्गों की बनावट, वस्त्राभूषण, मुद्रा तथा आयुध आदि प्रतीक सभी एक-से (सटीक) हैं। प्रायः तीन सौ वर्षों के पश्चात् दक्षिण के चोल नरेश राजराज प्रथम ने धातु (उत्सव) मूर्तियों का निर्माण किया था। उसी ने तंजौर के बृहदेश्वर मंदिर में शैव संतों को धातु-चित्र भेंट किया जो अद्यावधि विद्यमान हैं।

इस कथन से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि दसवीं सदी से प्रतिमा-निर्माण में धातु का प्रयोग दक्षिण भारत के कलाकारों ने आरम्भ किया। चोलवंशी नरेशों के शासनकाल में शैव प्रतिमाओं—विशेषकर नृत मूर्ति का अधिक निर्माण किया गया था। मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित नटराज मूर्तियाँ उस युग की याद दिलाती हैं।

इस बात की चर्चा हो चुकी है कि नालंदा तथा कुर्कीहर में बौद्ध-मूर्तियों की प्रधानता थी। बुद्ध को केन्द्रस्थान में रखकर तंत्रयान युग में कलाकार कार्य करते रहे। सारनाथ शैली का जिस रूप से समावेश प्रस्तर मे हुआ था उसी का निर्वाह मगध से प्राप्त धातु-मूर्तियों में भी दिखलाई पड़ता है। बुद्ध के शरीर पर पारदर्शक संघाटी धातु-मूर्तियों में कम आकर्षक नहीं है। दाहिना कंधा तथा वक्षःस्थल खुला है। बायें कंधे पर वस्त्र का जमाव है जिसमें एक के ऊपर दूसरा परत चिपका मालूम होता है।

अधिकांश मूर्तियों में सौम्य भाव का प्रदर्शन, गोल चेहरा, शरीर में सजीवता गुप्तकालीन उन्नत कला की याद दिलाते हैं। पालयुग में वस्त्रों में लहर या लकीर प्रकट होती है। गुप्तकाल से पालयुग तक बुद्ध के चेहरों की तुलना में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। मगध में निर्मित बुद्ध प्रतिमाओं के चेहरे भारी मालूम पड़ते हैं। उनमें चैतन्यता की कमी है। उनमे पूर्ववत् आकर्षण तथा सौम्यता का अभाव-सा है। जहाँ तक शरीर के बनावट का प्रश्न है; धड़ को संघाटी के अनुसार ही बनाया गया किन्तु हाथ पृथक् से कंधे से जुड़ा प्रकट होता है। अङ्गों की स्थूलता से प्रतिमा देवपालकालीन समझो जाती है। पालयुग से पूर्व प्रस्तर की मूर्ति से मिलती धातु-प्रतिमा में गम्भीर, हलके तथा सजीव अङ्ग दृष्टिगोचर होते हैं जो तिथि के निश्चित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। पालयुगी मूर्तियों में चेहरे की मनोवैज्ञानिक भावना एक-सी नहीं प्रकट होती। सम्भवतः विभिन्न शताब्दियों में धातु-प्रतिमा

के ढालने वाले कलाकारों के हस्तकौशल में समता न थी और उन लोगों ने (दस्तकारी की) अपनी कुशलता दिखलाई।

मगध शैली में जिस चौकोर प्रस्तर का प्रयोग प्रतिमा-निर्माण में हुआ, वह सिरे भाग पर नुकीला या गोल दिखलाई पड़ता है। सामने सुन्दर प्रतिमा खुदी हुई है और पीठ की ओर प्रस्तर खुरदुरे हैं। चिकना करने का भी प्रयास नहीं किया गया था। धातु-मूर्तियाँ भी इसी आकार की हैं। सम्मुख प्रतिमा के शरीर की कोमलता, अलंकार, जटा-मुकुट तथा प्रभावशाली सभी धातु-प्रतिमाओं के निरीक्षण से स्पष्ट हो जाते हैं। कलाकारों ने वस्तुतः पाषाणमूर्ति के लक्षण धातु में उतार लिए। अधिकांश मूर्तियों में कमलासन के अतिरिक्त बैठने या खड़ा होने के लिए एक चबूतरा भी है। अवलोकितेश्वर में चार भुजायें तथा तारा मूर्ति में अट्ठारह हाथ वर्तमान हैं। पीठ की ओर अधिक खाली स्थान है और धातु का प्रयोग यदा-कदा किया गया है। यानी पीठ को देखने से मूर्ति का कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता।

नालंदा की मारीची तथा त्रैलोक्यविजय की अष्टधातु प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। त्रैलोक्यविजय के चार मुख, आँखों में चाँदी की पुतलियाँ, गले में मुण्डमाल उस देवता के रौद्रभावना को प्रकट करते हैं। ललितासन में बैठी तारा की अष्टधातु प्रतिमा मिली है जो वज्रयान की प्रधान देवी समझी जाती है। कुर्कीहार से उमामहेश्वर और सूर्य की भी धातु-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें पाषाण-मूर्ति की सभी विशेषताएँ समाविष्ट हैं। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मगध के कलाविद् आन्तरिक भावों के प्रदर्शन में तो अधिक सफल न थे किन्तु बहिःसौन्दर्य, अलंकार, मुद्रा, त्रिभंग स्थिति तथा प्रभावली पर खुदाई आदि कार्यों में निपुणता दिखलाई। कुछ दोषों के रहते हुए भी पाल-कला में ऐसी शक्ति थी जिसके कारण पूर्वी भारत में कला तीन सौ वर्षों तक जीवित रही। इसके पीछे मुख्यतया धार्मिक भावना काम कर रही थी। पाल एवं सेन शासकों ने भी कला को प्रोत्साहित किया था।

ढालने की रीति

पाषाणमूर्ति कला से अष्टधातु की प्रतिमा शैली में पर्याप्त भिन्नता है। श्री सरस्वती ने सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थ (अभिलषितार्थ चिन्तामणि) के आधार पर धातुमूर्ति के ढालने का उल्लेख किया है (ज० इ० सो० ओ० आ०, भा० ४, पृ० १३९)। उसमें नवताल मान के अनुसार मोम का साँचा तैयार करने का वर्णन है। उसकी समीक्षा के निमित्त मोम तथा मिट्टी के प्रयोग का सविस्तृत विवरण उपस्थित करना नितान्त आवश्यक है। जिस धातु की मूर्ति बनाई जाती है उसका मोम से अनुपात में तौल स्थिर किया जाता है। पीतल तथा ताँबा का तौल दस गुना, रजत का बारह गुना तथा सोने की प्रतिमा को मोम से सोलह गुना तौल में पृथक् एकत्रित करते हैं। मोम ही वास्तविक साधन है जिस पर सारा कार्य निर्भर रहता था। इसीलिए अष्टधातु की प्रतिमा में मोम की विधि या रीति (Wax-method =मधूच्छिष्ठे विधानं) प्रयुक्त की जाती रही। मोम की तौल निश्चित कर उसका

ठोस टुकड़ा बनाया जाता और जिस देवी या देवता की मूर्ति बनाने का संकल्प होता उसी मोम पर कलाविद् अपनी हस्तकला प्रदर्शित करते थे। यानी मोम की ही मूर्ति तैयार की जाती थी। उस मोम के आकार पर पतला मिट्टी का लेप दिया जाता। लेप के सूखने पर दूसरी तथा तीसरी बार मिट्टी लगाई जाती ताकि सब मिलकर मजबूत मोटा लेप दृढ़ बन जाय। इस स्थिति में मोम पूरी तरह से ढँक ली जाती तथा देखने वाले को मिट्टी की प्रतिमा प्रकट होने लगती। इसको लोहे के पत्तर से चारों तरफ से बाँध देते ताकि मिट्टी का साँचा टूट न जाय तथा कथित मिट्टी की मूर्ति को भट्ठी (आँवाँ) में पकाते थे। उसके सिरे पर एक छोटा सा छेद रहता था जिससे गली मोम बाहर निकल जाती। वही पकी मिट्टी का आकार साँचे का काम करता था। तत्पश्चात् निश्चित तौल की धातु को गलाकर शनैः शनैः उस छिद्र से मिट्टी के साँचे में गिराया जाता ताकि गली हुई धातु क्रमशः समस्त रिक्त स्थान में भर जाय।

थोड़े समय के पश्चात् ही उस साँचे में गली धातु ठंडी होने एवं साँचे को तोड़ देने पर इच्छित प्रकार की मूर्ति सामने उपस्थित हो जाती। मोम के कारण ही मिट्टी का साँचा वैज्ञानिक रूप में तैयार हो जाता और साँचा में सभी वस्त्रालंकार, मुखाकृति, केशविन्यास तथा शरीर के अङ्ग प्रस्तरमूर्ति के सदृश बन जाते। क्योंकि कलाकारों ने मोम की अस्थायी मूर्ति में सभी आकार-प्रकार को तैयार किया था। यही धातु-प्रतिमा निर्माण की रीति पूर्वी भारत में प्रयुक्त हुई। मोमपिंड पर काम करने की कुशलता तथा धातु-प्रतिमा की सुन्दरता का पारस्परिक सम्बन्ध था। या यों कहा जाय कि कलाकार की चतुरता पर धातुप्रतिमा की सुन्दरता निर्भर थी। मोम का जैसा आकार बनकर तैयार होता, उसी पर धातु प्रतिमा की सुन्दरता, भव्यता एवं लावण्य आधारित था।

लोहजं सकलं यन्तु मधुच्छिष्ठेन निर्मितम्।

उपर्युक्त पंक्ति इस बात को दुहराती है कि मोम के सहारे धातु-प्रतिमा तैयार हुआ करती थीं। उसमें साधारणतया पाँच धातुओं का नामोल्लेख है।

(१) ताम्र, (२) चाँदी, (३) सोना, (४) पीतल, (५) सीसा।

इसमें प्रथम तथा अन्तिम दो धातुएँ अधिक प्रयुक्त की गई। उनके अनुपात में दश भाग ताँबा, उसका आधा पीतल तथा इसके आधे में सीसा मिश्रित किये जाते थे। भारत में धातुप्रतिमा ठोस बनती रहीं परन्तु इसका तिब्बत में जिस समय समावेश हुआ, वहाँ खोखली धातु-प्रतिमा तैयार होने लगी। मध्ययुगी भारतीय कला का प्रभाव तिब्बत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप जावा में दीख पड़ता है।

मृण्मूर्तियाँ

भारतीय कला के इतिहास में मिट्टी से निर्मित मूर्तियों का भी अपना स्थान है। कला के विभिन्न साधनों में मिट्टी ने भी अपनी करामात दिखलाई तथा इससे तैयार मूर्तियों में अनेक विषयों एवं विशेषताओं का भी समावेश किया गया। ईसा पूर्व तीन हजार वर्षों से आजतक इस साधन का प्रयोग होता रहा है तथा कई युगों में

मृण्मूर्तियाँ प्रस्तर-प्रतिमाओं से सुन्दरता में कम नहीं प्रकट होतीं। साधारणतया ग्रामीण कलाकार मिट्टी का प्रयोग करते रहे। नागरिक कलात्मक नमूनों की तुलना में मिट्टी के आकार उतने सुसंस्कृत नहीं थे, तो भी मिट्टी से तैयार कृतियों का कला में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मोहनजोदड़ो से लेकर भारत में सत्रहवीं सदी तक मिट्टी का प्रयोग विभिन्न रूप से होता रहा। इस कला के विभिन्न उदाहरणों को निम्न श्रेणी में बाँटा जा सकता है :

(अ) मिट्टी से तैयार बर्तन—प्रागऐतिहासिक युग से ही मिट्टी के बर्तन का प्रयोग भारतीय समाज में हो रहा है। कुछ हाथ से तथा कुछ चाक द्वारा बर्तन तैयार किये जाते हैं। यही रीति पुराने समय में भी काम में लाई गई। उन पर अनेक प्रकार की चित्रकारी भी मिलती है। चौथी-पाँचवीं सदी से मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग कम होने लगा। किन्तु मिट्टी के बर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के अन्धकार युग में प्रकाश का काम करता है।

(ब) मिट्टी के खिलौने—समाज में नाना प्रकार के खिलौनों का प्रयोग सजावट या खेल के लिए होता है। पशु, पक्षियों या मनुष्य आकृतियों को तैयार कर कलाकार अपनी जीविका पैदा करते हैं। प्राचीन समाज में रुचि के साथ खिलौनों का क्रय-विक्रय होता था। उसमें बैलगाड़ी, भेड़ागाड़ी, हाथी, घोड़े आदि जानवर तथा अनेक पक्षियों की आकृतियाँ लोकप्रिय थीं। उसी रूप में दीपावली के अवसर पर आज भी मिट्टी के खिलौनों की माँग की जाती है।

(स) देवी-देवताओं का प्रतिमा—धार्मिक समाज में वस्तु पर अधिक ध्यान न देकर देवप्रतिमा को पूजानिमित्त घरों में स्थान दिया जाता है। वर्तमान युग की तरह विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा या लक्ष्मी की मूर्तियों को प्राचीन काल में भी गृहस्थ घरों में पूजा करते थे। यही कारण है कि शक्ति-प्रतिमा (मातृदेवी) का पूजन सहस्राब्दियों पूर्व भारत या भारत से बाहर के प्रदेशों में होता रहा।

(द) मिट्टी से तैयार ईंट—ईसवी पूर्व सदियों में पर्वतों को खोदकर गुहा—निर्माण की कला से लोग परिचित थे। परन्तु गुप्तकाल से (चौथी सदी से) स्थान-स्थान पर ईंटों का प्रयोग होने लगा और बिहार के निर्माण में ईंट-ईंट ही दिखलाई पड़ते हैं। साँचे में ईंट को ढाल कर विभिन्न प्रकार से उसे काट कर अलंकृत किया जाता था और तत्पश्चात् मंदिरों में उनका प्रयोग होता रहा।

प्राचीन भारत में मिट्टी से निर्मित आकार-प्रकार के अवलोकन से ज्ञात होता है कि मिट्टी के साधन द्वारा नाना रूप से अलंकृत वस्तुएँ अथवा मूर्तियों का समादर ही न था किन्तु उनका कलात्मक मूल्याङ्कन भी होता रहा। प्रस्तर की प्रतिमा तथा मिट्टी की मूर्ति का तुलनात्मक परीक्षण मृण्मयी मूर्तियों का काल-निर्णय में सहायता करता है।

साहित्य में मिट्टी की निर्मित मूर्तियों का वर्णन मिलता है। महाभारत (द्रोणाचार्य की मूर्ति, आदिपर्व), मार्कण्डेय पुराण (दुर्गा प्रतिमा–१३, ७) तथा जातक (४६५) में इस प्रकार के विवरण पाये जाते हैं जहाँ मिट्टी की मूर्ति का पूजन

उल्लिखित है। पुरातत्त्व की खुदाई से समस्त भारत में स्थान-स्थान पर अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रसंग में मनुष्य तथा देवी-देवताओं का विवरण उपस्थित किया जायगा ताकि पाठकगण मिट्टी से निर्मित कला-शैली से कुछ परिचित हो जायँ।

कार्य-प्रणाली

मिट्टी के प्रयोग से छोटी-छोटी मूर्ति तैयार कर आग में पका दी जाती थी।

सादी मिट्टी के प्रयोग से पकने पर मूर्तियों के फटने का भय था। अतएव ईसवी सन् के पश्चात् उस मिट्टी में भूसा मिलाकर वस्तु को पकाने लगे। उसमें अबरख का भी प्रयोग किया जाता था। पकने पर मिट्टी की वस्तुओ का रंग कुछ पीला, हलका काला या लाल रंग का होता था। स्यात् मिट्टी में कुछ अन्य पदार्थ मिश्रित रहते थे। इन रंगों का दूसरा कारण पकाने का तरीका अथवा आग की गर्मी पर भी निर्भर था। कुम्हार के आँवें में हवा के प्रवेश से ललाई आ जाती थी। यदि चारों तरफ से बंद रहता तो वह वस्तु काले रंग की होती। मथुरा से काले रंग की अधिक मूर्तियाँ मिलती हैं। पाटलिपुत्र तथा कौशाम्बी से भूरे रंग की चीजें मिलती हैं जो पकाने के तरीके पर निर्भर है।

उस आकार के स्थिर हो जाने पर रंग द्वारा अंगों को रंगा जाता था जिससे मूर्तियों की सुन्दरता बढ़ जाय। इस तरह की कला प्राग्ऐतिहासिक युग में आरम्भ हुई जिसकी परम्परा तथा शैली मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त और भारत से बाहर मेसोपोटामिया, ईरान तथा अफगानिस्तान के प्राचीन खण्डहरों से उपलब्ध मूर्तियों में दृष्टिगोचर होती है। उन स्थानों से मातृदेवी की मूर्ति एक नमूने की मिली है और उसे हाथ से तैयार किया जाता था। भारत में वह तरीका मौर्ययुग तक काम में लाया गया था। पाटलिपुत्र, बक्सर तथा कौशाम्बी से ऐसी ही मूर्तियाँ मिली है। भारत में मिट्टी की मूर्तियाँ कई प्रकार से तैयार की जाती थीं—

(१) हाथ से तैयार की जाने वाली प्रतिमा मौर्ययुग तक मिलती है।

(२) चिपटे या कम गहरे साँचे में (मिट्टी से) ढालकर नाना आकार बनने लगे। यह रीति शुङ्गकाल में प्रचलित हुई थी।

(३) बड़े आकार (चिपटे नहीं) में प्रतिमा का सिर साँचे में ढाला जाता था। गर्दन से नीचे का भाग हाथ से तैयार होता ताकि धड़ के ऊपर बने छिद्र (Tenon) में उस सिर को जोड़ दिया जाय। कुषाण कलाकार इस रीति को काम में लाते रहे।

(४) गुप्तयुग में कला की उन्नति के साथ मिट्टी की मूर्तियाँ भी अतीव सुन्दर ढंग से सम्पूर्ण साँचे में ढाली जाने लगीं। इस प्रकार मिट्टी की छोटी मूर्तियों में (Figurines) विभिन्न कार्य-शैली का प्रयोग समय-समय पर होता रहा।

कुम्हार परम्परागत रूप में अपनी दस्तकारी का निर्वाह करता था। हाथ में मिट्टी तथा दिमाग में आकार की कल्पना का विचार कर मूर्ति तैयार करने लगता। उन प्रतिमाओं का चुनाव अन्य लोगों द्वारा किया जाता था। यह समाज के लोगों पर

निर्भर था कि वे उस मूर्ति को पूजित करें अथवा बालकों को खिलौने के रूप में अर्पित करें। प्राचीन काल में मिट्टी का धड़ (Torso) तैयार कर हाथ-पैर का आकार पृथक् से (Stump) निर्मित कर जोड़ देते थे। नाक, कान भी अलग से जोड़ दिये जाते थे। मूर्ति में छेद बनाकर नासिका या कान का रूप दे देते थे। नाक के नीचे गहरी लकीर से मुँह का रूप देते थे। मिट्टी के गोलाकार भाग को नासिका के दोनों तरफ जोड़कर आँख तैयार कर और उसी में कील से छेद कर उसे आँख का वास्तविक आकार बना देते थे। इसी प्रकार पतली मिट्टी का लम्बा रस्सीनुमा हिस्से को छाती से लगाकर हार, कमर में कमरबंद (कई लड़ों का) तथा हाथ में चूड़ी आदि आभूषण तैयार हो जाता था। कान में चिपटे चक्रनुमा या गोलाकार आभूषण चिपकाए जाते थे। देखने से प्रकट होता है कि वक्षस्थल पर स्तन का अगला भाग बाहर से लगा दिया गया है। मातृदेवी के सिर की विचित्र बनावट है। सिर के भाग में पगड़ी या पंखा (मिट्टी का) का आकार जोड़ देते तथा उसी में मिट्टी द्वारा फूल या पत्तियाँ बनाया करते। वह जानवर के सींग की तरह भी दिखलाई पड़ता है। इस तरह सिर का भाग इतना बोझिल हो जाता कि अप्राकृतिक मालूम पड़ता है। स्यात् ऐसा अलंकरण प्राग्ऐतिहासिक युग की स्त्रियों के शृङ्गार का द्योतक है।

मोहनजोदड़ो शैली की मातृदेवी की मूर्तियाँ मौर्ययुग तक मिलती हैं, पर कुछ-न-कुछ परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। शरीर पर गोल निशान (पंच) द्वारा गहना दिखलाया गया है। परन्तु खुदाई के आधार पर उनको तिथियाँ सर्वदा निश्चित नहीं की जा सकतीं। उनमें अभिलेख अंकित नहीं हैं। खुदाई की गहराई सर्वदा निश्चित प्रमाण नहीं उपस्थित करती। बुलंदीबाग की खुदाई से कुषाण तथा गुप्तकालीन वस्तुएँ एक ही सतह से निकली हैं। इसलिए खुदाई के परीक्षण से तिथि निश्चित नहीं हो पाती। शैली तथा परम्परागत विचार मृण्मयी मूर्तियों के काल-क्रम निश्चित करने में सहायक हुई हैं। उदाहरण के लिए आभूषण तथा वस्त्र एवं सिरे की सजावट अधिकतर प्रस्तर प्रतिमा के समान मिट्टी की मूर्तियों में दिखलाया है परन्तु समयानुकूल उसमें परिवर्तन भी आया। प्रस्तर के नमूनों से उनकी तुलना कर काल का अनुमान लगाया जाता है। जहाँ पर सिर को साँचे में ढाला जाता, वहाँ धड़ को हाथ से तैयार कर सिरे के भाग को कीलनुमा बनावट (Tenon) से जोड़ दिया गया है। शरीर की बनावट में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता किन्तु सिर के ढलाव में समयानुकूल चेहरे में भेद दृष्टिगोचर होता है।

साँचे का प्रयोग

ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष से लेकर तीन सौ वर्ष तक मूर्तियाँ हाथ से ही तैयार की जाती रहीं। मौर्ययुग में भी मातृदेवी की मूर्ति कुछ वैसी ही है। अन्य वस्तुओं में भी नाक, कान और मुँह छेद कर दिखलाए गये हैं। शुङ्गकाल से साँचे का प्रयोग होने लगा। साँचा चिपटा तथा छिछला होता जिसमें स्त्री या पुरुष की बनावट खुदी रहती थी। वस्त्र, आभूषण, सिरे का भाग प्रस्तर की खुदाई की तरह साँचे में

तैयार किया जाता। शरीर पर भारी आभूषण तथा सिर पर लम्बा पुष्पित बनावट दिखलाई पड़ती है। पैर के कड़े तथा करधनी चपकली विशेषतया उल्लेखनीय हैं। मिट्टी का थोड़ा सा भाग लेकर उस साँचे में दबाकर फैलाया जाता, जिसका फल यह होता था कि साँचे की ऊपरी मिट्टी में अंगुलियों के निशान अथवा ऊँची-नीची मिट्टी दिखलाई पड़ती। साँचे से लगी मिट्टी में खुदे आकार का सुन्दर नमूना उभर आता। इस प्रकार साँचे से हटा लेने पर मिट्टी के एक ओर स्त्री या देवी-देवता का भव्य आकार सामने आ जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि शुंगकाल से साँचे का पूर्ण प्रयोग मिट्टी के मूर्तियों के लिए होने लगा जिसमें मूर्ति का अर्द्धभाग उभर आता जो भ्रांतिवश पूरा मालूम पड़ता था। ऐसे नमूने मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी तथा पाटलिपुत्र से उपलब्ध हुए हैं। बक्सर से प्राप्त कुछ मूर्तियों में चेहरा साँचे में ढाला गया है पर सिर का आभूषण आदि हाथ से बनाकर जोड़ दिया गया है।

उत्तर-शुंगयुग से इस शैली में परिवर्तन लाया गया। कुषाणकाल में प्रायः सिरे साँचे में ढाला जाता और सिर से नीचे का धड़ हाथ से तैयार किया जाता था। इस क्रम में सिर ठोस मिट्टी का बनाते थे। सिर के नीचे गले मे कीलनुमा आकार से धड़ से मिला देते ताकि मूर्ति पूरी तैयार हो जाय। मनुष्य या जानवर के सिर ऐसे ही ठोस बनने लगे। कुषाण-युग में प्रस्तर-प्रतिमाओं का अधिक प्रयोग हुआ, इस कारण मिट्टी की मूर्तियाँ कम मिलती हैं। गुप्तयुग से इस बनावट में परिवर्तन आ गया। इस काल में सिर के दो भाग किये जाते। अगला तथा पिछला। दोनों अलग-अलग साँचे में ढाले जाते और मिलाकर एक सुन्दर सिर तैयार हो जाता। उत्तरी भारत में मथुरा, अहिच्छत्रा, पवाया, श्रावस्ती, भीटा तथा राजघाट नामक स्थानों पर मिट्टी से निर्मित कलाकृतियों पर लोगों का अधिक ध्यान था। इसी माध्यम से कलाकार साधारण जनता तक पहुँच पाते तथा लोगों को कला की सुन्दरता और गौरव का ज्ञान हो जाता था।

वर्गीकरण

गुप्तकालीन मृण्मयी कला को तीन श्रेणी में विभक्त करते हैं—

(अ) धार्मिक नमूने—विष्णु, शिव, पार्वती, कार्तिकेय, दुर्गा आदि।

अहिच्छत्रा से प्राप्त शिव-पार्वती के सिर कला में अद्वितीय माने जाते हैं।

(ब) साधारण जन (स्त्री-पुरुष) की आकृति जिसमें स्त्री के सिरे अत्यन्त भव्य मिले हैं। केशविन्यास का सुन्दर प्रदर्शन अन्यत्र नहीं मिलता। अनेक स्थानों से प्राप्त स्त्रियों के मिट्टी के सिर इस कथन की पुष्टि करते है।

(स) तीसरे ढंग के मिट्टी ठीकरे अलंकरण के लिए प्रयुक्त हैं। उनका उपयोग भवनों को अलंकृत करने के लिए किया गया था। इसमें किन्नर तथा मिथुन आकृतियाँ भी सम्मिलित हैं।

पहाड़पुर (राजशाही) के स्तूप में मिट्टी के बड़े ठीकरे (Plagues) का भी प्रयोग किया गया था। यहाँ तक कि ठीकरों पर बंगाल के पशु-पक्षी, वृक्ष आदि का भी प्रदर्शन है जो ग्रामीण कला की उन्नता, जीवन तथा विचारधारा का विवरण

उपस्थित करता है। जनसाधारण के काल्पनिक विचारों का भी परिज्ञान पंख सहित मनुष्य, मनुष्य का शरीर एवं पक्षी का पैर, सिंह का चेहरा तथा मनुष्य के पैर आदि मिट्टी पर प्रदर्शित आकार-प्रकार से हो जाता है। प्रायः पशुओं के सम्बन्ध में एक विशेष बात देखी जाती है कि ग्रामीण कलाकार दैनिक जीवन से लाभ उठाकर परम्परागत पशु की आकृति तैयार करते थे। दूसरी विशेषता यह थी कि वहाँ काल्पनिकता को भी स्थान दिया गया और कुछ विशिष्टता के साथ पशु-पक्षी आकृतियाँ तैयार हुईं। पाटलिपुत्र की खुदाई से पशु-पक्षी की अनेक छोटी आकृतियाँ (Figurines) उपलब्ध हुई हैं जिसमें लौकिक आकार की प्रधानता है। भागलपुर जिले में कहलगाँव के समीप अन्तिचक्र (जिसे विक्रमशिला का भूभाग मानना उचित होगा) में एक विशाल स्तूप खुदाई से निकला है जिसके ऊपरी प्रदक्षिणापथ के बाहरी दीवार पर सुन्दर ठीकरे जुड़े हैं। उसमें पशु-पक्षी के आकार दृष्टिगोचर होते हैं। किन्नर के साथ पंखयुक्त सिंह दीख पड़ते है। बुद्ध एवं बोधिसत्व के आकार ठीकरों पर निर्मित हैं। हिन्दू-देवताओं में हनुमान, तीन सिरों वाले विष्णु, शंख, पूर्णघट आदि अनेक आकार सहित ठीकरे को दीवाल से लगा कर सारे प्रदक्षिणापथ को सुन्दर तथा शोभनीय बनाया गया है। कालक्रम में अन्तिचक्र का स्तूप पहाड़पुर के समकालीन है। जैसा ज्ञात है कि विक्रमशिला की स्थापना धर्मपाल ने आठवीं सदी में की थी। अतएव ठीकरे द्वारा मंदिर या स्तूप की दीवाल को सुशोभित करने का कार्यक्रम मध्ययुग में प्रारम्भ हुआ होगा। उत्तर-गुप्तयुग से ही ठीकरे तैयार करने की कला भारत में विकसित हुई।

खण्ड : तृतीय

•

अध्याय ११

बौद्धमूर्तियों का उद्गम एवं विकास

धर्म तथा कला का सर्वदा अटूट सम्बन्ध रहा है और धर्म के विस्तार से कला की उन्नति होती है। जगत के धार्मिक विचारधारा ने इस कला को गहरा प्रभावित किया है। प्रागैतिहासिक युग में शक्ति की प्रधानता के कारण मिस्र से भारत तक मातृदेवी की मूर्ति (कुरूप अवस्था में) मिलती है। वैदिक युग में प्रकृति देवों की प्रतिकृति की स्थिति मानी जा सकती है। ऐतिहासिक काल से बुद्ध द्वारा प्रसारित मत ब्राह्मणधर्म के सदृश प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुका था। बुद्धधर्म के विभिन्न शाखाओं में कुछ मतभेद भी उत्पन्न हुआ। प्रारम्भिक दशा में जिस मत का प्रसार हुआ उसे 'हीनयान' की संज्ञा देते हैं। इसमें धर्मकाय की प्रधानता थी। बुद्ध महान नेता थे जिनके प्रतीक समादर के पात्र बन गये। इनकी महानता के कारण त्रिरत्न में बुद्ध को प्रथम स्थान मिला जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। अशोक के बैराट लेख में 'बुधसि, धंमसि, संघसि' का उल्लेख इसी विचार की पुष्टि करता है।

ईसा पूर्व पहली शती तक हीनयान की प्रधानता भारत में रही और इससे सम्बन्धित कला (ईसवी पूर्व) में बुद्ध के जीवन की घटनाओं को प्रतीक रूप में प्रदर्शित किया गया। साथ में जातकों का प्रदर्शन भी दीख पड़ता है। अशोक इस मत का प्रबल समर्थक था। अतएव मौर्यकालीन कला में प्रतीक को विशिष्ट स्थान दिया गया। सारनाथ स्तम्भ पर, नन्दी, हस्ति, अश्व तथा सिंह बुद्ध के प्रमुख प्रतीक माने गये हैं। शुंगयुग में वही कला विकसित हुई। तत्कालीन कला का इतिहास यह बतलाता है कि अमरावती स्तूप, बोधगया एवं भरहुत की वेदिकाओं तथा साँची के तोरण पर खुदी कला प्रतीकात्मक है। जातकों का भी प्रदर्शन भरा पड़ा है। सह्याद्रि पर्वतमाला में खुदे विहार तथा चैत्य हीनयान मत की याद दिलाते हैं। चैत्य में हीनयान स्तूप दीख पड़ता है। स्तूप के अण्ड अथवा वेदिका के विभिन्न भागों एवं तोरणों की पट्टियों तथा स्तम्भों पर जो चित्र खुदे हैं वह हीनयान से सम्बन्ध रखते हैं।

देवता की कल्पना

भारतीय धर्म एवं कला में कुषाणयुग महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसी समय बौद्धमत की नयी शाखा 'महायान' की उत्पत्ति हुई। अगले छः सौ वर्षों तक (छठी शती तक) महायान का भारत में प्रचुर प्रचार रहा। सभी विद्वानों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि भागवत सम्प्रदाय के प्रभाव से ही नयी शाखा, महायान की उत्पत्ति हुई और भक्ति के समावेश से बौद्धकला में नई प्रवृत्तियों को स्थान मिल सका। ईसवी पूर्व सदियों में बौद्धकला प्रधानतया प्रतीकात्मक थी। जिसके पश्चात् उसमें

समूल परिवर्तन आ गया। भक्ति भावना के कारण बौद्ध मत में बुद्ध आराध्यदेव मान लिए गए तथा उनकी प्रतिमाएँ पूजा निमित्त तैयार होने लगीं। महायान मत में यह प्रतिपादित किया गया कि धर्म अनादि है, उसकी (धर्म=प्रज्ञा) प्राप्ति का एकमात्र उपाय बुद्ध की आराधना है। अतः त्रिरत्न में बुद्ध के प्रथम स्थान को धर्म ने ग्रहण कर लिया। उस समय से महायान मतानुयायी धर्म, बुद्ध तथा संघ (त्रिरत्न) के शरण में जाने की प्रतिज्ञा करने लगे। लोकोत्तरवादिन के मतानुसार बुद्ध को दिव्य स्थान (Super human) मिल जाने पर ही कलाकारों ने उनकी सुन्दर आकृतियों को शिलाखण्ड पर खोदना प्रारम्भ किया और सातवीं सदी तक दक्षिण भारत के अमरावती तथा उत्तरी भारत के गन्धार, मथुरा, सारनाथ तथा मगध कला केन्द्रों में भगवान् बुद्ध की भव्य तथा अलौकिक भाव प्रदर्शित करते प्रस्तर पर आकृतियाँ (जो मूर्ति के सदृश मानी गई हैं) बनती गईं। उनकी बाहरी बनावट में कुछ भेद अवश्य था (जिसका विवरण पूर्व पंक्तियों में दिया गया है) परन्तु मूलतः उनमें अन्तर न था और बुद्ध की देवी तथा कथित मूर्ति सर्वत्र एक-सी बनती रही। प्रथम सदी के आरम्भ से महायान मत में सर्वलोकहित की भावना के कारण 'बोधिसत्व' नामक उपदेवता की कल्पना आई। यही कारण था कि महायान कला में बुद्ध एव बोधिसत्व की ही प्रस्तर पर आकृतियाँ तथा मूर्तियाँ पाई जाती हैं। बौद्धकला के सभी शैलियों में (Schools of Indian Art) इन्हीं दो देवता की प्रधानता है। बुद्ध ऐतिहासिक तथा बोधिसत्व काल्पनिक।

सातवीं सदी के पश्चात् भारतीय कला में एक परिवर्तन दीख पड़ता है। उसका मूल कारण वज्रयान (तंत्रयान) मत का प्रादुर्भाव था। इस विषय पर विवाद का अधिक स्थान नहीं है कि बौद्धमत उपनिषद् के सिद्धान्तों का एक नवीन रूप था। भागवत मत के प्रभाव ही ने प्रतीक-पूजा को मूर्ति-पूजा में परिवर्तित कर दिया और मनुष्य के आकार में बुद्ध-प्रतिमाएँ खुदी जाने लगीं। मध्ययुग में महायान तथा ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों का वादा-विवाद तथा तांत्रिक प्रभाव ही वज्रयान की उत्पत्ति के स्पष्ट एवं सबल कारण माने जा सकते हैं। बुद्ध के दिव्य स्थान मिल जाने पर बौद्ध संसार में कोई ऐसी शक्ति न रही जो ब्राह्मणधर्म के त्रिदेवों के समान मानी जा सके। गौतम गृहस्थाश्रम को त्याग कर बुद्ध के रूप में ग्रहण हो चुके थे। बौद्ध मत में गृह त्याग कर ही भिक्षु बनने का आदेश था। सृष्टि-क्रम पर उनके विचार शून्य थे। ब्राह्मणधर्म के पुरुष-प्रकृत (ईश्वर तथा माया) का सिद्धान्त बौद्धों को ग्राह्य नहीं था। सृष्टि का उत्पादक ब्रह्म के लिए बुद्धमत में कोई स्थान न था। अतः वादाविवाद के प्रसंग में बौद्धों ने ब्रह्म ऐसे अलौकिक, दिव्य पुरुष के सदृश आदिबुद्ध की कल्पना की और उसकी देवी (शक्ति) प्रज्ञापारमिता को भी आदिशक्ति मान लिया। वज्रयान में गौतम बुद्ध के नाम को लोग भूलने लगे। आदिबुद्ध एवं प्रज्ञापारमिता ने ब्रह्म तथा माया का स्थान ले लिया। इस कारण कला में दोनों का स्थान मिल सका और युगल मूर्ति को 'यव यम' की संज्ञा दी गयी। बौद्धजगत में भी सृष्टि-रचना का क्रम स्थापित किया गया जो विकसित हुआ। पाँचध्यानी बुद्ध तथा उसकी शक्ति तारा सारे जगत

का कारण बन गई। हर एक ध्यानीबुद्ध के परिवार की सम्पुष्टि हुई। तंत्रयान कला के देवतागण इसी परिवार में गिने जाते हैं। सिद्धान्ततः तांत्रिक विचारक आध्यात्मिक द्वैध अवस्था में देवत्व का एकीकरण कर पाते हैं जिसे ध्यानीबुद्ध तथा प्रज्ञापारमिता के नाम से वज्रयान कला में प्रदर्शित किया गया। मंजुश्री तारा, महाकाल, चामुण्डा तथा शिव-पार्वती उसी श्रेणी में रखे जाते हैं। शास्त्रसम्मत ब्राह्मणधर्म से तांत्रिक युग तक वज्रयान देवताओं में पुरुष की कठोर तथा कर्कश भावनाएँ एवं नारियों के स्वच्छ कोमल तथा मृदुल अंगों का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऐसे मिथुन का प्रदर्शन मध्ययुग के मंत्रयान तथा ब्राह्मणमत के कलाकेन्द्र खजुराहो एवं भुवनेश्वर में भी मिलता है। कलाकारों ने महायान बुद्ध के स्थान पर ध्यानीबुद्ध तथा उससे उत्पन्न उपदेवों की प्रतिमाएँ तैयार कीं। इस प्रकार वज्रयान देवता-समूह की उत्पत्ति हुई। मध्ययुग में ऐतिहासिक बुद्ध को वह स्थान न मिल सका जो कल्पित ध्यानीबुद्ध को दिया गया। यह कल्पना ब्राह्मण मत के प्रभाव का द्योतक है। मध्ययुगी कला में प्रायः छः सौ वर्षों तक (७०० ई०-१३०० ई०) प्रमुख रूप में वज्रयान (तंत्रयान) देवताओं की प्रतिमाएँ बनती रहीं। हिन्दूधर्म ने बुद्ध को विष्णु का नवां अवतार घोषित कर दिया जो बौद्धमत तथा बौद्धकला के लिए घातक सिद्ध हुआ। संक्षेप में यह कहना युक्तिसंगत है कि धार्मिक भावना के साथ-साथ बौद्ध कला विकसित अथवा अवनत होती गई।

नालन्दा-कलाकेन्द्र

पूर्व मध्ययुग में नालंदा तथा विक्रमशिला वज्रयान के प्रसिद्ध केन्द्र माने जाते है। तंत्र साहित्य के अध्ययन तथा पठन-पाठन के दोनों प्रधान केन्द्र कई सदियों तक मूर्तिकला के भी केन्द्र बने रहे। उन दिनों पालवंशी नरेशों का शासन था जो बुद्धधर्म के संरक्षक थे तथा जिन्होंने वज्रयान को प्रोत्साहित भी किया। ग्यारहवीं सदी के बौद्ध विद्वान अद्वयवज्र ने वज्रयान के मूल में 'महासुखवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। महासुखवाद के मूल में करुणा (शक्ति) के विचार अन्तर्हित हैं। अतः शक्ति को ही तांत्रिक मत में सर्वोपरि स्थान मिला। वज्रयान के शून्यवाद (माध्यमिक) सिद्धान्त को देवता-समूह की उत्पत्ति का कारण मान सकते हैं—

"शून्यताबोधितो बीजं बीजात् बिम्बं प्रजायते।"

वज्रयान के दार्शनिक पंडितों ने निर्वाण को 'शून्य' नाम से भी उल्लेख किया है और उसे निरात्मा भी कहते हैं। यानी जिसमें आत्मा स्वयं तिरोहित हो जाय। वही निरात्मा तंत्रयान की शक्ति है। तांत्रिक देवता चार विभिन्न अवस्थाओं में कला में प्रदर्शित हैं—

(अ) एकाकिन्

(ब) शक्ति के साथ (एक ही आसन पर)

(स) देवता की गोद में शक्ति

(द) युगल प्रतिमा (आलिंगन मुद्रा में)

युगल मूर्ति को तिब्बत में 'यब-यम' कहते हैं। यब शब्द पिता तथा यम माता

के अर्थ में प्रयुक्त है। इसे 'ब्रह्म-माया' से समता कर सकते हैं। तंत्रयान की प्रधानता से ही नालंदा की कला में परिवर्तन आया। पालयुगी मगध शैली में, सारनाथ, नालंदा, गया, कुर्कीहर, बिहार आदि स्थानों में प्रतिमा-निर्माण कार्य होने लगा। उन केन्द्रों के कलात्मक नमूनों में बुद्ध की धातु-प्रतिमा पर्याप्त संख्या में मिली है। वज्रयान की बैठी या खड़ी धातु-प्रतिमाएँ (९वीं एवं १०वीं सदी की) कुर्कीहर से उपलब्ध हुई हैं।

मंजुश्री मूलकल्प तथा गुह्य समाज आदि तांत्रिक ग्रन्थों के वर्णन से पता चलता है कि पूजा-निमित्त जो मूर्तियाँ बनीं उनमें देवी-देवता की प्रतिमाएँ हैं। गुह्य समाज में सर्वप्रथम देवकुल की बात कही गई है जिसमें ध्यानीबुद्ध के परिवार यानी उससे उत्पन्न देवता सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं।

तंत्रयान देव-समूह की स्थापना के पीछे पूजा की भावना निहित थी। चीनी यात्रियों—ह्वेनसांग तथा इत्सींग ने वज्रयान देवताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। यह तो स्पष्ट है कि बुद्ध धर्म में आचार की प्रधानता थी। बौद्ध समाज पूजा का विरोधी था। कालान्तर में अशोक ने स्तूप की पूजा कर जनता का ध्यान आकर्षित किया था। रूपनाथ के शिलालेख में 'अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा' वाक्य उपर्युक्त विचार को पुष्ट करता है। पुण्य या देवस्थानों में जनसाधारण को जाने की छूट तथा प्रेरणा अशोक द्वारा मिली। महायान या उससे सम्बन्धित वज्रयान में पूजा-प्रकार बढ़ता ही गया। मध्ययुगी लेखों मे भी देवता की स्तुति में लिखे गए पद्य तथा मंत्र मिलते हैं। उसी मंत्र (धरणी) के कारण वज्रयान को 'मंत्रयान' भी कहा गया। इस तरह वज्रयान में काल्पनिक देवताओं की संख्या बढ़ती गई। इस अभिवृद्धि के पीछे 'पंचध्यानी बुद्ध' और उससे उद्भूत देवी-देवता की योजना, एवं तत्सम्बन्धी विचार कार्य कर रहा था। उत्तरी भारत के संग्रहालयों (सारनाथ, नालंदा, पटना, कलकत्ता, ढाका) में तंत्रयान की सारी मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

पञ्चध्यानी बुद्ध

यह विचार व्यक्त किया जा चुका है कि छठी सदी तक महायान की प्रमुखता थी और गौतम बुद्ध तथा कल्पित देवता (बोधिसत्व) की प्रतिमाएँ तैयार होती रहीं। महायान से जिस समय वज्रयान ने पृथक् रूप (यानी मत) धारण कर लिया, कला के क्षेत्र में महान परिवर्तन हुए। पंचध्यानी बुद्ध की कल्पना सर्वोपरि थी जिससे देव-समूह की उत्पत्ति हुई। वज्रयान द्वारा शून्य सिद्धान्त के विकास में चार चरणों का क्रम स्थिर किया गया है। (१) शून्यता, (२) बीज से सम्बन्ध, (३) मूर्ति की धारणा तथा (४) उसका बाह्य निरूपण। इसी की संपुष्टि तथा पूर्णता के लिए ध्यानीबुद्ध की कल्पना का सहारा लिया गया। ऐहिक जगत में पाँच ही मूलतत्त्व (बीज) माने गए हैं जिसे वज्रयान में विज्ञान, रूप, वेदना, समज्ञा एवं संस्कार का नाम दिया गया है। किन्तु ब्राह्मण तथा बौद्धग्रन्थों में पाँच बीज के नामों में विषमता है। क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर—शरीर के मूलभूत तत्त्व हैं। वज्रयान धर्म में इसी पंचस्कन्ध को मूर्तमान कर (सशरीर) दिखाया गया और उसका नवीन

नामकरण हुआ, पंचध्यानी बुद्ध। यों तो सभी ध्यानीबुद्ध एक से लगते हैं। सभी दो ही कमल पर आसीन हैं लेकिन हाथ की मुद्राओं में अन्तर है। ध्यानीबुद्ध शाश्वत हैं। स्वर्ग में सदा रहते हैं। कार्य करना उनका स्वभाव नहीं है। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

स्कन्ध	द्वारा	ध्यानीबुद्ध
(१) विज्ञान	,,	अक्षोभ्य
(२) रूप	,,	वैरोचन
(३) वेदना	,,	रत्नसम्भव
(४) समज्ञा	,,	अमिताभ
(५) संस्कार	,,	अमोघसिद्धि

यों तो संस्कृत महायान ग्रन्थकार तथा चीनी यात्रियों ने इन पाँचध्यानी बुद्ध में से कुछ का नाम उल्लिखित किया था। सुखावटीव्यूह (द्वितीय शती का चीनी अनुवाद) में अमिताभ का नाम मिलता है। अक्षोम्य तथागत कहे गए हैं। नालंदा के पंडित शांतिदेव (६५० ई०) ने भी इन दोनों का वर्णन किया है। ह्वेनसांग ने यात्रा विवरण में अमिताभ का नाम उल्लिखित हैं। इस तरह अव्यवस्थित रूप में ध्यानीबुद्ध के नाम यत्र-तत्र मिलते हैं किन्तु वज्रयान देवता-समूह में तथा पंचस्कन्धों के सशरीर रूप में पंचध्यानी बुद्ध सातवीं सदी के पश्चात् स्वीकृत किये गये। गन्धार के बुद्ध तथा बोधिसत्व की तुलना में वज्रयान के विश्वदेवकुल अत्यन्त विस्तृत हैं। ध्यानीबुद्ध तथा उससे उद्भूत देव-समूह कालान्तर में विकसित होते गए। इसी समय में बौद्ध कला में शक्ति का समावेश हुआ तथा वज्रयान की शक्ति तारा की एकाकिन् सुन्दर प्रतिमा भी बनी। किन्तु सम्पुट योग (पुरुष-प्रकृति का संगम) में शक्ति-मूर्तियाँ अत्यन्त आकर्षक नहीं हैं। तो भी वज्रयान में क्रमशः दैवी प्रतिमाओं में वृद्धि होती गई। इस का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि वज्रयान देवकुल की कल्पना एक दिवस की नहीं है। उस यान में नवोन विचार गृहीत हुए और नयी मूर्तियाँ तैयार की गईं। आदिबुद्ध के अतिरिक्त तंत्रयान में जितनी मूर्तियाँ बनीं उन सब का किसी-न-किसी ध्यानीबुद्ध से सम्बन्ध अवश्य था। इसीलिए उन सभी प्रतिमाओं के सिरे भाग पर सम्बन्धित ध्यानीबुद्ध की छोटी मूर्ति दिखलाई पड़ती है। मध्ययुग की तांत्रिक मूर्ति तथा वज्रयान प्रतिमा में अधिकतर ध्यानीबुद्ध की स्थिति में भिन्नता व्यक्त की जाती है। जहाँ सिरोभाग में ध्यानीबुद्ध खुदे नहीं हैं, वह प्रायः ब्राह्मण तांत्रिक प्रतिमा समझी जाती है। काल-क्रम के अनुसार विचार करने पर विदित होता है कि छठी सदी से पूर्व वज्रयान देवतागण के नाम ज्ञात थे। शांतिदेव से (६५० ई०) उस देवकुल का विकास आरम्भ हुआ। आठवीं सदी के उड़ीसा नरेश इन्द्रभूति के समय में वज्रयान देव-समूह पूर्ण हो चला था। उसी ने 'ज्ञानसिद्धि' नामक ग्रन्थ में पंचध्यानी बुद्ध, उनकी शक्ति एवं उनसे उत्पन्न देवगण का उल्लेख किया है। नालंदा में 'आदिबुद्ध' की कल्पना कई शती पश्चात् स्वीकृत की गई। वही आद्यदेव (ब्राह्मण मत का ब्रह्मा) समझे गये जिनसे पाँच ध्यानीबुद्ध का सृजन हुआ।

वज्रयान देवकुल की धार्मिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि जान लेने के पश्चात् वज्रयान (तंत्रयान) के देव-प्रतिमा का परिज्ञान सरल हो जाता है। देवतागण के पारस्परिक संसर्ग से कला में परिवर्तन आ गया।

पहली श्रेणी में बुद्ध की मूर्तियाँ ही प्रमुख हैं जिसका धर्मशासन अथवा धार्मिक परम्परा में कोई उत्तराधिकारी न था।

विष्णुधर्मोत्तर में उसके शरीर का वर्णन आता है कि पीलावस्त्र, उष्णीस, लम्बी नाक, लम्ब कर्ण, आजानुबाहु तथा चौड़ी छाती के साथ बुद्ध की प्रतिमा बनाई जाती थी। अन्य देवताओं से अश्वस्थ (पीपल) वृक्ष की उपस्थिति के कारण बुद्ध की प्रतिमा पृथक् की जाती है। अन्यथा बुद्ध साधारण मनुष्य की आकृति रखते हैं।

दूसरी श्रेणी की मूर्तियों में वज्रयान या तंत्रयान के कलाविद् ने प्रधान भाग लिया और उसी के लगाव से विश्वदेव कुल की स्थापना हुई। उसी उत्तेजना के प्रवाह में देवकुल की प्रतिमा-निर्माण सम्बन्धी विचार एवं स्वरूप में गम्भीर परिवर्तन हुआ। इस यान में भगवान् बुद्ध के पूजन का ह्रास हो गया (जिसे हिन्दुओं ने विष्णु का नवाँ अवतार माना) तथा आदिबुद्ध की उपासना सर्वोपरि हो गई। पुराणों ने अवतार मानकर बुद्ध के प्रतिमा का लक्षण बतलाया है। बृहत्संहिता में उल्लेख आया है कि बुद्ध की हथेली तथा तलवे पर कमल का चिह्न होना चाहिए। केश छोटे हों तथा कमलासन पर बुद्ध स्थित हों। अग्निपुराण बुद्ध को शांतात्मा कहता है। लम्ब कर्ण तथा हाथों को अभय तथा वरदमुद्रा में वर्णित किया है। अन्य शिल्प ग्रन्थों में सिंहासन का भी उल्लेख है। अश्वत्थ वृक्ष पीपल (Ficus Religiouso) के नीचे उन्हे ज्ञान (बुद्धत्व) प्राप्त हुआ था और उष्णीस तथा पीताम्बर शरीर को सुशोभित करता है। यों तो कुषाणकालीन गन्धार में बुद्धमूर्ति की उत्पत्ति मानी गई है परन्तु हिन्दू कला में भी बुद्ध को प्रदर्शित किया गया। मध्ययुग में कलाकारों ने बुद्ध के सिरे पर केश-ग्रन्थि तथा मुकुट का प्रदर्शन किया। बौद्धकला में मुकुट के लिए कोई स्थान न था किन्तु हिन्दू कला के प्रभाव से मुकुटधारी बुद्ध मूर्ति बनने लगी।

आदिबुद्ध की मूर्ति

बौद्ध-कला में आदिबुद्ध को भारतीय राजकुमार के आवरण में प्रस्तुत किया गया है। सिर पर राजमुकुट है। ललाट पर उर्णा। पैर इस प्रकार बँधा है कि तलवे ही दिखलाई पड़ते हैं। हाथों में वज्र (दाहिने में) तथा बायें में घंटा है जो वक्षस्थल पर विरोधी दिशा में फैले हैं। वज्र के कारण आदिबुद्ध वज्रधर भी (वज्रसत्व) कहे जाते हैं।

वज्रसत्व या वज्रधर का नामकरण वज्र की कल्पना पर आधारित था। वज्र की कल्पना बौद्धमत में कहाँ से आई, यह विचारणीय प्रश्न है। ब्राह्मण मत में वज्र इन्द्र का आयुध है। सम्भवतः ब्राह्मणों ने इन्द्रदेवता के साथ वज्र की भी उपेक्षा की किन्तु बौद्धों ने उसका परिहार किया। प्रज्ञापारमिताओं में इन्द्र का नवरूप मिलता

है। जहाँ वे संगीतियों में बुद्ध के शिष्य के रूप में सम्मिलित होते हैं। स्यात् गुरु-दक्षिणा में इन्द्र से वज्र ले लिया गया और पाँचध्यानी बुद्ध से परे छठे वज्रसत्व की कल्पना हुई जिसके हाथ में वज्र समर्पित किया गया। उनका अमोघ शस्त्र वज्र है तथा अपनी शक्ति के साथ युगनद्धरूप में समन्वित रहते हैं।

सम्पुट योग में इसके दोनों हाथ शक्ति (प्रज्ञापारमिता) के पीठ पर स्थित हैं जो आदिबुद्ध का गम्भीर आलिंगन कर रही है। यही 'यव-यम' (युगनद्ध रूप में) कहा जाता है।

हेरुक तथा नैरात्मा से भी उसी धारणा की अभिव्यक्ति होती है। बौद्ध विद्वान् इसे 'अद्वय' भी कहते हैं यानी जहाँ द्वैध अवस्था का अंत हो जाता है।

आदिबुद्ध का काल्पनिक विचार प्रायः दसवीं सदी का है, किन्तु वज्रयान में इस धारणा ने अपना स्थान बना लिया। विभिन्न विचारकों ने आदिबुद्ध को जगत का मूल कारण मान कर यह कहना आरम्भ किया कि अक्षोभ्य आदिबुद्ध का ही रूप है। इस प्रकार ध्यानीबुद्ध के अनुयायियों ने अपने ही ध्यानीबुद्ध को आदिबुद्ध का स्वरूप घोषित किया। आदिबुद्ध को अजन्मा, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, स्वयंभूत मानते हैं। तपस्या, मननचिन्तन के द्वारा ध्यानीबुद्ध प्रगट हुए, यही सर्वमान्य धारणा थी। पाँच स्कन्धों का सामूहिक मूर्तिमत्ता का रूप वज्र एवं घट हैं जो वज्रसत्व की भुजाओं में प्रदर्शित किये गये हैं। यही आदिबुद्ध का प्रतीक था। अतः ध्यानीबुद्ध तथा आदि-बुद्ध की कल्पना अथवा धारणा में विषमता नहीं है।

पांचध्यानी बुद्ध

इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है कि पाँच स्कन्धों के मूर्तिमान स्वरूप को ही ध्यानीबुद्ध की संज्ञा दी गई थी। इनके कलात्मक प्रदर्शन में विभेद नहीं हैं। इनकी एकाकी मूर्ति उपलब्ध नहीं हुई है किन्तु छोटी आकार की प्रतिमा तंत्रयान देव-समूह के सिरे भाग पर खुदी है जिसे ध्यानीबुद्ध मानते हैं। पाषाण प्रतिमाओं में कम-लासन पर बैठे पाँचों ध्यानीबुद्ध मुद्रा द्वारा पहचाने जाते हैं।

(१) वैरोचन—धर्मचक्र मुद्रा में।
(२) रत्नसम्भव—वरद।
(३) अक्षोभ्य—भूमिस्पर्श।
(४) अमोघसिद्धि—अभय।
(५) अमिताभ—ध्यान।

प्रत्येक ध्यानीबुद्ध की शक्ति का नाम तंत्रयान साहित्य में मिलता है। उनके नाम हैं--

वज्रध्वातिस्वरी, लोचना, मामकी, पाण्डरा तथा आर्य तारा। साधारण रूप में तारा शब्द से शक्तियों का बोध हो जाता है पर चित्रकला में रंग द्वारा विभेद मिलता है। सफेद, पीला, हरा, भूरा तथा लाल रङ्गों के संयुक्त नाम लिए जाते हैं। जैसे पीला या लाल तारा आदि प्रत्येक शक्ति के सिरे पर ध्यानीबुद्ध की सूक्ष्म प्रतिमूर्त्ति स्थित रहती है। कलात्मक नमूनों के परीक्षण से विदित होता है कि किसी पाषाण प्रतिमा

के प्रभावली पर पाँच या तीन प्रतिमूर्तियाँ भी हैं जो मुद्रा के आधार पर ध्यानी-बुद्ध की प्रतिमा मालूम पड़ती है। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान देवकुल का कोई देवता या शक्ति एक, तीन अथवा पाँचध्यानी बुद्ध के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। सभी ध्यानीबुद्ध के देवी पुत्र को भी कला में स्थान दिया गया जो ध्यानी बोधिसत्व के नाम से प्रसिद्ध हुए और वही विश्वसृजन का उत्तरदायी माने गये हैं।

अमिताभ

इस ध्यानीबुद्ध को कमलासन पर बैठे ध्यान मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। पाँचों ध्यानीबुद्ध में इसका नाम लोकप्रिय था और देवकुल का प्राचीनतम सदस्य है। वाहन मोर है। बौद्ध देवी-देवता के सिरे पर अमिताभ की सूक्ष्म प्रतिमूर्ति यह घोषित करती है कि वह इस ध्यानीबुद्ध से उत्पन्न हुआ है।

अक्षोभ्य

वज्रयान देवसमूह में अधिक संख्या में देवी-देवता अक्षोभ्य से उत्पन्न दिखलाई पड़ते हैं। भूमिस्पर्श मुद्रा में, सिर पर वज्र सहित तथा दो हाथियों के वाहनयुक्त अक्षोभ्य की मूर्ति का वर्णन मिलता है।

वैरोचन

इसकी सूक्ष्म प्रतिमा धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा में मिलती है। पर्याप्त संख्या में देवी-देवता इस ध्यानीबुद्ध से उत्पन्न बतलाये जाते हैं। इसके मुकुट में चक्र बना है।

अमोघसिद्धि

इसकी चोटी पर दो वज्र का आकार दीख पड़ता है। अभयमुद्रा में, वाहन गरुड़ के साथ, तारा देवी के साथ अमोघसिद्धि की मूर्ति वर्णित है। पाँचों ध्यानीबुद्ध के देवसमूह में अमोघसिद्धि सबसे पीछे स्वीकृत हुआ।

रत्नसम्भव

इस ध्यानीबुद्ध के नाम से ही प्रकट होता है कि बहुमूल्य रत्नों से इसका सम्बन्ध था। चोटी पर रत्न जड़े हैं। दो सिंहों के वाहन सहित वरदमुद्रा में यह प्रदर्शित किया गया है।

ध्यानीबुद्ध की शक्ति या ध्यानी बोधशक्ति को भी कला में प्रधान स्थान मिला। उनकी चोटी पर ध्यानीबुद्ध की सूक्ष्म मूर्ति है। इनके धार्मिक संयोग से बोधिसत्व उत्पन्न हुए। तंत्रयान-साहित्य में बोधिसत्व को सृष्टि की रचना का भार दिया गया है। बोधिशक्ति सदा कमलासन पर बैठी है जिसमें एक पैर आसन पर स्थित है तथा दूसरा नीचे लटका है। दोहरे कमल के आसन पर जिस रीति से देवी बैठी है उसे ललितासन का नाम देते हैं। उनकी पहचान ध्यानीबुद्ध के वाहन की आकृति द्वारा हो जाती है। प्रत्येक के शरीर पर अंगिया तथा लँहगा दिखलाई पड़ता है। केशग्रन्थि रत्नों से अलंकृत है।

ध्यानी बोधिसत्व

महायान मत में बोधिसत्व के आविर्भाव की चर्चा की जा चुकी है और सर्वप्रथम (ईसवी सन्) गंधार कला में इसकी प्रतिमा तैयार की गई। इस कल्पित देवता को बुद्धत्व=(ज्ञान) प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न करना शेष है। सारे जीवों को ज्ञान की ओर (निर्वाण) ले जाना बोधिसत्व का एकमात्र कार्य है। सबके हित तथा सुख का ध्यान रख परोपकारी के रूप में कार्य सम्पादन करना उसका उद्देश्य भी था। बोधिसत्व का धर्म है कार्यरत रहना। जब तक बुद्ध का अवतार न होगा तब तक बुद्ध का काम करता रहेगा। आगामी बुद्ध से पूर्व तथा गौतम बुद्ध के पश्चात् बोधिसत्व की स्थिति मानी गई है। वज्रयान मत में यह ध्यानीबुद्ध के धार्मिक उत्तराधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित है। दैवी पिता (ध्यानीबुद्ध) के कार्य (सृजन कार्य) को गतिशील बनाने में ध्यानी बोधिसत्व का प्रमुख हाथ माना जाता है। बोधिसत्व पाँच हैं। विभिन्न आसनों पर बैठे दिखलाए गए हैं। ध्यानी बोधिसत्व राजकुमार के सदृश वस्त्राभूषण से सुसज्जित वर्णित हैं, मुकुट रत्नजटित हैं जिस पर ध्यानीबुद्ध की प्रतिमूर्ति दिखलाई पड़ती है।

बोधिसत्व के नाम निम्नलिखित हैं—

ध्यानी बुद्ध	सम्बद्ध बोधिसत्व
(१) वैरोचन	समंतभद्र
(२) अक्षोभ्य	वज्रपाणि
(३) रत्नसम्भव	रत्नपाणि
(४) अमिताभ	पद्मपाणि
(५) अमोघसिद्धि	विश्वपाणि

मध्ययुग में बोधिसत्व की खड़ी या बैठी प्रतिमाएँ बनाई गईं तथा उनका नामकरण हाथों में स्थित प्रतीक के अनुसार किया गया था। हाथों में रत्न, कमल (पद्म) अथवा वज्र की स्थिति से रत्नपाणि, पद्मपाणि या वज्रपाणि नाम पड़ा। बैठी अवस्था में दोहरा कमलासन, शरीर पर भव्य वस्त्र, सुन्दर आभूषण, मुकुट अलंकृत रत्नजटित दिखलाई पड़ते हैं। चेहरे का सौम्य भाव, कोमल मुस्कान तथा आँखों की बनावट द्वारा बुद्ध के स्वरूप की सदृशता परिलक्षित होती है। वज्रयान देवकुल में दैवीतत्त्व की प्रधानता से मनुष्य आकृति का महत्त्व जाता रहा। उन देवता में इतने विशेष गुणों को आरोपित किया गया कि बोधिसत्व का वास्तविक स्वरूप अप्रकाशित हो जाता है।

बोधिसत्व के अनेक रूपों में पद्मपाणि अवलोकितेश्वर तथा मंजुश्री प्रधान माने गए हैं। अतएव निम्न पंक्तियों में इन दोनों के कलात्मक विवरण के साथ मैत्रेय का भी वर्णन उपस्थित किया जायगा। ध्यानीबुद्ध से उद्भूत ध्यानी बोधिसत्व तथा देवियों की लम्बी सूची है। अक्षोभ्य से उत्पन्न देवी-देवता भयंकर आकृति वाले हैं। उनका कार्य भी कठोर है। साधारणतया विकृत चेहरा, तीन आँखें, जिह्वा बाहर, मुण्डमाला, बाघम्बर, सर्प के आभूषण आदि उन प्रतिमाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। वैरोचन से सभी देवियाँ उत्पन्न हुईं। अमोघसिद्धि भी उसी श्रेणी में रक्खा जाता है।

वैरोचन से उत्पन्न देवियों में मारीची का नाम विशेष उल्लेखनीय है। साधनमाला के वर्णन से ज्ञात होता है कि रत्नसम्भव से केवल दो देवी तथा दो देवता उत्पन्न हुए थे। जम्भल इसके सुप्रसिद्ध उद्भूत देवता माने जाते हैं।

अवलोकितेश्वर

अमिताभ महायान मतानुयायियों का लोकप्रिय देवता कहा गया है। महायान ग्रन्थों में अमिताभ से सम्बन्धित बोधिसत्व को पद्मपाणि कहा जाता है क्योंकि उसके हाथ में कमल का पुष्प रहता है। पद्मपाणि मानव-बुद्ध का काम करता है। महावस्तु में कहा गया है कि भगवान् अवलोकितेश्वर नामक बोधिसत्व के रूप में अवतरित हुए जिनका मुख्य कार्य जनहित के लिए चारों दिशाओं में देखना (अवलोकन) था। इसी से पद्मपाणि का नामकरण अवलोकितेश्वर हो गया। सम्भवतः बोधिसत्वों में यह सब से अधिक जनप्रिय थे।

इसी ध्यानीबुद्ध (अमिताभ) से अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई जो मध्ययुगी भारतीय कला तथा नेपाल, तिब्बत आदि देशों में अत्यधिक पूजित होता रहा। यह अपनी विश्वव्यापिनी करुणा के लिए विख्यात था। उसने विश्वकल्याण के लिए निर्वाण को स्वयं अस्वीकार कर दिया जब तक कि सारे लोग निर्वाण न प्राप्त कर लें। साधनमाला में अनेक स्वरूप तथा विभिन्न नामों के साथ अवलोकितेश्वर का उल्लेख किया गया है। एक सौ आठ नामों से इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। नेपाल चित्रकला में १०८ अवलोकितेश्वर के भित्तिचित्र मिले हैं। अवलोकितेश्वर के ज्ञानोपदेश से मानव निर्वाणप्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर अग्रसर होता जाता है। इकत्तीस साधना में इसका वर्णन मिलता है। इसे लोकेश्वर भी कहते हैं। मध्ययुगी प्रतिमाएँ लोकेश्वर नाम से प्रायः विख्यात हैं।

लोकेश्वर

अवलोकितेश्वर या लोकेश्वर के विभिन्न स्वरूप का उदाहरण मध्ययुगी कला में मिलता है। उसकी मुख्य मूर्तियाँ उत्तरी भारत में ही उपलब्ध हुई हैं।

(१) षडक्षरी लोकेश्वर—चतुर्भुजी प्रतिमा। दो हाथों में माला तथा कमल। शेष दो हाथ अंजलिमुद्रा में दिखलाए गये हैं। सारनाथ की प्रतिमा में चौकी पर चारों दिक्पाल की आकृतियाँ खुदी हैं।

(२) सिंहनाद लोकेश्वर—यह देवता महाराज लीला (अर्द्धपर्यङ्क) आसन में बैठे हैं। वाहन के स्थान पर गरजते सिंह की आकृति है। बाएँ हाथ में कमल, जिसके ऊपर तलवार है। दाहिने में त्रिशूल स्थित है। उसमें सर्प लिपटा है। सिंहनाद रोगों के नाशक माने गए हैं। नेपाल में पाषाण के अतिरिक्त लोकेश्वर की कांस्य प्रतिमा भी मिलती है। बौद्धग्रन्थों में दो हाथ तथा तीन नेत्रों का वर्णन मिलता है।

(३) खसरपण—महायान में खसरपण लोकप्रिय देवता माने जाते हैं। दोहरे कमल पर यह ललितासन अवस्था में बैठे हैं। एक हाथ वरदमुद्रा में,

दूसरे हाथ में कमल हैं। वज्रयान मत के अन्य देवता—लोकनाथ के समान खसरपण का रूप है। इस देवता के साथ चार छोटे उपदेवता--तारादेवी, सुधन्कुमार, भृकुटी तथा हयग्रीव-की आकृतियाँ उस पाषाण पर खुदी हैं। सिर (चोटी) पर अमिताभ की प्रतिमूर्ति स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है।

(४) लोकनाथ इस बोधिसत्व की खड़ी तथा बैठी प्रतिमाएँ क्रमशः सारनाथ और महोबा (मध्य प्रदेश) से प्राप्त हुई हैं। सिर पर अमिताभ की आकृति खुदी है। दाहिना हाथ वरदमुद्रा में तथा बायें में कमल स्थित है।

साधनमाला में वर्णन मिलता है कि लोकनाथ चार दिक्पालों से युक्त तथा चार शक्तियों सहित कार्य करते हैं। इन संयुक्त मूर्तियों को लोकनाथमण्डल भी कहा गया है।

(५) हरिहरिहरिवाहनोद्भवलोकेश्वर—इस नाम की भारत में कोई प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है। नेपाल से इस लोकेश्वर की धातु-प्रतिमा मिली है। अतएव यह अनुमान करना उचित होगा कि भारत से ही उस की धारणा नेपाल पहुँची। प्रथम तीनों शब्दों को (हरि)—सिंह, गरुड़ एवं विष्णु के लिए क्रमशः प्रयोग किया गया है। इससे प्रकट होता है कि सिंह की पीठ पर गरुड़ है। विष्णु के वाहन गरुड़ की पीठ पर भगवान् विष्णु दीख पड़ते हैं तथा विष्णु के कन्धे पर स्वयं लोकेश्वर बैठे हैं। अतएव इस प्रतिमा द्वारा हिन्दू देवता (विष्णु) को हीनावस्था में प्रदर्शित किया गया है। साधनमाला में इसकी स्तुति की गई हैं तथा आर्य अवलोकितेश्वर के नाम से उल्लिखित है। प्रायः आठवीं सदी के पश्चात् तंत्रयान मत में हिन्दू धर्म के प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना जागृत हुई। साधनमाला में अनेक दृष्टांत मिलते हैं। बौद्ध कलाकारों ने हिन्दू देवताओं को पददलित करने का कार्यक्रम बनाया। उस मार्ग में हरिहरिहरिवाहन लोकेश्वर' पहला उदाहरण उपस्थित रहता है। हिन्दू कला में इसकी प्रतिक्रिया नहीं दीख पड़ती।

मंजुश्री

बौद्ध देवकुल में मंजुश्री को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। महायान मतानुयायी इसे सर्वप्रमुख देवता कहते थे तथा उनका विश्वास था कि इसकी पूजा से ज्ञान एवं बुद्धि का विकास होता है। इसी कारण कलाकारों ने मंजुषा (पुस्तक) तथा खड्ग (तलवार) इन दो प्रतीकों द्वारा इसकी मूर्ति को सुशोभित किया। पुस्तक से ज्ञान प्रसार तथा तलवार से अंधकार के बिनाश की अभिव्यक्ति होती है।

मंजुश्री के विषय में नाना प्रकार के विचार उपस्थित किए गए हैं। पहला प्रश्न तिथि से सम्बन्धित है। मंजुश्री को किस काल में वज्रयान देवसमूह में समाविष्ट किया गया, यह विवादास्पद है। गन्धार तथा मथुरा कला में मंजुश्री की प्रतिमा नहीं मिलती। आर्यदेव तथा नागार्जुन ने इसका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु महायान संस्कृत ग्रन्थों में चौथी शती के पश्चात् मंजुश्री का नाम मिलता है। चीनी बौद्ध यात्रियों ने इस बोधिसत्व का वर्णन किया है। सारनाथ तथा मगध

कला शैली में ही इसकी प्रतिमा तैयार हुई थी। इस विवरण का यह परिणाम निकलता है कि गुप्तयुग में मंजुश्री का नाम ज्ञात था तथा कलाकारों ने मूर्ति भी तैयार की।

दूसरा प्रश्न बोधिसत्व मंजुश्री तथा ध्यानीबुद्ध के पारस्परिक सम्बन्ध का है। मंजुश्री की उत्पत्ति किस ध्यानीबुद्ध से हुई। इसका समुचित उत्तर देना कठिन है। यों तो अमिताभ तथा अक्षोभ्य के नाम महायान मतानुयायियों को ज्ञात था परन्तु सातवीं सदी के बाद ही 'पंचध्यानी बुद्ध' की कल्पना एवं धारणा समाज में आई। इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि अवलोकितेश्वर के पश्चात् ही मंजुश्री को कला में स्थान मिल पाया।

तीसरा प्रश्न मंजुश्री के देवत्व के सम्बन्ध में उपस्थित किया जाता है। क्या मंजुश्री वास्तव में वज्रयान देवकुल में उत्पन्न हुए थे? चीन के इतिहास में मंजुश्री को सिद्धजन (मुनि) कहा गया है। नेपाल के स्वयम्भू पुराण से कुछ जानकारी बढ़ती है। कहा जाता है कि अपने अनुयायियों के साथ मंजुश्री ने एक मंदिर का निर्माण किया जो उनका निवास स्थान प्रतिष्ठित हुआ।

मंजुश्री को सिद्धपुरुष मानते थे और अश्वघोष, आर्यदेव तथा नागार्जुन के सदृश उनका भी पूजनीय स्थान था। यही कारण है कि मंजुश्री को ध्यानीबुद्ध से उद्भूत नहीं मानते। कला सम्बन्धी उदाहरणों के आधार पर मंजुश्री को 'ध्यानीबुद्ध' से उत्पन्न समझते हैं। मंजुश्री की जितनी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं उनके मूल में कोई विषमता नहीं दीख पड़ती। पुस्तक तथा तलवार उसके दोनों प्रतीक वर्तमान हैं। प्रतिमाओं को चार वर्ग में विभक्त करते हैं।

(अ) जिस प्रतिमा के सिरे पर ध्यानीबुद्ध की सूक्ष्म प्रतिमूर्ति नहीं है वह स्वतंत्र बोधिसत्व माना जाता है और उसे मंजुनाथ कहा गया है।

(ब) अमिताभ से उत्पन्न मंजुश्री को वागीश्वर का नाम दिया गया है। मूर्ति के सिरे पर ध्यानी मुद्रा में बैठी प्रतिमूर्ति अमिताभ की है।

(स) अक्षोभ्य से उत्पन्न मंजुश्री को सिद्धैकवीर कहा गया है।

(द) पाँचध्यानी बुद्ध से उत्पन्न मंजुश्री की मूर्ति भी मिली है। उसके ऊपरी भाग में पाँचों ध्यानीबुद्ध की आकृतियाँ खुदी हैं। इसका नाम मंजुवर है।

साधनमाला में मंजुश्री के चौदह स्वरूप का वर्णन मिलता है जिसमें प्रमुख मूर्तियों का वर्णन नीचे दिया जायगा। साधना में मंजुश्री के विभिन्न नाम भी उल्लिखित हैं। पुस्तक तथा तलवार सभी का प्रतीक है। उसकी शक्ति का नाम यमारी है। विभिन्न प्रतिमाओं में मंजुश्री के बाहरी प्रदर्शन में कुछ भेद दिखलाई पड़ता है परन्तु मूलतः उनमें कोई विभेद नहीं है।

(१) मंजुघोष—इसकी उत्पत्ति अक्षोभ्य से बतलाई गई है जो सिंहासन पर बैठा दिखलाया गया है। दायें हाथ में कमलपुष्प है किन्तु दूसरे हाथ में पुस्तक का अभाव है। स्यात् इसकी पूर्ति के लिए उसे व्याख्यान मुद्रा में प्रदर्शित किया

गया है। साधनमाला में सिंह की पीठ पर ललितासन अवस्था में बैठे इसे वर्णित किया गया है।

(२) सिद्धैकवीर—इस मंजुश्री की मौली पर अक्षोभ्य की प्रतिमूर्ति खुदी है। बायें हाथ में कमल तथा दाहिना वरदमुद्रा में है। सारनाथ प्रतिमा में सिरे पर ध्यानी-बुद्ध की प्रतिमूर्ति है। साधना मे इसकी देवियाँ केशिनी, उपकेशिनी का वर्णन है जो मंजुश्री के दोनों पार्श्व में स्थित हैं। लोकनाथ की प्रतिमा सिद्धैकवीर के सदृश है परन्तु उसमें 'ध्यानीबुद्ध' की आकृति दृष्टिगोचर नहीं होती है।

(३) वागीश्वर—पंचध्यानी बुद्ध से उत्पन्न मंजुश्री की चार प्रकार की प्रतिमाओं के उदाहरण मिलते हैं। इसीलिए उन्हें पंचवीरकुमार कहा जाता है। वागीश्वर उसमें लोकप्रिय देवता है। इसकी मूर्ति अर्धपर्यङ्क आसन में सिंहासन पर बैठी खुदी है। भारत के बाहरी देशों में इसकी विधिपूर्वक पूजा की जाती है। कलकत्ता संग्रहालय में वागीश्वर की प्रतिमा सिंहासन के बदले राज्यसिंहासन पर बैठी दीख पड़ती है।

(४) मंजुवर—सिंहासन पर बैठी धर्मचक्र मुद्रा में तथा ललितासन की अवस्था में इसकी प्रतिमा उपलब्ध हुई है। कई प्रतिमाओं में तीन सिर तथा छः भुजाएँ मिली हैं। इसके समीप कमल पर स्थित प्रज्ञापारमिता की प्रति दिखलाई पड़ती है।

(५) अपरचन—पाषाण तथा धातु में अपरचन की अत्यधिक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो उसकी लोकप्रियता प्रमाणित करती है। यह देव वज्रपर्यङ्क अवस्था में बैठे दाहिने हाथ से तलवार का चक्कर दे रहा है। बाएँ हाथ से पुस्तक को छाती से चिपकाए है। ढाका संग्रहालय की प्रतिमा में मौली पर चार ध्यानीबुद्ध की प्रतिमूर्ति दिखलाई पड़ती है। उसमें राजकीय वेष में वस्त्राभूषण से सुसज्जित हैं। प्रज्ञापारमिता अथवा चार देवी मूर्तियों में केशिनी, उपकेशिनी, चन्द्रप्रभा तथा सूर्यप्रभा सहित अपरचन की प्रतिमा मिली है।

मैत्रेय

मैत्रेय का बौद्ध साहित्य में भावी बुद्ध (भविष्य में आने वाले) के रूप में वर्णन किया गया है। वह बोधिसत्व की तरह तुषित स्वर्ग में जीवन व्यतीत करता है जो गौतमबुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् जगत में अवतरित होगा। असंग ने तुषित स्वर्ग में मैत्रेय को देखा और तन्त्र के गूढ़ रहस्य को उसे विज्ञ कराया। आश्चर्य है कि गंधार कला से लेकर मगध शैली तक मैत्रेय की प्रतिमा मिली है। साधनमाला में इसकी तीन आँखें, तीन मुख तथा चार भुजाओं का वर्णन है। दो हाथ व्याख्यान मुद्रा में, तीसरा वरदमुद्रा में तथा चौथा नागकेसर सहित प्रदर्शित किया गया है। भावी बुद्ध की पाषाण-प्रतिमा तैयार करना ही एक रहस्य है। बौद्ध कलाकार मनुष्य की आकृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के स्वरूप की कल्पना न कर सके। अतएव भविष्य में आने वाले देव की प्रतिमा भी मनुष्याकार बनाई थी।

तारा

वज्रयान मत की प्रमुख विशेषता यह थी कि सातवीं सदी के पश्चात् शक्ति की कल्पना बौद्धकला में ग्रहण की गई। आदिबुद्ध की प्रज्ञापारमिता तथा ध्यानीबुद्ध की ध्यानी बोधिशक्ति का उल्लेख किया जा चुका है। तारा नामकरण मध्ययुग में हुआ जो प्रचलित शब्द 'देवी' का भाव व्यक्त करता है। बौद्धकला में दो श्रेणी की ताराएँ मिलती हैं। (१) रौद्र या भयंकरता लिए और (२) शान्त एवं गम्भीर प्रतिमा। साधनमाला में इनका वर्णन आया है कि तारा के मंत्रपाठ से मानव सभी कठोर असह्य दुःख से मुक्त हो जाते हैं। उस व्यक्ति की धारणाएँ परिवर्तित हो जाती हैं। कठोरता से मृदुलता आती है। धर्म की ओर झुकाव के साथ वह भाग्यशाली एवं ऐश्वर्ययुक्त हो जाता है। कला में तारा की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर ढंग से बनाई गई है। ब्राह्मणधर्म में दश महाविद्या (शक्तियों) की कल्पना में तारा को भी द्वितीय स्थान दिया जाता है। तारा की प्रतिमा अर्द्धपर्यङ्क आसन में दोहरे कमल पर बैठी दिखलाई जाती है। सिर के पीछे केशग्रन्थि (एक मौली) बड़े आकार का दृष्टिगोचर होता है जिस पर ध्यानीबुद्ध की प्रतिमूर्ति खुदी रहती है। तारा का दाहिना हाथ सदा वरदमुद्रा में तथा बायाँ नागपुष्पयुक्त दीख पड़ता है। मौली पर स्थित ध्यानीबुद्ध से ही तारा के विभिन्न नामकरण किये गए हैं। अधिकतर तारा अक्षोभ्य तथा अमोघसिद्धि से उत्पन्न हुई। 'पाँच ध्यानीबुद्ध' से भी कुछ की उत्पत्ति मानी जाती है। नालंदा से तारा की खड़ी प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं।

अक्षोभ्य से उत्पन्न देवियाँ

इस ध्यानीबुद्ध से उत्पन्न देवियों में उग्रतारा (महाचीन तारा) तथा इकजटा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वज्रयान में सबसे शक्तिशाली देवी उग्रतारा मानी गई है। इसकी समता शिव की शक्ति दुर्गा से करते हैं। उग्रतारा का नाम ही सार्थक है। तांत्रिक साहित्य में उग्रतारा का जो वर्णन है उसमें देवी के शरीर पर मूल्यवान् वस्त्र एवं आभूषण का उल्लेख है। यह उग्रशक्ति कही गई है, इसीलिये दुर्गा से इसकी समता करते हैं। इसके पैर तले मृतक के रूप में शिव की आकृति दिखलाई गई है।

अक्षोभ्य से उत्पन्न इकजटा भी उसी तरह उग्र तथा भयानक देवी (तारा) मानी जाती है। इसकी बारहभुजी प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसमें तलवार, बाण, वज्र, धनुष, परशु, मुण्ड आदि आयुध दिखलाई पड़ते है। नैरात्मा नामक देवी ललितासन में बैठी है जिसका एक पैर मृत शरीर पर रक्खा है। अक्षोभ्य सिरे पर दिखलाई पड़ते हैं। तंत्रयान में शून्य का दूसरा नाम नैरात्मा है जिसमें निर्वाण के पश्चात् बोधिसत्व अन्तर्हित हो जाते हैं। यानी उसी शून्य को सशरीर प्रतिकृति नैरात्मा है। अक्षोभ्य से उत्पन्न इन भयंकर उद्‌भूत देवियों में प्रसन्नबरी की मूर्ति मंदहास्य तथा सुखकर भावना सहित तैयार की गयी है। यह रोगविनाशिनी देवी है अतः मूर्तिमय व्याधि (सशरीर) उसके पैर तले खुदी हुई है। बंगाल से इस तारा की जितनी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें हयग्रीव (ज्वर का देवता) तथा शीतला देवी की आकृतियाँ साथ में दृष्टिगोचर होती हैं।

उग्रतारा के कलात्मक प्रदर्शन तथा काली (शिवशक्ति) में अधिक अन्तर नहीं प्रकट होता। सम्भव है, दोनों मतों (शैव तथा तंत्रयान) में पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण उग्रतारा इस स्वरूप में प्रदर्शित हुई। दोनों देवियों के पैर के नीचे शिव की आकृति खुदी है।

अमोघसिद्धि से उत्पन्न तारा

अमोघसिद्धि से उत्पन्न देवियों में वैश्यतारा तथा सीतातारा के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। पहली देवी भद्रासन अवस्था में बैठी एकाकिन् मिली है। यह आर्यतारा के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके बाएँ हाथ में कमल है तथा दाहिना वरद मुद्रा में है। छाती पर चक्रचिह्न है। वज्रपर्यङ्क आसन में बैठी है। सीतातारा (दूसरा नाम वज्रतारा) के तीन सिर तथा छः भुजाएँ भी हैं। दाहिनी ओर की भुजाओं में माला, बाण स्थित है और एक वरद मुद्रायुक्त हैं। बायीं ओर धनुष तथा कमल पुष्प है। सिरे (मौली) पर अमोघसिद्धि की प्रतिमूर्ति खुदी है।

कुरकुला तारा

साधनमाला में इसे लालतारा भी कहा गया है। सिरे पर अमिताभ की प्रतिमूर्ति से यह देवी उसी से उत्पन्न मालूम पड़ती है। इसकी पूजा से वशीकरण मन्त्र में सफलता मिलती है। भारत में इसकी मूर्ति अलभ्य है। नेपाल चित्रकला से इसका पता चलता है। षड्भुजी कुरकुला की मौली पर 'पाँचों ध्यानीबुद्ध' खुदे हैं।

साधनमाला में वज्रतारा का अधिक वर्णन आया है जो पाँचों ध्यानीबुद्ध से उत्पन्न देवी मानी गई है। इसकी चार सिर तथा आठ भुजा वाली प्रतिमा मिली है। दोहरे कमल पर वज्रपर्यङ्कासन में बैठी है। इसके साथ में दस देवियाँ दीख पड़ती हैं। स्यात् इसके मंत्र में दश अक्षरों का समुदाय है ओम्—तारे तु तारे तुरे स्वाहा—इसी की प्रतीकात्मक दस देवियाँ प्रदर्शित हैं। पूर्वी भारत में वज्रतारा की धातु प्रतिमाएँ मिली हैं।

मारीचि

वैरोचन नामक ध्यानीबुद्ध से केवल देवियों की उत्पत्ति हुई। उनमें मारीचि सर्वप्रधान देवी समझी जाती है। इसको लोकप्रियता के कारण मारीचि को वैरोचन की शक्ति मानते हैं। उत्तरी भारत के संग्रहालयों में मारीचि की प्रतिमा संगृहीत है।

कला में मारीचि को आलीढ़ रीति से खड़ी पाते हैं। आठ भुजाएँ हैं तथा उसके तीन मुख हैं जिनमें शूकरी की आकृति दाहिनी ओर है। तीन मुखों से शृङ्गार, क्रोध तथा शान्त रसों की अभिव्यक्ति होती है। मगध में अष्टभुजी मारीचि की धातु-प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसके हाथों में अंकुश, पाश, तीर-धनुष, वज्र, अशोक-पुष्प तथा सूई की तरह आयुध दिखलाई पड़ते हैं। यह देवी सात शूकरों द्वारा चालित रथ पर आरूढ़ है जिसका सारथी राहु प्रकट होता है। मारीचि देवी को सूर्य की

प्रतिमा से समता दिखलाना उचित होगा। सूर्य के सात घोड़े का रथ यहाँ सात शूकरों के समान है। राहु सारथी के रूप में सभी मूर्तियों में पाया जाता है। अन्य देवियाँ साथ में खड़ी हैं। मारीचि के अनेक रूप हैं। एक मुख तथा दो भुजा वाली मूर्ति अशोककान्ता मारीचि कही जाती है।

अपराजिता

अपराजिता वज्रयान मत की प्रसिद्ध देवी है। अष्टकुरकुला के साथ ध्यान मंत्रों में इसका नाम आता है और वहाँ इसके मौली पर रत्नसम्भव की प्रतिमूर्ति खुदी है। अन्यथा यह देवी स्वतंत्र मानी जाती है। कला में अपराजिता को विचित्र रीति से उपस्थित किया गया है। अन्य बौद्ध देवता के सदृश यह देवी भी हिन्दू देवता को पददलित करती निर्मित है। साधनमाला में वर्णन आता है कि इस देवी का रंग पीला है, दो हाथ हैं। दाहिने हाथ से किसी को थप्पड़ मार रही है। उस समय देवी का चेहरा भयंकर है। पैर के नीचे हिन्दू देवता गणेश को कुचल रही है। नालंदा तथा पटना संग्रहाल्य में इसकी पाषाण तथा धातुमूर्तियाँ संगृहीत हैं। यह हिन्दू देवता गणेश को पैरों तले कुचल रही हैं। सम्भवत: आठवीं सदी में हिन्दू देवता को पददलित करने के लिए ईर्ष्यावश बौद्ध कलाकारों ने ऐसी प्रतिमाएँ बनाई हों। हिन्दू देवताओं में ऐसी मूर्ति का सर्वथा अभाव है जिससे हिन्दुओं की प्रतिक्रिया का प्रदर्शन नहीं मिलता।

हारीति

वज्रयान देवकुल में जिन देवियों (तारा) का विवरण उपस्थित किया गया है उन सभी से भिन्न हारीति को स्थान देते हैं। इस देवी की बड़ी प्रतिमा गंधार शैली में तैयार हुई थी जब देवकुल का नाम भी ज्ञात न था। कौशाम्बी, साँची, मथुरा तथा अमरावती से हारीति की अतीव सुन्दर मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। गधार मूर्ति के शरीर पर यूनानी कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कला में हारीति दो विभिन्न रूप से दिखलाई गई है, अथवा प्रदर्शित हैं। एकाकी मूर्ति जो भारतीय नारी के सदृश है, तीन बच्चे साथ में है जिनमें एक हारीति के स्तन का दूध पी रहा है। कभी गोद तथा कन्धे पर भी बच्चे दिखलाए गये हैं। दूसरी स्थिति में युग्म प्रतिमा—कुबेर तथा हारीति की मिलती है। गंधार से दोनों प्रकार की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

इस देवी के सम्बन्ध में रत्नकूट में कथानक मिलता है। हारीति ने पूर्वजन्म में यह निश्चय कर लिया था कि राजगृह के समस्त बालकों को निगल जाऊँगी। राजगृह के लोगों ने ऐसी दयनीय स्थिति मे बुद्ध से विनय किया ताकि हारीति बच्चों का भक्षण बद कर दे। भगवान् ने एक उपाय सोचा। हारीति के पाँच सौ सन्तान में से एक शिशु को उन्होंने छिपा दिया। हारीति अपने शिशु को ढूँढ़ती तथा रोती बुद्ध के समीप आई। भगवान् ने पूछा कि वास्तव में क्या वह बच्चे को प्यार करने वाली स्त्री है? हारीति ने हाँ कहकर उत्तर दिया। उस परिस्थिति में बुद्ध ने अहिंसा की शिक्षा दी। हारीति ने बच्चों को मारने के स्थान पर प्रेम करने की प्रतिज्ञा

की। उसकी सन्तान के लिए अधिक मात्रा में अन्न दिया गया। इसी कथानक के आधार को लेकर चीनी यात्री इत्सिंग ने हारीति की प्रतिमा राजगृह के भोजनालय तथा मठ में देखी थी, ऐसा वर्णन मिलता है।

षष्ठी-पूजा

उसके पश्चात् वात्सल्य प्रेम दिखलाने के कारण ही हारीति बालकों की रक्षक हो गई। भक्षण कार्य का अन्त हो गया। हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित षष्ठीदेवी हारीति की परिवर्तित रूप है। इस नयी देवी-षष्ठी की पूजा आजकल प्रत्येक हिन्दू घर-घर में करता है। नवजात शिशु के छठें दिन की पूजा 'षष्ठी-पूजा' ही कही जाती है। प्रत्येक मास में लोग इस देवी की पूजा करते हैं परन्तु कार्तिक शुक्ल ६ को जिस षष्ठी की लोकप्रियता है उसे 'गोषष्ठी' का नाम दिया गया है। कुछ विद्वान षष्ठी को हारीति का नया रूप नहीं मानते। षष्ठी को एक स्वतंत्र देवी समझते हैं। षष्ठी-पूजा में सूर्य को भी प्रमुखता दी जाती है। सूर्य को जीवनदाता तथा रोगनिहन्ता देवता मानते हैं (जिसका विवरण गत पृष्ठों में दिया गया है)। इसी कारण षष्ठी का कार्य तथा सूर्य के कार्यों में समता (रक्षण कार्य) देखकर गोषष्ठी के अवसर पर षष्ठी सहित सूर्यपूजा भी करते हैं।

जम्भल

जम्भल बौद्धमत में धन का स्वामी माना गया है, जैसे हिन्दूमत में कुबेर। परन्तु इसकी महत्ता प्रदर्शित करने तथा कुबेर से उच्चतर व्यक्त करने के लिए कुबेर की आकृति को पैरों से कुचलते जम्भल की मूर्ति मिली है। 'पाँच ध्यानीबुद्ध' की कल्पना से पूर्व जम्भल के विषय में विद्वानों को जानकारी थी। गन्धार से लेकर मथुरा, सारनाथ, बंगाल पर्यन्त जम्भल की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो इसकी प्राचीनता के द्योतक हैं। पुराने समय से ही जम्भल की स्थिति ज्ञात होने के कारण इसे ध्यानीबुद्ध से सम्बद्ध करना कठिन हो गया है। तो भी अक्षोभ्य, रत्नसम्भव या पाँच ध्यानीबुद्ध से जम्भल की उत्पत्ति मानते हैं। इसकी प्रतिमा के सिरे पर 'ध्यानीबुद्ध' की प्रतिमूर्ति दिखलाई पड़ती है। रत्नसम्भव का वज्रयानदेव कुल में कालान्तर में प्रवेश हुआ, इस कारण उससे उत्पन्न बहुत देवी-देवता माने गए हैं। जम्भल सम्पत्ति का स्वामी होने के नाते रत्नसम्भव से इसका सम्बन्ध उचित प्रतीत होता है। रत्नसम्भव भी मूल्यवान रत्नों को विभक्त करता है इसलिए जम्भल का दैवी पिता स्वतः सिद्ध हो जाता है। जम्भल की पत्नी वसुधारा भी रत्नसम्भव से उत्पन्न हुई। अतः दोनों का सम्बन्ध न्यायसंगत हो जाता है। मूल्यवान वस्त्राभूषण से सुसज्जित जम्भल एकाकिन् अथवा वसुधारा के साथ युगल-प्रतिमा में मिलता है। मध्ययुगी कला में आठ पंखुड़ियों के कमल पर बैठी युगल मूर्ति उपलब्ध हुई है। बंगाल में इसकी अनेक भव्य प्रतिमाएँ मिली हैं। युग्म प्रतिमा में जम्भल दाहिने हाथ में नेवला लिये है, जो रत्न वमन करता है। नेवला केवल जम्भल का ही प्रतीक माना गया है।

साधनमाला में जम्भल, रत्नसम्भव अथवा अक्षोभ्य से उत्पन्न कहा गया है। रत्नसम्भव से धन के स्वामी जम्भल की उत्पत्ति में कुछ सार्थकता भी दिखलाई पड़ती है। अक्षोभ्य से उद्भूत प्रतिमा को 'उच्छिश्म जम्भल' कहा जाता है। इस प्रतिकृति में जम्भल का चेहरा भयंकर तथा शरीर नग्न दिखलाया गया है। वह हिन्दूमत के धनकुबेर को पैरों से पददलित कर रहा है। सारनाथ से प्राप्त जम्भल प्रतिमा के सिरे पर अमिताभ की आकृति खुदी है। इस कलात्मक नमूने में भी जम्भल धनकुबेर को पैरों से कुचल रहा है तथा उस दशा में कुबेर रत्न-वमन कर रहे हैं। जांघों के समीप नेवला की आकृति दीख पड़ती है। हिन्दू मत में नेवला सर्प का भक्षण करता है, ऐसा प्रसिद्ध है। सर्प के सिर में स्थित मणि नेवला के पेट में चली जाती है। अतएव पेट पर दबाव देने पर मणि का वमन स्वाभाविक हो जाता है। इस कल्पना को कुबेर से बौद्ध-कला में सम्बन्धित किया गया। अतः जम्भल द्वारा कुचल जाने पर वह भी रत्न-वमन करते दीख पड़ता है।

त्रैलोक्य-विजय

इस देवता की मूर्ति-पूजा तथा कला में प्रदर्शित प्रतिमा के विषय में हमारी जानकारी सीमित-सी है। इस देवता के रहस्य को समझने में मध्ययुगी बौद्ध तथा हिन्दू मतों की पारस्परिक विरोधी वार्ता सहायता करती है। हिन्दू मत के प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष के कारण वज्रयान वालों ने उत्तेजित होकर शत्रुवत् व्यवहार किया। उस प्रवृत्ति का प्रदर्शन कलाकारों ने भी किया। हिन्दू मूर्तियों को अपमानित कर तथा पैर से कुचल कर कुत्सित विचार का प्रदर्शन कलाकारों ने किया। साधनमाला मे ऐसी ही तिरस्कारपूर्ण बातें लिखी हैं कि तंत्रयान देवी अपराजिता के अधीन रह कर ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि हिन्दू देवता सेवक का कार्य करते थे। (साधना २०४)। वज्रयान देवता के हाथ में पाश इसलिए दिया गया था कि वे ब्रह्मा, विष्णु को पाश में बांध (बन्धनाय) दें। उसी प्रसंग में विष्णु तथा लक्ष्मी को पैर से कुचलने का वर्णन किया गया है।

सपत्नीकं विष्णुमालीढ़ पदेनाक्रम्यावस्थितम्।

उसी श्रेणी के पदाक्रान्त करते वज्रयान देवताओं में त्रैलोक्य-विजय का भी नाम उल्लिखित है। साधना में वर्णन आता है—

वामपादाक्रान्त महेश्वर मस्तकं
दक्षिणपादवष्टब्ध गौरीस्तन युगलम्।

वह देवता बाएँ पैर से शिव को कुचल रहा है तथा दाहिना पैर को गौरी (पार्वती) के दोनों स्तनों पर स्थित किया है। इन अपमानजनक शब्दों को भुला देना तो दूर रहा, बौद्ध कलाकारों ने उसका सशरीर रूप खड़ा कर दिया। नालंदा तथा बोधगया से त्रैलोक्यविजय की ऐसी ही प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रतिमा के रौद्र भाव के साथ चार मुख हैं, गले में मुण्डमाला तथा दोनों पैर हर-गौरी के वक्षस्थल पर दिखलाई पड़ते हैं।

देवता प्रत्यालीढ़ आसन में हैं। पहले मुख से क्रुद्ध भावना, दाहिने मुख से रोष, बायें से घृणा तथा पिछले मुख से वीरता अभिव्यक्त होती है। वज्र और घंटा लिये सीने से सटे दोनों हाथ वज्रहुङ्कार मुद्रा में हैं।

विघ्नांतक

विघ्नांतक को भी त्रैलोक्यविजय के सदृश कला में दिखलाया गया। इसके पैर तले गणेश की आकृति है। अतएव बौद्धमत से सम्बन्धित ऐसी घृणित तथा हिन्दू देवी-देवता को अपमानित करने वाली मूर्तियाँ मगध में ही पाई गई हैं जो मंत्रयान का केन्द्र था। तन्त्रयान तथा हिन्दूमत के विरोधी विचारों का प्रत्यक्षीकरण उन प्रतिमाओं द्वारा हो जाता है। साधनमाला के रचयिता ने जो घृणा का बीज बोया था उसे कलाकारों ने मूर्तिमान कर दिया। परन्तु आश्चर्य यह है कि हिन्दू शास्त्रकार अथवा मूर्तिकार बौद्धों को विरोधी शब्दों में उत्तर न दे सके। सनातन उच्च विचार और अपने कर्तव्य से पारस्परिक विरोध को शान्त किया। हिन्दू मूर्तियों (देवता-समूह) में एक भी नमूना नहीं है जो बौद्ध प्रतिमा को तिरस्कृत करते दिखलाई पड़े। इसके विपरीत ब्राह्मणधर्म के प्रचारकों ने बुद्ध को विष्णु का नवाँ अवतार स्वीकृत किया। यही कारण था कि दशावतारचरित तथा गीतगोविन्द में बुद्ध को अवतार के रूप में वर्णित किया गया है। भारतीय कला में इन प्रतिमाओं को मिश्रित प्रतिमा भी कहते हैं।

अध्याय १२

भारतीय-कला की जैन प्रतिमाएँ

प्राचीन काल में उपनिषद् युग के पश्चात् दो प्रधान (नवीन) मत समाज में प्रचलित हुए। गौतम बुद्ध तथा महावीर द्वारा प्रवर्तित बुद्ध तथा जैन मतों को अवैदिक मत मानते हैं। इस तरह नास्तिक मतों में इनकी गणना होती है। यद्यपि दोनों धर्मों में हिंसा तथा वैदिक यज्ञों के प्रतिकूल बातें कही गई है, किन्तु जैनमत बुद्ध द्वारा प्रसारित धर्म से सर्वथा भिन्न था। दोनों मतों ने वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर यज्ञ का घोर विरोध किया था, परन्तु मूल में उपनिषद् के सिद्धान्त को लेकर ही चले थे। इस स्थान पर जैनमत तथा उपनिषद् के सिद्धान्तों पर तुलनात्मक चर्चा करना आवश्यक नहीं है। पार्श्वनाथ या महावीर इस मत के प्रवर्तक थे, इस प्रश्न का विचार भी अप्रासंगिक होगा। जैन मतावलम्बियों ने अंग तथा सूत्र की रचना कर इस धर्म का प्रसार किया। मोक्ष के सदृश कैवल्य को जीवन का उद्देश्य मान कर जैनी नियम तथा सदाचार का पालन करने लगे। कालान्तर में जैनमत के दो विभाग हुए—(अ) श्वेताम्बर तथा (ब) दिगम्बर। श्वेताम्बर सदा अपनी प्रतिमाओं को वस्त्र तथा आभूषण से सुसज्जित रखते थे। रात्रि के समय मंदिरों में दीपक का उपयोग नहीं करते तथा प्रतिमा स्नान के लिए जल का बहुत कम प्रयोग करते थे। इस श्वेताम्बर नाम से ही पता चलता है कि जिसके देवता श्वेत अम्बर (धवल वस्त्र) पहनते हों। दिगम्बर शब्द दिक् (दिशा, आकाश, शून्य) तथा अम्बर (वस्त्र) का संयुक्त रूप है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस शाखा की मूर्तियाँ नग्न रहती थीं (दिशा यानी आकाश जिसके वस्त्र हों)। इसकी मूर्तियों को रात्रि में स्नान कराकर अक्षत अर्पित किया जाता था। इन दोनों शाखाओं के विषय में परिज्ञान हो जाने पर जैन-प्रतिमा के अध्ययन मे सरलता होती है।

जैन-मत में मूर्ति-पूजा की प्राचीनता

भारतीय इतिहास में यह प्रश्न विवादास्पद है कि मूर्ति-पूजन कितना प्राचीन है। प्रागैतिहासिक युग के कलात्मक नमूनों में यदि मोहनजोदड़ो के पशुपति (शिव) को शैवमत का देव मानें तो हड़प्पा से प्राप्त नग्नधड़ (Torso) को दिगम्बर की खण्डित मूर्ति स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। वैदिक युग की प्रतिमाएं अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। बौद्धयुग के आरम्भ में ईसवी पूर्व सदियों की वेदिकाएँ तथा तोरण पर जो खुदाई है वह हीनयान से सम्बन्धित है। इसमें बुद्ध की ऐतिहासिक घटनाओं को प्रतीकों द्वारा तथा जातकों को प्रदर्शित

किया गया है। मौर्ययुग से शुङ्गकाल तक बुद्ध की प्रतिमा नहीं मिलती, किन्तु जैन-मत के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। मौर्ययुगी कलात्मक उदाहरणों में लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त एक नग्न प्रतिमा की गणना की जाती है जिसके प्रस्तर पर मौर्य स्तम्भ का लेख ही उसकी प्राचीनता का द्योतक है। उसे जैनमत के दिगम्बर देवता की मूर्ति मानी जाती हैं। इस कारण कला के आधार पर कहा जा सकता है कि जैनमत में पूजा निमित्त प्रतिमाएँ अत्यन्त प्राचीन काल में निर्मित हुई जिसकी समता अन्य धर्मों में नहीं है। जैनियों में यह विचार काम कर रहा था कि धार्मिक उपदेशक या सन्त लोगों की प्रतिमाएँ मनुष्य को सत्कार्य की ओर प्रेरित करती हैं, अतएव उनकी मूर्तियों को ऐसे धार्मिक स्थान पर स्थापित किया गया जिस स्थान से महान पुरुषों का सम्बन्ध रहा हो। उपरिलिखित विचार के महत्त्व समझकर ही जैनियों ने तीर्थंकर (जैनदेवता) प्रतिमाओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-मूर्तियों—श्री, गणेश, कुबेर, या तांत्रिक देवियों का समावेश जैन-देवता-समूह में किया था। जैनमत का प्रसार भारतवर्ष में सर्वत्र था, इसलिए गुजरात, राजपुताना, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मैसूर, आंध्र आदि प्रदेशों में जैन-प्रतिमाएँ प्रचुर संख्या में मिलीं हैं।

तीर्थङ्कर

जैन प्रतिमा-समूह में तीर्थङ्कर मूर्ति की ही प्रधानता है। यानी जैन कला में तीर्थङ्कर के अतिरिक्त और सभी मूर्तियाँ गौण समझी जाती हैं। जैनसूत्रों में तीर्थङ्कर को अरूप ब्रह्म का साकार रूप मानते हैं, उसे विश्वरूप, जगत्प्रभु, केवल, ज्ञानमूर्ति, वीतराग कहकर पुकारते हैं। इस जगत में अवतरित होकर वह दो हाथ, तथा एक मुख का स्वरूप लेकर पद्मासन मार समाधि एवं ध्यान में बैठा रहता है। तीर्थङ्कर शब्द का दो अर्थ है। तीर्थयानी धर्म की जो व्याख्या करे वह तीर्थङ्कर कहलाया। दूसरे विद्वानों ने यह मत (अर्थ) उपस्थित किया कि तीर्थ शब्द गुण या नदी के उस स्थल को कहते हैं जिसे दिखलाने (उस कार्य) के कारण व्यक्ति तीर्थङ्कर कहलाता है। श्वेताम्बर तीर्थ को संघ के अर्थ में ग्रहण करते हैं। अतः तीर्थङ्कर संघ का स्थापक माना जाता है। तीर्थङ्कर वीतराग और सभी इन्द्रियों का विजेता (जिन) है अतएव जिन शब्द के कारण ही इस मत का नाम जैन धर्म पड़ा।

तीर्थंकर को देवाधिदेव मानकर जैन कलाकारों ने इसे प्रमुख स्थान दिया और ऐसे लक्षण उपस्थित किए जो तुलनात्मक ढंग से तीर्थंकर की प्रमुखता प्रकट करता है। तीर्थंकर को लम्बी भुजाएँ सहित तथा सम्पूर्ण पाषाण पर विस्तृत प्रतिमा रूप में दर्शाया गया है। बृहत्संहिता में तीर्थंकर के कई प्रमुख लक्षण बतलाए गए हैं जिसे कलाकारों ने पाषाण पर स्थान दिया था।

(१) जैन मूर्ति की लम्बी (लम्बवत्) भुजाएँ।

(२) श्रीवत्स (चिह्न) वक्षस्थल पर।

(३) प्रशान्त मूर्ति।

(४) सुन्दर शरीर के अङ्ग।

(५) नग्न अवस्था।

(६) वृक्ष के नीचे बैठी (आसन) प्रतिमा।

निम्न पद्य भी कला के समझने में सहायता करता है।

निराभरण सर्वाङ्ग निर्वस्त्राङ्ग मनोहरम्,
सर्ववक्षः स्थले हेमवर्ण श्रीवत्सलांक्षनम्।

जैनकला

जैनकला के इतिहास का अध्ययन यह बतलाता है कि इसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(अ) पूर्व-कुषाणयुग की कला।

(ब) कुषाणकालीन प्रतिमाएँ।

(स) गुप्त-युगी जैनकला।

प्रथम भाग में लोहानीपुर की दिगम्बर प्रतिमा की गणना की जा सकती है। नग्न मूर्ति पर वज्रलेप (मोजेक) यह घोषित करता है कि यह अशोक के समय में तैयार की गई थी। सारनाथ स्तम्भ तथा लोमश ऋषि गुहा पर जो लेप है वही इस जैन-प्रतिमा पर दिखलाई पड़ता है। साक्षात् मूर्ति के अतिरिक्त अभिलेख भी जैनमूर्ति की प्राचीनता बतलाते हैं। ईसापूर्व पहली शती में भुवनेश्वर (उड़ीसा) के समीप कलिङ्गनरेश खारवेल का लेख हाथीगुम्फा पर खोदा गया था। उसमें निम्न उल्लेख आता है—

"नंदराज नीतं च कालिंग जिनं संनिवेस।"

खारवेल नन्दराजा को पराजित कर 'जिन' की प्रतिमा कलिङ्ग वापस ले आया। सम्भवतः कलिङ्ग से मगधनरेश जिस जैन पाषाण-मूर्ति को उठा ले गया था उसको ही खारवेल वापस ले आया। प्रशस्ति के इस उल्लेख को नगण्य नहीं माना जा सकता किन्तु उसमें तथ्य है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि ईसवी पूर्व सदियों में जैनमूर्तियाँ पूजा निमित्त तैयार की जाती थीं। उसी स्थान पर निर्मित रानीगुहा के बाहरी दीवाल पर कुछ चित्र भी खुदे हैं। मार्शल का कथन है कि तत्स्थानीय युद्ध का दृश्य तथा स्त्री को उठा ले जाने का प्रदर्शन (खुदे चित्र) पार्श्वनाथ (तेइसवें तीर्थंकर) के जीवन से सम्बन्धित है। पार्श्वनाथ की एक कांस्य मूर्ति कायोत्सर्ग आसन (खड़ी प्रतिमा) में बम्बई के संग्रहालय में सुरक्षित है जो मौर्ययुग की मानी जाती है।

कुषाण-युग के अनेक कलात्मक उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए हैं। उसमें अमोहिन द्वारा प्रदत्त-आयागपट्ट तथा तीर्थंकर प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट की तिथि ईसवी पूर्व में स्थिर की गई है। यह गोलाकार पूजानिमित्त शिलापट्ट है जिसके मध्य में ध्यानी मुद्रा में महावीर की छोटी मूर्ति दिखलाई पड़ती है। उसके चारों तरफ जैनमत के निम्न आठ मांगलिक चिह्न खुदे हैं—

(१) स्वस्तिक (२) दर्पण (३) भस्मपात्र (४) बेंत की तिपाई (भद्रासन) (५,६) दो मछलियाँ (७) पुष्पमाला (८) पुस्तक।

इन चिह्नों की स्थिति से मूर्ति को जैनप्रतिमा मानने में सन्देह नहीं रह जाता। औपपातिक सूत्र (सं० ३१) में अष्टमाङ्गलिक चिह्नों के नाम इस प्रकार हैं—

स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त
वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश।
दर्पण तथा मत्स्य-युग्म।

कुषाण-युग के अन्य आयागपट्ट पर जो मांगलिक खुदे हैं, उसमें दर्पण तथा नंद्यावर्त का अभाव है। सम्भवतः कनिष्क काल तक अष्टमांगलिक की अन्तिम सूची निश्चित न हो सकी थी। दिगम्बर शाखा में निम्नलिखित अष्टमांगलिक चिह्न वर्णित हैं—भृङ्गार, कलश, दर्पण, चामर, ध्वज, व्यजन, छत्र, सुप्रतिष्ठ।

आयागपट्ट जैनकला की प्राचीनतम कृति है। उस समय का द्वितीय उदाहरण जैनस्तूप के स्तम्भ पर खुदी यक्ष-यक्षिणी आकृतियाँ मानी गई हैं। तोरण स्तम्भ पर अधिकतर नग्न आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं किन्तु इन आकृतियों की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। एकाकी प्रतिमा नहीं मिलती है।

कुषाण-युग में प्रधानतः तीर्थंकर की प्रतिमाएँ तैयार की गयीं जो कायोत्सर्ग (खड़ी) अथवा आसन (बैठी) अवस्था में खुदी हैं। कुषाण-युग में महायान के उदय होने पर भारतीय कला के दो केन्द्रों में बुद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। पहला गन्धार का भूभाग तथा दूसरे मथुरा का प्रदेश। कला के विवेचक इस बात को स्वीकार करते है कि मालवा यक्षमूर्ति के अनुकरण पर ही मथुरा में बुद्ध या जैन की प्रतिमाएँ तैयार की गईं। यानी इन प्रतिमाओं में विशालकाय शरीर प्रदर्शित है जो अन्यत्र दीख नहीं पड़ता।

साँची के समीप भिलसा, ग्वालियर तथा बड़ौदा आदि स्थानों से विशालकाय अनुपातरहित तथा अशोभनीय यक्ष-प्रतिमाएँ मिली हैं। अतएव मथुरा के कलाकारों के सम्मुख यक्ष की मूर्ति ही आदर्श थी। उसी मूल प्रतिमा का अनुकरण कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के शासनकाल में होता रहा। कायोत्सर्ग स्थिति में तीर्थङ्कर की विशालकाय नग्न मूर्तियाँ बनने लगीं। कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त अधिकतर नग्न प्रतिमाएँ लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। स्यात् उस समय दिगम्बर जैनियों की प्रधानता थी। तीर्थङ्कर प्रतिमाओं में अधोवस्त्र का समावेश कुषाण-युग के पश्चात् किया गया। इस युग में आयागपट्ट, धर्मचक्र, माङ्गलिक-चिह्न श्रीवत्स, कमल आदि का भी पूजन होता रहा। यह कहना आवश्यक है कि कुषाण युग में तीर्थङ्करों के विभिन्न प्रतीकों का परिज्ञान न हो सका था। विभिन्न तीर्थङ्करों को पहचानने के लिए चौकियों पर अंकित लेखों में नाम का उल्लेख ही पर्याप्त था। उदाहरण के लिए कनिष्क के तीसरे वर्ष (सन् ८१ ई०) में सारनाथ में प्रतिष्ठापित प्रतिमा-लेख में 'बोधिसत्व' का नाम उल्लिखित है।

इसी तरह हुविष्ककालीन जैनप्रतिमा के लेख सम्भवनाथ (तीसरे जैन तीर्थङ्कर) का नाम उल्लिखित है। कालान्तर में प्रतिमा की चौकी (पीठ, Pedastal) पर अंकित प्रतीक द्वारा तीर्थङ्करों के नाम लिये जाते हैं जिनकी प्रतिमाएँ विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं।

नाम	प्रतीक	शासनदेवी (शक्ति)
(१) आदिनाथ या ऋषभनाथ (प्रथम तीर्थङ्कर)	वृषभ	चक्रेश्वरी
(२) अजितनाथ (द्वितीय तीर्थङ्कर)	गज	रोहिणी
(३) सम्भवनाथ (तृतीय तीर्थङ्कर)	अश्व	प्रज्ञावती
(४) सुपार्श्वनाथ (सातवें तीर्थङ्कर)	स्वस्तिक	कालिका
(५) नमिनाथ (इक्कीसवें)	नीलोत्पल	चामुण्डा
(६) नेमिनाथ (बाईसवें)	शंख	अम्बिका
(७) पार्श्वनाथ (तेईसवे)	सर्प	पद्मावती
(८) वर्धमान महावीर (चौबीसवें तीर्थङ्कर)	सिंह	सिद्धायिका

कुषाणकालीन मथुरा बुद्ध तथा जैन-प्रतिमाओं की कलात्मक विशेषताएँ तथा बनावट में इतनी समानता है कि साधारण व्यक्ति दोनों में विभेद नहीं कर सकता। नग्न अवस्था की स्थिति से प्रतिमा को जैन तीर्थङ्कर कहा जा सकता है। ऋषभनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर की मूर्तियाँ बैठी मिलती हैं। अन्य तीर्थङ्कर कायोत्सर्ग रूप में (खड़े) प्रदर्शित किये गये हैं।

गुप्तकालीन जैनप्रतिमाएँ सुन्दरता तथा कलात्मक दृष्टि से उत्तम समझी जाती हैं। अधोवस्त्र तथा 'श्रीवत्स' दो प्रमुख विशेषताएँ हैं जो गुप्तयुग में परिलक्षित होती हैं। जैनमूर्तियों की बनावट उत्तम श्रेणी की है। जैन-प्रतिमाओं में चक्र चौकी के मध्य तैयार किये गए जिसके दोनों पार्श्व में दो हिरन (सारनाथ बौद्ध-प्रतिमा के सदृश) या वृषभ खोदे गए हैं। सिरे पर तीन (चक्र) रेखाओं का छत्र दिखलाया गया है जिसके दोनों ओर दो हाथियाँ स्थित हैं। गुप्तयुग से जैन-प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणी मालवाही गन्धर्व आदि देव-तुल्य मूर्तियों को भी स्थान दिया गया था। गुप्तकाल में जैनधर्म का भी पर्याप्त प्रचार था इसलिए लेखों मे अर्हत् प्रतिमाओं की स्थापना (स्कन्दगुप्त का कहौम

स्तम्भलेख, गु० स० १४१) तथा गुहा या मंदिरों में जैनमूर्तियों की स्थिति उसके प्रसार का समर्थन करती है।

उत्तर-गुप्तकाल में जैनकला सम्बन्धी अनेक केन्द्र काम करने लगे। अतएव स्थानीय प्रतिमाएँ पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। तांत्रिक भावनाओं ने कला को प्रभावित किया। कलाकारों का कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो गया परन्तु शास्त्रीय नियमों के कारण जैन कलाविदों की स्वतन्त्रता न रही। नियमों से बँधे रहने के कारण मध्ययुग की जैनकला निर्जीव तथा बुद्धिरहित हो गई। इस युग की विशेषता यह थी कि चौबीस तीर्थङ्करों से सम्बन्धित चौबीस यक्ष-यक्षिणी को कला में स्थान दिया गया। पाषाण के अतिरिक्त तीर्थङ्कर की धातु-प्रतिमाएँ भी कई केन्द्रों में तैयार की जाने लगीं। नालंदा की कांस्य बौद्ध-प्रतिमाओं की तरह जैन कांस्य मूर्तियाँ भी साँचे में ढालकर तैयार की गयीं। उसे गलित मोम का साँचा कहते हैं और इसी साधन का प्रयोग कलाकार करते रहे।

पाषाण-मूर्तियाँ

ईसवी पूर्व सदियों में ही आयागपट्ट के मध्य में ध्यान मुद्रा में महावीर की छोटी मूर्ति दीख पड़ती है। ईसवी सन् के आरम्भ से मथुरा केन्द्र में लम्बी-चौड़ी विशालकाय जैन तीर्थंकर की प्रतिमा तैयार होने लगी। समाज में तीर्थंकर के गुणों का अनुकरण कर कैवल्य प्राप्ति का लक्ष्य पूर्ण करना था अतएव पूजा-निमित्त यक्षमूर्ति के आदर्श पर दिगम्बर मूर्तियाँ बनीं जो कंकाली टीले की खुदाई से प्रकाश में आई हैं। उसमें महावीर की प्रतिमा की प्रधानता थी जो अधिकतर आसन अवस्था में उपलब्ध हुई है। नग्न मूर्तियों के लम्बे हाथ तथा चौड़े वक्षस्थल दिखलाये गये हैं। कालान्तर में प्रतिमा की चौकियों पर ज्ञानप्रद प्रतीक बनाए गए। उन चिह्नों की सूची ऊपर दी गई है। महावीर की प्रतिमाओं को सिंहासन, (मध्य में), चक्र, छत्र तथा ध्यानमुद्रा के साथ तैयार किया गया था। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को वृषभ प्रतीक के कारण वृषभनाथ (ऋषभनाथ) भी कहते हैं। प्रायः इनकी कायोत्सर्ग अवस्था में मूर्ति बनती रही। सिर के बाल कंधे पर तथा बाहर भी लटके दीख पड़ते हैं। मध्ययुग तक वृषभनाथ की प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। मथुरा से ऋषभनाथ की ध्यानमुद्रा में बैठी प्रतिमाएँ मिलती हैं। खजुराहो में १४ फीट लम्बी आदिनाथ की खड़ी मूर्ति पार्श्वनाथ मंदिर के समीप मिली है। बैठी प्रतिमा की चौकी पर चक्र का चिह्न है जो बुद्धधर्म से लिया गया होगा।

गुप्तयुग की प्रतिमाओं के प्रभामण्डल पर दो मालाधारी विद्याधर दिखलाई पड़ते हैं। प्रभामण्डल का अलंकरण भी जैनप्रतिमा को गुप्तकालीन घोषित करता है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की बैठी प्रतिमाएँ मध्यप्रदेश तथा बिहार से मिली हैं। शंख की स्थिति से नेमिनाथ की जानकारी हो जाती है परन्तु पार्श्वनाथ की प्रतिमा में पाँच सर्प फन फैलाए सिरे भाग में दिखलाए गए हैं। महावीर की मूर्ति प्रायः कमलासन या सिंहासन पर बैठी मिलती है। उसके दोनों हाथ ध्यानमुद्रा में दीख पड़ते हैं। वहाँ चौकी के मध्य में चक्र की स्थिति आवश्यक है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं

में वक्षस्थल पर श्रीवत्स खुदा है। इस तरह तीर्थंकरों की प्रतिमा का परिज्ञान सरलता से हो जाता है। नालंदा से पद्मावती की मध्ययुगी मूर्ति मिली है जो अतीव सुन्दर है। इसी के सदृश देवगढ़ (झाँसी, उत्तरप्रदेश) से 'जिन' की माता की वस्त्राभूषण से सुसज्जित शयन प्रतिमा उपलब्ध हुई। मध्ययुग में (आठवीं सदी) चौबीस यक्ष एवं यक्षिणी को जैनकला मे स्थान दिया गया जो तीर्थंकर के साथ पाषाण पर खुदे हैं। मध्यकालीन भारत की जैनप्रतिमाओं में चौकी पर आठ ग्रहों की आकृतियाँ भी दृष्टिगोचर होती है जो हिन्दूमत के नवग्रहों का अनुकरण था। इस युग में मध्य भारत, बिहार, उड़ीसा तथा दक्षिण में दिगम्बर मत प्रधान हो गया था और श्वताम्बर की संख्या घटती जा रही थी। यही कारण था कि दिगम्बर प्रतिमाएँ अधिक संख्या में मिली हैं। खजुराहो, देवगढ़ आदि जैन मन्दिरों से सम्बन्धित प्रस्तर की अन्य मूर्तियाँ भी मिलती हैं जिसमें शासन देवी, यक्ष, यक्षिणी का नाम उल्लेखनीय है। एक विशेष प्रकार की राजरानी की युगल पाषाण-मूर्ति वृक्ष के नीचे बैठी खजुराहो से प्राप्त हुई है जिसके सिरे पर 'जिन' की सूक्ष्म आकृति बनी है। मध्यभारत, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के दिगम्बर केन्द्रों में ऐसी प्रतिमाओं की बहुलता है।

दक्षिण भारत के दिगम्बर केन्द्र इलौरा (९वीं सदी) की गुहायें तीर्थंकर की प्रतिमा से भरी पड़ी हैं। छोटा कैलास (गुहा संख्या ३०) में ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की बैठी पाषाण-मूर्तियाँ पद्मासन एवं ध्यानमुद्रा में खुदी हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के पार्श्व मे चौरी धारण किये यक्ष तथा गंधर्व की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। ऋषभनाथ के कन्धे पर केश बिखरे हैं। पार्श्वनाथ के सिरे पर सात सर्प के फन हैं। सिंहासन पर बैठे महावीर की प्रतिमा के ऊपरी भाग में छत्र दीख पड़ता है।

दूसरी गुफा में भी पद्मासन पर बैठे ध्यानमुद्रा में विहार की अनेक प्रतिमाएँ खुदी है। इन्द्रसभा नामक गुहा में सिंहासन पर महावीर की बैठी मूर्तियां ध्यानमुद्रा में स्थित हैं। इसमें पार्श्वनाथ प्रतिमा कायोत्सर्ग स्थिति में है। जगन्नाथ सभा नामक गुहा के बरामदा में पार्श्वनाथ तथा महावीर के अतिरिक्त एक प्रस्तर पर चौबीस तीर्थंकर की छोटी-छोटो मूर्तियाँ खुदी हैं। इसके समीप ही निर्मित मन्दिर में पार्श्वनाथ राज्य-सिंहासन पर ध्यानमुद्रा में बैठे है। सभी प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से अतीव सुन्दर हैं।

धातु (कांस्य) प्रतिमाएँ

मगध-कला-शैली में धातु-प्रतिमा को साँचे में ढाल कर तैयार किया जाता था। मध्ययुग की जैन-प्रतिमाएं भी उसी तरह कांस्य धातु को गलाकर तैयार की गई थीं। पटना संग्रहालय में चौसा से शाहाबाद (बिहार) से प्राप्त जैन धातु-मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। ये सभी नग्नावस्था में हैं। ऋषभनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग (खड़ी) स्थिति में कंधे पर बिखरे बाल तथा लम्बी भुजाओं के साथ बनाई गई थी। पार्श्वनाथ की धातु-प्रतिमा कायोत्सर्ग तथा पीछे सर्प फन के साथ मिली है। कुछ अन्य धातुमूर्तियाँ श्रीवत्स के कारण तीर्थंकर प्रतिमा प्रकट होती हैं। चौसा की कांस्य मूर्तियाँ आकार में बड़ी हैं अतः मथुरा तीर्थंकर प्रतिमा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

मानभूमि से भी पार्श्वनाथ तथा महावीर की धातु-प्रतिमा प्राप्त हुई है। इसमें दोनों कायोत्सर्ग अवस्था में हैं। पार्श्वनाथ के सात सर्प के फन तथा महावीर का सिंहासन उल्लेखनीय है।

बंगाल तथा उड़ीसा से जो धातु-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं उनमें मूर्ति कमलासन पर खड़ी हैं। ऋषभनाथ तथा पार्श्वनाथ अपने विशेष चिह्न (क्रमशः वृषभ तथा सर्प का फन) द्वारा पहचाने जाते हैं। मध्ययुग की अनेक प्रतिमाएँ दोहरे कमलासन पर ध्यानमुद्रा में बैठी कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। आदिनाथ, अजितनाथ, नेमिनाथ तथा उनकी शासनदेवी अम्बिका की धातु-मूर्तियाँ भी पटना में संगृहीत हैं।

मध्ययुग के अन्य केन्द्रों में भी जैनमूर्तियाँ (कांस्य धातु की) साँचे के सहारे तैयार की गयीं। बड़ौदा के समीप अकोठा से अनेक धातुमूर्तियाँ प्रकाश में आई हैं जिसमें ऋषभनाथ की कांस्य प्रतिमा अधोवस्त्र के सहित उपलब्ध हुई है। उस भूभाग (पश्चिमी भारत) से अन्य धातु-प्रतिमाएँ नालंदा धातुमूर्तियों से कुछ मिलती-जुलती हैं। यदि इनका विशेष अध्ययन किया जाय तो प्रकट होता है कि प्रतिमा के ढालने की यंत्रकला बिहार से लेकर गुजरात तक सामान्य रूप से कार्यान्वित हो रही थी। राजपुताना तथा गुजरात की कांस्य जैनमूर्तियाँ नालंदा से कुछ भिन्न हैं। पश्चिम भारत में जैन चित्रकला की एक विशेष शैली थी। उसका प्रभाव धातु-प्रतिमाओं पर दिखाई पड़ता है।

यक्ष-यक्षिणी

जैनमत में यह विश्वास है कि इन्द्र ने प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा के लिए यक्ष तथा यक्षिणी को नियुक्त किया है। उन्हें सहायक देव या शासन-देवता मानते हैं और गन्धर्व तथा विद्याधर की श्रेणी में रक्खे गए हैं। भारतीय परम्परा में यक्ष वैभव, धन-सम्पत्ति के अधिष्ठातृ देवता समझे जाते हैं। कुबेर यक्ष का स्वामी है, अतएव वाणिजिकी समूह के लोग (जो जैनमत के अधिक अनुयायी हैं) उनकी पूजा करते हैं। इनको शासन-देवता का नाम दिया गया है। इनकी मूर्तियाँ बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत हैं। ब्राह्मणमत के कुछ देवता तथा देवी के सदृश जैन शासन-देवता माने जाते हैं। गोमेध तथा अम्बिका को कुबेर तथा हारीति के समान कला में प्रदर्शन है।

गोमतेश्वर

जैनकला में इन सुन्दर तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक महान विशालकाय खुदी मूर्ति गोमतेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। मैसूर के श्रावण बेलगोला नामक स्थान पर संसार की यह लम्बी प्रतिमा खड़ी है। वह मूर्ति बेलगोला के इन्द्रगिरि के कठोर पत्थर को काट कर तैयार की गई है। प्रस्तर की खुदाई की यह सफलता वर्णनातीत है। यह विशाल प्रतिमा (राक्षस के शरीर सदृश) जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र गोमतेश्वर की है जिन्होंने राज्य त्याग कर संन्यास ले लिया। उनकी मूर्ति (कायोत्सर्ग मुद्रा में) ५७ फीट लम्बी है तथा तपस्या करते प्रदर्शित है। उन्हें पैरों तले सर्प तथा घुटने तक पिपीलिका के वल्मीक की स्थिति का ध्यान तक नहीं है।

गणेश तथा लक्ष्मी

ब्राह्मण देवता-समूह से गणेश तथा लक्ष्मी को जैनियों ने अपनाया। गणेश मंगलकारक देवता हैं तथा लक्ष्मी धन की देवी मानी जाती हैं। इनके कार्यों को जान कर वणिक् समुदाय में (जो जैनमत को मानते हैं) इसका समादर हुआ और जैन कलाकारों ने भी गणेश और लक्ष्मी की प्रतिमाएँ तैयार कीं। समाज की माँग को पूर्ण करना कलाकारों का उद्देश्य सदा से रहा है अतएव जैनधर्मावलम्बी व्यवसायी लोगों के आवश्यकतानुसार मूर्तिकला में नये विचार समाविष्ट हुए। इनकी प्रस्तर तथा कांस्य प्रतिमाएँ उत्तर भारत में स्थान-स्थान से मिली हैं।

अध्याय १३

बृहत्तर भारत में भारतीय प्रतिमाएँ

भारत के समीपस्थ देशों के इतिहास द्वारा एक नयी दिशा में ऐतिहासिकों का ध्यान गया, जिससे भारतीय इतिहास के अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत हो गया। उन देशों में एशिया के दक्षिण पूर्ण के द्वीप तथा प्रदेश जावा, सुमात्रा, बाली, बर्मा, थाइलैंड, कम्बोडिया, चम्पा और मलाया सम्मिलित हैं। उत्तर तथा पश्चिम की ओर अफगानिस्तान, नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया तथा चीन आदि देश स्थित हैं जिनकी सभ्यता एवं संस्कृति भारतीय संस्कृति से प्रभावित रही। जितनी ही गहराई से उपरियुक्त देशों की ऐतिहासिक विवेचना होने लगी, भारतीय प्रभाव की जानकारी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इन्हीं के इतिहास को बृहत्तर भारत के नाम से पुकारते हैं। बीसवीं शताब्दी में बृहत्तर भारत के इतिहास की ओर विद्वानों का अधिक ध्यान आकर्षित हुआ है जिसकी समीक्षा इन पृष्ठों में की जायगी।

बृहत्तर भारत के निर्माण को भारत का सांस्कृतिक दिग्विजय भी कहा जा सकता है। प्राचीनकाल में महत्वाकांक्षी राजा विशाल सेनाओं के सहारे अनेक दिशाओं में भूपतियों को परास्त कर दिग्विजय की घोषणा करते थे। किन्तु भारतीय संस्कृति ने बिना एक बूंद रक्त बहाए एक विलक्षण दिग्विजय की। भारत का सांस्कृतिक विजय सहसा न हो सका। वह साहसी आवासकों द्वारा नये प्रदेश बसाने में भगीरथ प्रयत्नों का परिणाम था। उसके प्रसार के मार्ग में हिमालय की उच्च चोटियाँ, बीहड़ रेगिस्तान, अथाह एवं अज्ञात समुद्र बाधक न बन सके। उन दुर्लंघ्य बाधाओं का चित्र चीनी यात्रियों ने विस्तारपूर्वक खींचा है। भीषण बाधाओं को पार कर देश-देशान्तर में फैलने वाली भारतीय संस्कृति की तुलना वेगवती नदी से की जा सकती है। इसके विस्तार का पहला कारण संचरणशीलता की भावना थीं। इसमें आर्यों का मूल मंत्र काम कर रहा था—चरैवेति, चरैवति। इसके पीछे धर्मप्रचार तथा लोककल्याण की भावना निहित थी। दूसरा कारण अपार सम्पति का प्रलोभन था जो अन्य देशों से व्यापार द्वारा प्राप्त हो सकता था। अन्य शब्दों में आर्थिक कारण था यानी धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति।

विदेशों में भारतीय उपनिवेश का आरम्भिक इतिहास विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका है। अतिप्राचीन काल में मेसोपोटामिया के हिटाइट तथा मितानी सम्राटों ने भी भारतीय देवता इन्द्र, मित्र एवं वरुण का आवाहन किया था। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में आवासन के वर्णन मिलते हैं जिससे प्रकट होता है कि

भारतीय उपनिवेशों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः सभी वर्ग के लोग इस कार्य में सहायता करते रहे।

जिस मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति फैली, वहाँ जंगली जातियों का साम्राज्य था। भारतीयों ने उन्हें अपना धर्म, भाषा, साहित्य एवं कला प्रदान कर अपनी संस्कृति के रंग में रंगा। अतएव वहाँ भारतीय संस्कृति का गहरा छाप पड़ा जो किसी-न-किसी रूप में आज भी वर्तमान है।

पश्चिम एवं उत्तर तथा हिन्देशिया और हिन्दचीन के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि मध्य एशिया, तिब्बत, चीन आदि देशों में बुद्धमत तथा बौद्ध साहित्य एवं कला ही विकसित हुई। किन्तु दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रदेशों में ब्राह्मणधर्म का पहले तत्पश्चात् बौद्धधर्म का प्रचार तथा प्रसार हुआ था। भारत के प्रदेशों में विकसित संस्कृति ने समीपस्थ देशों को प्रभावित किया था और भिन्न-भिन्न मतों के अनुयायियों ने अपने धर्म, साहित्य तथा कला से मध्य एशिया अथवा सुदूरपूर्व द्वीपों को प्रभावित किया। उपलब्ध मूर्तियाँ उसके जीवित प्रमाण हैं।

काश्मीर से विद्वान् हिमालय पार कर मध्य एशिया में जाकर बस गए तथा बौद्धग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन करने लगे। उनकी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर चीन तक के जिज्ञासु शिष्य उनके पास शिक्षा निमित्त आते। तीसरी सदी से चीनी खोतान के गोतमी विहार में आकर अध्ययन करने लगे। इसी काल से भारतीय संस्कृति अधिक विस्तृत हुई।

ऐतिहासिक युग में भारत से अन्य देशों का सम्बन्ध वहाँ के निवासियों के आक्रमण द्वारा आरम्भ हुआ। ईरान के राजाओं तथा यूनानी शासकों द्वारा भारत पर आक्रमण करते ही दोनों देशों में आवागमन बढ़ गया जिससे दोनों की सांस्कृतिक परम्पराएँ संघर्ष करने लगीं। इतिहास के जानने वालों से यह छिपा नहीं है कि अशोक के स्तम्भों पर परसपोलिस की कला का प्रभाव व्यक्त किया गया है। यूनानी सम्राट् सिकन्दर के चले जाने के पश्चात् दोनों देशों की कलाओं का पारस्परिक सम्बन्ध हो गया। भारत से विज्ञान ईरान तथा अरब होते हुए योरोप पहुँचा। भारतीय यूनानी नरेश उत्तर-पश्चिम भारत पर शासन कर रहे थे अतएव भारतीय तक्षण कला तथा मुद्राकला को उन्होंने प्रभावित किया। यूनानी राजा मिलिन्द बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया और हेलियोडोस ने वैष्णव धर्मावलम्बी होने के कारण गरुड़ध्वज की स्थापना विदिशा में की थी।

उत्तर-पश्चिम भारत पर ईसवी पूर्व सदी में शक लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया जिसमें वीम कदफिस तथा कनिष्क एवं उसके वंशजों ने पर्याप्त कार्य किया। यद्यपि ईसवी सन् के प्रारम्भ से कनिष्क ने गन्धार प्रदेश में राज्य आरम्भ किया था किन्तु उसका राज्य मध्य एशिया से वाराणसी तक विस्तृत था। वीम तो शैव-मतानुयायी हो गया परन्तु कनिष्क ने सभी जातियों के देवों का आदर किया और

अपनी स्वर्णमुद्राओं पर ईरानी, यूनानी बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म के देवताओं को स्थान दिया था। कनिष्क विश्वबन्धुत्व की भावना के लिए तो प्रसिद्ध था ही, अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में सोने के सिक्के को प्रचलित कर ख्याति प्राप्त की। वीम तत्पश्चात् कनिष्क समूह ने ही सोने के सिक्के सर्वप्रथम प्रचलित किये थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि मध्य एशिया से उत्तर प्रदेश तक के भूभाग में उसे सिक्का चलाना अभीष्ट था जो केवल स्वर्णधातु के ही बनाए जा सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सोना ही व्यापार का माध्यम होता है, इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर शकनरेशों ने सोने के सिक्के ढलवाये थे। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया से सोना (धातु) सरलता से उपलब्ध था जिसका प्रयोग शकनरेशों ने किया। इसी व्यापारिक सम्बन्ध तथा शासकीय आवागमन ने भारत तथा मध्य एशिया का सम्बन्ध गहरा कर दिया जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इस रूप से भारतीय संस्कृति तरीम नदी की घाटी में पूर्ण रूप से विकसित हो गई।

कालान्तर में चीन तथा मध्य एशिया का युद्ध हुआ। उसी से चीन वालों को भारत के सम्बन्ध की जानकारी हुई। चीन में भारतीय धर्म का सन्देश पहुँच चुका था। अशोक के समय में ही धर्मदूत विभिन्न देशों में जा चुके थे। परन्तु पितृदेश के सम्बन्ध में चीन निवासियों को अधिक ज्ञान न था। मध्य एशिया में विजय पाकर चीन में उत्सुकता बढ़ गई और वहाँ का बौद्ध यात्री फाहियान (चौथी सदी में) बुद्ध की भूमि का दर्शन करने चल पड़ा। फाहियान मध्य एशिया की नदी तरीम के दक्षिणी मार्ग (जो रेशम मार्ग नाम से प्रसिद्ध था) से होकर भारत आया। यहाँ भारत भ्रमण कर लंका, जावा, सुमात्रा तथा चीनसागर होकर अपने देश को लौटा। उसके पहुँचने पर भारतीय संस्कृति की ओर उनका प्रेम, उत्कण्ठा तथा ज्ञानपिपासा बढ़ती ही गयी। उसी मार्ग से होकर सातवीं सदी में ह्वेनसाँग तथा इत्सिंग भारत आए। इसी शताब्दी में नेपाल तथा तिब्बती-नरेशों के वैवाहिक सम्बन्ध से बुद्धधर्म का फैलाव हिमालय के प्रदेशों में भी हो गया। एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूहों में तीसरी सदी से भारतीयों का आना-जाना आरम्भ हो गया था। गुप्तनरेश समुद्रगुप्त के समतट उवाक (ढाका) के भूभाग पर आक्रमण के पश्चात् भारतीय वर्तमान चटगाँव तथा ताम्रलिप्ति पूर्वी पाकिस्तान बन्दरगाह से होकर भारतीय दक्षिण-पूर्व की ओर गए। भारतीय संस्कृति के विस्तार में ताम्रलिप्ति ने बड़ा कार्य किया। उत्तरी भारत के पुजारी एवं व्यापारी बर्मा, मलाया तथा हिन्द-चीन में छा गए। फाहियान का चौथी सदी में जलपोत द्वारा चीन लौटना व्यापारियों के लिए उत्साहवर्द्धक तथा शुभ सन्देश था। अधिक संख्या में उपनिवेश बनाये गये। दक्षिण भारत के सातवाहन नरेश शातकर्णी (यज्ञश्री शातकर्णी) के शासनकाल से भी जहाज भरे भारतीय एशिया के दक्षिण-पूर्व द्वीपों में जाया करते थे। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर जहाज का चित्र अंकित है जो चोलमण्डल के भाग से प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार उत्तर तथा दक्षिण भारत का प्रभाव चौथी सदी से हिन्द चीन तक फैल गया। राजाश्रय पाकर भारतीय संस्कृति वहाँ फूली तथा फली। उसके अवशेष आज भी अतीत की याद दिलाते हैं।

भौगोलिक मार्ग—जल एवं स्थल

बृहत्तर भारत में प्रवेश के दो प्रधान मार्ग थे—(अ) जल (ब) स्थल। उनमें स्थलमार्ग विशेष महत्त्वपूर्ण है। अधिकतर आवागमन स्थलमार्ग से होता रहा। मध्य एशिया पहुँचने के दो रास्ते थे। पहला खैबर के पर्वतीय मार्ग (दर्रा) तथा पामीर पठार होकर मध्य एशिया के पश्चिमी सीमा तक पहुँच जाता था। दूसरा मार्ग लद्दाख (काश्मीर का प्रदेश) के प्रधान नगर लेह से कराकोरम पर्वतीय मार्ग (दर्रा) पार कर यारकंद खोतान तक जाता था। वहीं मध्य एशिया के दोनों मार्ग मिलते थे। तरीम नदी उस देश के मध्य से बहती है अतः तरीम के उत्तर तथा दक्षिण दो मुख्य मार्ग पूरब की ओर चले जाते हैं। चीन के लोग अधिकतर दक्षिण मार्ग (जो रेशम मार्ग से विख्यात था) से होकर भारत आते रहे। पामीर तथा खैबर का मार्ग उनके लिए सरल था। उत्तर तथा दक्षिण रास्ते पूर्वी भाग में हुयेन-हुआंग के पास मिल जाते हैं जो चीन के निवासियों का प्रधान नगर था। भारत से चीन का दूसरा स्थलमार्ग असम से नेफा होकर दक्षिण-पूर्वी चीन को जाता है। यही कारण था कि दक्षिण चीन में भारत का विशेष प्रभाव रहा।

चीन जाने का जलमार्ग भी भारतवासियों को ज्ञात था। यह कहा जा चुका है कि फाहियान सिंहलद्वीप से इण्डोनेशिया तथा चीनसागर होते चीन गया था। उसके अतरिक्त ताम्रलिप्ति का बंदरगाह (पूर्वी पाकिस्तान) तथा चोल मण्डल के किनारे से जहाज बर्मा, मलाया होते चीनसागर पार कर चीन जाया करते थे। इस तरह चीन जाने के लिए स्थल तथा जलमार्ग का सहारा लिया गया। मध्य एशिया, तिब्बत आदि हिमालय प्रदेशों में पहाड़ी दर्रा होकर प्रवेश करते थे। भारतीय व्यवसायियों ने पहले अपना उपनिवेश स्थापित किए जिसके पश्चात् अन्य वर्ग के लोग भी उन प्रदेशों में पहुँच गये और भारतीय संस्कृति से वहाँ के लोगों को परिचित कराया।

उपरला हिन्द

भारतवर्ष के समीप पश्चिम और उत्तर प्रदेशों को उपरला हिन्द का नाम दिया गया है। ईसा की पहली शतियों में आक्रमणों के बीच भारत मध्य एशिया में सांस्कृतिक विजय कर रहा था। यह विजय व्यापारियों तथा काषाय वेषधारी भिक्षुओं के समूह द्वारा सम्पन्न हुआ। दुःखसंतप्त मानव जातियों को निवृत्ति का मार्ग बतलाया। इस प्रकार अफगानिस्तान, मध्य एशिया, मंगोलिया, चीन तथा जापान तक के प्रदेशों पर धर्मविजय की दुन्दुभी बजने लगी। भारत की सीमा हिन्दुकुश तक विस्तृत थी। हिन्दुकुश के पार बल्ख तक बौधधर्म का प्रसार हो गया था। ७वीं सदी में ह्वेनसांग ने इन प्रदेशों में यात्रा करते समय सर्वत्र बौधधर्म का वर्णन किया है। खोतान के गोतमी नामक विहार में सैकड़ों बौधभिक्षु निवास करते थे और बौध-ग्रन्थों का अध्ययन होता रहा। कहा जाता है कि खोतान का राजा भारतीय राजवंश का था। ईसवी सन् के आरम्भ से गुप्तकाल तक सांस्कृतिक प्रसार का अधिक कार्य सम्पन्न हुआ था। १९८० ई० में भारतीय सेना के एक पदाधिकारी

कर्नल बाबर को मध्य एशिया में तुर्कों ने भोजपत्र पर लिखी एक पुस्तक भेंट की। वह स्वयं न पढ़ सका। परन्तु बंगाल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा उस पोथी को पढ़ने का प्रयत्न किया गया। वह गुप्त लिपि में लिखित आयुर्वेद ग्रन्थ का (नावनीत-कम् नामक) एक हिस्सा था। उस पोथी को बाबर हस्तलिखित ग्रंथ कहकर पुकारते हैं। इस पोथी द्वारा विद्वानों का ध्यान मध्य एशिया की ओर आकर्षित हुआ। अन्य पुरातत्व सामग्रियों के उपलब्ध होने पर तथा अवशेषों के कुछ अंश का पता लगने पर विभिन्न देशों—रूस, जर्मनी, चीन, फ्रांस, जापान तथा भारत के दलों ने वहाँ खुदाई आरम्भ कर दी। बालुका-राशि में दबी मूल्यवान निधियों का पता लगाया तथा महत्त्वपूर्ण पोथियों और प्राचीन अवशेषों की खोज की। इन खोजों से ज्ञात हुआ कि मध्य एशिया विभिन्न जातियों की संस्कृतियों का संगमस्थल था। केन्द्र में स्थित होने के कारण पूर्व से पश्चिम का महापथ तरीम के काँटे से होकर जाता था। पूर्वी भाग में रेगिस्तान है, इस कारण तरीम की सहायक नदियों के किनारे नखलिस्तान (मरु उद्यान) में भारतवासियों ने अपना केन्द्र स्थापित किया। दक्षिणी पथ पर खोतान, मीराननीया, चरचेन आदि प्रसिद्ध केन्द्र थे। तरीम के उत्तर में कूचा, अग्निदेश (कराशहर) तथा तुरफान स्थित थे। इनमें से दक्षिण में खोतान तथा उत्तर में कूचा ने भारतीय संस्कृति के प्रसार कार्य में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

इस स्थान पर कुमारायण के सम्बन्ध में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। वह काश्मीर का बौद्धभिक्षु था। विदेश यात्रा के लिए निकल पड़ा। कूचा के राजा ने उसका स्वागत किया। कूचा के राजा की बहन जीवा से प्रेम हो जाने पर कुमारायण से उस कन्या का विवाह हो गया। उस संयोग से जो पुत्र पैदा हुआ उसका नाम पिता-माता के नामों पर कुमारजीव रक्खा गया। वह अद्‌भुत प्रभावशाली तथा मेधावी बालक था। पुत्र की शिक्षा के लिए माता (जीवा) उसे काश्मीर ले आई। शीघ्र ही कुमारजीव की विद्वत्ता की ख्याति फैल गई। इसने बुद्धधर्म के प्रचार तथा साहित्य के सृजन में बड़ा भाग लिया था।

दोनों भागों की संस्कृतियों में थोड़ा अन्तर था कि उत्तर में ब्राह्मी तथा संस्कृत का तथा तरीम के दक्षिण भाग में खरोष्ठी तथा प्राकृत का प्रचार था। इसका कारण स्पष्ट था कि भारत के गन्धार प्रदेश में तथा कुषाणयुग तक खरोष्ठी तथा प्राकृत का ही बोलबाला था और वहीं से भारतवासी दक्षिण तरीम काँटे में आसानी से आकर बसते गए। इस प्रकार खरोष्ठी तथा प्राकृत भाषा सरलता से फैल गयी। कालान्तर में खोतानी भाषा का भी विकास हुआ जिसका ज्ञान वहाँ से प्राप्त पोथियों से हुआ है। मध्य एशिया में ईरानी, बौद्ध, चीनी तथा यहूदी आदि धाराओं का सम्मिलन हुआ था किन्तु इतनी विभिन्नता में भी भारतीय संस्कृति की प्रधानता रही। भारतीय भाषा, लिपि, साहित्य, कला तथा धार्मिक विचारों का प्रसार मध्य एशिया में हुआ किन्तु कलात्मक नमूनों के विवरण से ही सांस्कृतिक वर्णन सीमित किया जायगा। कूचा से प्राप्त ब्राह्मण देवता-समूह—ब्रह्मा, इन्द्र तथा शिव पार्वती की मूर्तियाँ उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पहली शती से तक्षशिला तथा गन्धार के निवासी मध्य एशिया में फैलने लगे। कुषाणयुग में बौद्धधर्म की महायान शाखा का प्रसार पश्चिमोत्तर भारत में हुआ और वही मत मध्य एशिया में भी फैला। इसका प्रभाव कला पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। भगवान् बुद्ध की प्रतिमाएँ तथा बोधिसत्व की मूर्तियाँ मिलती हैं। गन्धार कला में ये दो प्रधान प्रतिमाएँ मिली हैं जिनका विस्तार मध्य एशिया में हुआ या यों कहा जाय कि गन्धार कला ने मध्य एशिया को प्रभावित किया। सम्भवतः यहीं से मूर्तियाँ भी वहाँ के विहारों में स्थापित की गयीं। भूरे रंग के प्रस्तर तथा बालू-चूना मिश्रित (Stucco) सामग्री का प्रयोग कला में किया गया। मध्य एशिया की खुदाई से अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। विहार की दीवारों पर भी सिरमिट की बनी बोधिसत्व की प्रतिमा दीख पड़ती हैं।

बुद्ध की प्रतिमा

इसमें गन्धार कला का अनुकरण दीख पड़ता है। बुद्ध पद्मासन में बैठे हैं। सिर मुड़े हैं या छोटे-छोटे बाल दिखलाई पड़ते हैं। मुखाकृति मंगोलियन है। उस प्रदेश की प्रतिमा में केश-ग्रन्थि दृष्टिगोचर नहीं होती।

बैठी या खड़ी प्रतिमा में हाथ विभिन्न मुद्रा में बनाए गए हैं। बुद्ध की प्रतिमा एकाकी है अथवा बोधिसत्व के साथ निर्मित है। विहार के भित्तिचित्रों पर बुद्ध उपदेश देते दिखलाए गए हैं।

बोधिसत्व

यह महायान की देन है। गन्धार में बोधिसत्व की प्रतिमा प्रस्तर या सिरमिट की तैयार की जाती थी। उसी का अक्षरशः अनुकरण मध्य एशिया में किया गया। शरीर पर राजकीय वस्त्राभूषण, सिर पर पगड़ी, पैर में चप्पल गन्धार बोधिसत्व की याद दिलाते हैं। इस प्रसंग में यह सुझाव युक्तिसङ्गत होगा कि मध्य एशिया से प्राप्त प्रतिमाएँ गन्धार प्रदेश में ही बनती थीं। वहीं से भारतवासी मूर्तियों को मँगाया करते थे। मध्य एशिया में प्रतिमा निर्माण का कोई साधन भी उपलब्ध न था। अतः गन्धार से प्रतिमा मँगा कर मध्य एशिया के विहार में स्थापित की गयी होगी।

तिब्बत में भारतीय कला का प्रचार तथा प्रतिमा-निर्माण

ईसा की सातवीं सदी तक तिब्बत का सांस्कृतिक इतिहास अन्धकारमय था। वहाँ जंगली जातियाँ निवास करती थीं। अधिकतर आदिम निवासी लुटेरे थे। वे भारत, चीन, तुर्किस्तान आदि प्रदेशों पर आक्रमण किया करते थे। सारांश यह है कि तिब्बत के आदिम निवासी असभ्य तथा युद्धप्रिय थे। वहाँ बौद्धधर्म के प्रसार से इस प्रकार के कार्य समाप्त हो गये और भारतवासियों ने ज्ञान का प्रकाश फैलाया तथा उनके जीवन में आमूल परिवर्तन किया। यह तो सभी को विदित है कि तिब्बत का पर्वतीय भाग अठारह हजार फीट ऊँचा है तथा भारत से वहाँ जाने के दो पर्वतीय मार्ग (दर्रा) हैं। एक उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग में नीति नामक दर्रा है जहाँ से मानसरोवर चले जाते हैं। यह मार्ग आज तक आवागमन का साधन है। तिब्बती व्या-

पारी सामान लेकर बेचने भारतीय सीमा में आते हैं। दूसरा 'गंगटोक' नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वी भारत के विद्वान् सदा इसी मार्ग (दार्जिलिंग के समीप) से होकर लासा जाते हैं। जैसा कहा गया है कि आदिम असभ्य जातियों का तिब्बत घर था जो वोन-पा नामक धर्म का पालन करते थे। उसमें तंत्रमंत्र (ओ मत्री मुये सते दुन) तथा बलिदान की प्रधानता थी। मनुष्य का बलिदान भी उनके यज्ञ का अंग था। सातवीं शती के पश्चात् भारत से तंत्रयान का वहाँ प्रचार हुआ जिसमें तंत्र, मंत्र, वशीकरण आदि का समावेश हो चुका था। मध्ययुग से पूर्व वोन-पा मत तिब्बत में लोकप्रिय था। वोन-पा तथा मंत्रयान का गहरा अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि तिब्बत के प्राचीन मत (वोन-पा) तथा नव-आगन्तुक वज्रयान (मंत्रयान) में कई बातों की साम्यता थी। इसी कारण तिब्बत वालों ने शीघ्र भारतीय धर्म (मंत्रयान या वज्रयान) को अपनाया। यह कहना आवश्यक है कि प्राचीन वोन-पा तथा नए भारतीय मत में आपसी समझौता हो गया था जिससे दोनों मतों के नेताओं का समादर किया गया। भोटिया लोगों ने दोनों को सम्मान दिया।

तिब्बत में बौद्धधर्म (तंत्रयान) के विस्तार की रोचक कहानी है। सातवीं सदी से इसके इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। तिब्बत के शासक गम्पो ने नेपाल की राजकुमारी से विवाह किया जो बौद्धधर्म की अनुयायी थी। उसी समय शाक्यमुनि, मैत्रेय तथा अक्षोभ्य की मूर्तियाँ गम्पो को भेंट में दी गयीं। इस रूप में बुद्धमत का वहाँ श्रीगणेश हुआ। सातवीं सदी में भारतीय विद्वान् वहाँ गए किन्तु धर्म-प्रचार किये बिना लौट आए क्योंकि वहाँ के निवासियों को अक्षर का ज्ञान नहीं था। शासक (गम्पो) तथा उसका पुत्र बौद्धधर्म से प्रेम करने लगे, किन्तु राजमंत्रियों ने इस नए मत का विरोध किया। कई सौ वर्षों तक तिब्बत की जनता बुद्धधर्म के अहिंसा सिद्धान्त पर ध्यान न देकर युद्ध करती रही। चीन पर भी आक्रमण किया था।

तिब्बत के इतिहास से ज्ञात होता है कि भारत पर भी उन्होंने आक्रमण किया था और कुछ भूभाग पर शासन करने लगे। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में तिब्बत वालों का पूर्वी भारत (बंगाल तथा गंगासागर) पर अधिकार मानने में कठिनाई है।

तिब्बत एशिया के शक्तिशाली देशों में गिना जाता था। नालंदा के विद्वान् शान्तिरक्षित का विरोध हुआ। वे तिब्बत से भारत लौट आए। परन्तु भारतीय तंत्रयान के महान नेता पद्मसम्भव ने तिब्बत पर धार्मिक विजय प्राप्त की। उन्होंने अपने तंत्र-मंत्र की गुप्त शक्ति द्वारा तिब्बती जनता को वशीकरण मन्त्र से बाँध लिया। उसी से तिब्बत में बुद्धधर्म की नींव दृढ़ हुई। विहार की भी स्थापना हुई। संक्षेप में यह कहना उचित है कि पद्मसम्भव के मंत्रों के वश में आकर वहाँ की जनता ने बौद्धमत को आदर दिया तथा वोन-पा के स्थान पर बौद्धधर्म राजधर्म हो गया। पद्मसम्भव को अद्वितीय सफलता मिली जिससे उनका स्थान बहुत ऊँचा हो गया।

तिब्बत में धर्म के प्रचार के साथ शास्त्र का भी प्रसार आवश्यक था। इस कार्य को सम्पन्न करने तथा बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए भारतीय पण्डितों

ने श्लाघनीय कार्य किया। कुछ विद्वानों को तिब्बत के राजाओं ने निमंत्रण देकर बुलाया जो धर्मदूत के रूप में वहाँ गए। उसमें नालंदा के विद्वानों का बड़ा हाथ था। बौद्धधर्म के तीसरे यान—वज्रयान का तिब्बत में प्रचार हुआ क्योंकि वज्रयान का प्रधान केन्द्र नालंदा था और वहीं के पण्डितों ने तिब्बत में मंत्र-तंत्र का प्रचार एवं प्रसार किया।

जहाँ तक कला का प्रश्न है, भारतीय भिक्षु तंत्रयान के साथ देवता-समूह को भी अपने साथ ले गए। बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों की उतनी पूजा न हुई जिस रूप में हम ध्यानीबुद्ध तथा तंत्रयानी देवी-देवता का समादर देखते हैं। जातककथाओं को भी तिब्बती कला में स्थान दिया गया था। तिब्बत की कला में एक विशेष बात यह थी कि वहाँ प्रसिद्ध भिक्षुओं तथा लामाओं के भी चित्र तैयार होने लगे जिस कारण वहाँ के देवता-समूह को अधिकता हो गई। सारांश यह है कि तिब्बत की कला बौद्धप्रधान है। मूर्तियों की बनावट में थोड़ा-बहुत मंगोलियन चेहरे दीख पड़ते हैं परन्तु सर्वाङ्गीण रूप से बौद्ध हैं एवं भारतीय भावना से ओतप्रोत हैं। तिब्बत में धातु (पीतल) प्रतिमाएँ अधिक संख्या में मिली हैं जिनमें तंत्रयान की ध्यानीबुद्ध, बोधिसत्व (लोकेश्वर) तथा तारा आदि देवियों की मूर्तियाँ प्रधान हैं। तिब्बत कला की चरम सीमा वहाँ के चित्रपट के चित्रण से ज्ञात हो जाती है। वहाँ के चित्रकार (विशेषकर लामा) कनवास तथा रेशमी वस्त्र का अधिक प्रयोग करते रहे। उस स्थान के झण्डों पर बोधिसत्व से घिरा बुद्ध, लामा, प्राकृतिक दृश्य, स्वर्ग, नरक आदि का चित्रण मिला है। अतएव प्रत्येक दिशा में कलाकारों ने भारतीय शैली तथा सिद्धान्त को मान्यता दी है।

चीन में भारतीय-प्रतिमाएं

चीन जाने के लिए भारत से तीन मार्ग थे। दो स्थल तथा तीसरा जलमार्ग। विदेशी तथा भारतीय चीन में जाकर बस गए और अपनी योग्यतानुसार कार्य करने लगे। कुछ व्यवसायी वर्ग तथा थोड़े धार्मिक भावना से ओतप्रोत प्रचारकों ने भारतीय संस्कृति को वहाँ प्रसारित किया। इन लोगों का प्रवाह मध्य एशिया होकर बढ़ता गया। पहली शती में चीन के सेनापति ने मध्य एशिया पर धावा किया, जहाँ वहाँ अधिकतर बौद्धमत के मानने वाले थे। सेनानायकों ने शासन के निमित्त मध्य एशिया में निवास स्थिर किया। ऐसी परिस्थिति में चीन वालों का सम्पर्क मध्य एशिया से हो गया। बुद्ध-मतानुयायियों से उनका सम्बन्ध बढ़ता गया। चीनी इतिहास से पता चलता है कि कूचा पर आक्रमण के पश्चात् बौद्धभिक्षु कारागार में डाल दिये गए। कुमारजीव का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार चीन वालों को बौद्धमत की जानकारी हो गई। उस विषय में अधिक जानने की उत्कण्ठा हुई और चीन के यात्री फाहियान तत्पश्चात् ह्वेनसांग ने भारत में मध्य एशिया (स्थलमार्ग) होकर प्रवेश किया। दक्षिण तरीम घाटी का 'रेशम-मार्ग' यात्रियों के लिए अत्यन्त सुगम था। मध्य एशिया

तथा चीन के मध्य आवागमन से बौद्धधर्म उत्तरी तथा पश्चिमी चीन में फैल गया। स्थल का दूसरा मार्ग असम के उत्तर-पूर्वी पर्वतीय भाग से होकर चीन जाता था जिसे नेफा के नाम से सभी जानते है। इस मार्ग का विशेष उपयोग पूर्वमध्यकाल में हुआ जब इस्लाम का प्रकोप पूर्वी भारत पर पड़ा। भारतीय सुरक्षित स्थान समझकर उस पर्वतीय हिस्से में रहने लगे तथा कुछ चीन तक पहुँच गए।

भारत में गुप्तवंश का उदय हो गया था। सम्राट् समुद्रगुप्त दिग्विजय के लिए निकला। पूर्वी भारत के समतट, उवाक को जीता। उस समतट का नाम प्रयाग स्तम्भ-लेख में मिलता है जिसे ताम्रलिप्ति (तामलुक) का भूभाग मानते हैं। इस बन्दरगाह से उत्तर भारत तक की भारतीय जनता दक्षिण-पूर्व द्वीपसमूह में जाने लगी। दक्षिणी चीनसागर को पार कर चीन तट पर भारतीय जहाजें पहुँच गयीं। इस प्रकार 'जलमार्ग' चीन के दक्षिण भूभाग में भारतीय संस्कृति को ले जाने में सहायक हुआ। चीनी यात्री फाहियान भारत भ्रमण कर सिंहल होकर जावा पार कर चीनसागर द्वारा स्वदेश लौटा था। अतएव संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि पहली से चौथी शती तक चीन के विभिन्न प्रदेशों में बौद्धधर्म का प्रसार हो गया और भारतीय धर्मदूत कार्य में लग गए। हानवंश के शासन-काल में बौद्धमत का पूर्णरूप से प्रसार हुआ तथा चीन में पूर्वप्रचलित 'टोय' मत की अवनति आरम्भ हो गई थी। उस मत के बलिदान को लेकर बुद्धमत से विरोध हुआ परन्तु चीन में क्रमशः दोनों (टोयिस्ट तथा बौद्ध) का मेल हो गया और जनसाधारण ने बुद्धमत का स्वागत किया। कहा जाता है कि फाहियान भारत से लौटते समय बौद्ध-पोथियों तथा प्रतिमाओं को चीन ले गया था। किन्तु धार्मिक प्रवाह के कारण मूर्तिविद्या और विशेषकर भारतीय शैली का विस्तार मफलतापूर्वक उस देश में हुआ। यही कारण था कि प्रतिमाओं का पूजन तथा आदर चीनी भलीभाँति करने लगे।

इस प्रसंग में भारतीय सांस्कृतिक दूतों के विषय मे कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। मध्य एशिया से पहली शती में तथा भारत (विशेषकर नालंदा) से मध्ययुग में विद्वान् चीन जाते रहे। उनमें कुमारजीव, काश्यप, मातंग, धर्मरक्ष, गुणधर्म, परमार्थ तथा धर्मदेव का नाम उल्लेखनीय है। इन पण्डितों ने बौद्धग्रन्थों का अनुवाद कर चीनी जनता में धर्मग्रन्थों का प्रचार किया। त्रिपिटक के अनुवाद से चीन के लोग बौद्धधर्म एवं दर्शन से पूर्ण परिचित हो गए। हानवंश के शासक मिंगती ने कुछ लोगों को भारत भेजकर बौद्धभिक्षुओं को निमंत्रित किया जो यहाँ से बुद्धप्रतिमा तथा अनेक पोथियाँ साथ में चीन ले गए।

ईसा पूर्व सदियों में चीन में भौतिक पदार्थ, मनुष्यों के प्रयोग के विभिन्न अस्त्र-शस्त्र तैयार किए जाते थे। काँसे, लकड़ी तथा जेड़ का प्रयोग कलात्मक नमूनों के लिए किया जाता था। परन्तु मध्य एशिया से सम्पर्क स्थापित होने तथा बुद्धधर्म की जान-कारी हो जाने पर चीन की कला में आमूल परिवर्तन हुआ। बौद्ध-प्रतिमाओं ने कला-

कारों का ध्यान आकर्षित किया। घर-घर में पूजागृह बन गए। चीन के प्रवीण कलाकार पूर्ण दक्षता के साथ बौद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। अतएव चीन की कला में बुद्धधर्म ने जीवन डाल दिया। चूँकि चीन को भारत की जानकारी मध्य एशिया द्वारा हुई, इस कारण गन्धार कला का सर्वप्रथम प्रभाव दिखलाई पड़ता है। गन्धार कला के नमूने मध्य एशिया से उपलब्ध हुए हैं और उसी प्रकार भारतीय कला चीन तक पहुँची। बुद्ध तथा बोधिसत्व तत्पश्चात् ध्यानीबुद्ध की मूर्तियाँ चीन में तैयार की गयीं। अमिताभ, वैरोचन तथा बोधिसत्व मंजुश्री की प्रतिमाएँ मिली हैं। उनके चेहरे भारतीय तथा मंगोलियन-मिश्रित ढंग के हैं। प्रथम यूनानी ढंग के वस्त्र दीख पड़ते हैं किन्तु कालान्तर में मथुरा तथा गुप्तशैली के वस्त्राभूषण चीन में स्वीकृत हुए। वहाँ के कलाकारों ने बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन तथा जातक को प्रदर्शित किया। हारीति तथा लोकेश्वर की भी मूर्तियाँ चीन में मिली हैं। इस तरह चीन में एक नयी कलाशैली का जन्म हुआ जिसे चीनी-हिन्द (Sino-Indian) कला कह सकते हैं। चीनी यात्रियों के भारत से लौटने के बाद वहाँ की देशी कला में धार्मिकता आ गई और वह कार्य आगे बढ़ता ही गया। भारतीयता की छाप पड़ती गई। चीनी कला में भारतीय तथा चीन का सम्मिश्रण सफल हो सका। चीन में बौद्धधर्म पूर्णतया स्थिर हो जाने पर कुशल कलाकारों ने अपना कार्य उसी दक्षतापूर्वक सम्पन्न किया। पर्वतीय भागों में ६० फीट लंबी बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की गई। सारनाथ की शैली तथा नालंदा शैली की भी बुद्ध-मूर्तियाँ मिली हैं। चीन के पश्चिमी भाग में गन्धार तथा ईरानी शैलियों का सम्मिश्रण दिखलाई पड़ता है। दक्षिण तथा पूर्वी भाग में गुप्तशैली का अनुकरण होता रहा; लेकिन वस्त्र चीनी ढंग के हैं। ध्यानीबुद्ध अमिताभ चीनी लिबास में दीख पड़ते हैं। बोधिसत्व में अवलोकितेश्वर की मूर्ति भारतीय वस्त्र पहने हैं। मंजुश्री तलवार तथा पुस्तक (मंजुषा) के साथ खुदे हैं। सातवीं सदी से पूर्व की मूर्तियों में भारतीय वस्त्र का अभाव नहीं है, परन्तु शनैः शनैः चीनी परम्परा के सम्मिश्रण से भारतीय वस्त्राभूषण लोप हो गए।

नेपाल

भारत की उत्तरी सीमा स्थित नेपाल देश प्राचीन युग में भारतीय साम्राज्य का एक भाग रहा। इस कारण दोनों का पारस्परिक सम्पर्क स्वाभाविक था। अशोक ने उसकी सीमा में लुम्बिनी नामक स्थान पर स्तम्भ खड़ा किया तथा उस पर धर्मलेख भी खुदवाया। वह आज भी उसकी याद दिलाता है। नेपाल के अभिलेख तथा भारतीय लेखों का अनुशीलन दोनों देशों के लगातार सम्बन्ध की चर्चा करते हैं। चौथी सदी में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने सीमा पर स्थित नेपाल पर विजय प्राप्त की थी। प्रयाग स्तम्भ-लेख में नेपाल को 'प्रत्यन्तनृपति' कहा है। कालान्तर में मल्ल तथा लिच्छवि लोगों का भी उस पर्वतीय भाग पर अधिकार बना रहा। मौर्ययुग में बौद्धमत का प्रचार वहाँ हुआ। चौथी सदी के पश्चात् ब्राह्मणधर्म के अनुयायियों ने वैष्णव तथा शैव-मतों का प्रसार नेपाल में किया। किन्तु मध्ययुग में बिहार प्रदेश के महाविहारों के

(नालंदा एवं विक्रमशिला) नष्ट हो जाने पर भारतीय पंडितों ने नेपाल में शरण ली। इस कारण तंत्रमत तथा शाक्तमत का स्वागत नेपाल में हुआ था।

यह तो सर्वविदित है कि धर्म-प्रचार के साथ कला का भी प्रवेश होने लगता है। नेपाल इससे अछूता न रहा। तंत्र तथा शाक्तमत का सम्मेलन वहाँ इस रूप में हुआ कि दोनों ने अस्तित्व खो दिया। दोनों में ऐसा विभेद न रहा कि कोई बौद्ध से शाक्त मतावलम्बी को पृथक् कर सके।

नेपाल की आदिम जाति नेवार लोग भी कलाप्रेमी थे और लकड़ी की खुदाई में दक्ष थे। वे तांत्रिक बुद्धधर्म के अनुयायी थे और तत्सम्बन्धी मूर्ति के पुजारी थे। यही कारण है कि काष्ठ की प्रधानता से उस देश के मुख्य नगर को काठमाण्डू कहते हैं। मध्ययुग में उसमें परिवर्तन हुआ और काष्ठ के स्थान पर ईंट-प्रस्तर का प्रयोग होने लगा। पाटन तथा महाबोधि के मन्दिरों में ईंट का अधिक प्रयोग दीख पड़ता है। पाटन का कृष्ण मन्दिर तथा महाबोधि-ब्राह्मण एवं बौद्धधर्म के प्रचार के द्योतक हैं। भटगाँव से प्राप्त प्रस्तर की मूर्तियाँ भारतीय कला के अनुकरण का स्मरण दिलाती हैं।

नेपाल से प्राप्त मूर्तियों का अध्ययन बतलाता है कि तांत्रिक प्रतिमाओं का वहाँ स्वागत किया गया। ध्यानीबुद्ध, बोधिसत्व लोकेश्वर एवं तारा की बहुलता है। शैव मन्दिरों में भी पीतल की बौद्धमूर्तियाँ दीख पड़ती हैं। शैव तथा शाक्त प्रतिमाओं को नेपाल में आदिबुद्ध के सिद्धान्त से समता करते हैं। शैव बौद्धमन्दिरों में तथा बौद्ध ब्राह्मण देवालयों में दर्शन करने जाते हैं। नेपाल से प्राप्त एक प्रसिद्ध लोकेश्वर की धातु-प्रतिमा—हरिहरिहरिवाहनोलोकेश्वर अद्वितीय मानी जाती है। भारत में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। इसमें गरुड़वाही विष्णु के कन्धों पर बौद्धदेवता लोकेश्वर स्थित हैं।

लिच्छवि ब्राह्मण देवता शिव तथा विष्णु की पूजा करते रहे। बिहार प्रदेश के कलाकारों ने नेपाल कला को प्रभावित किया। अतएव पालशैली का नेपाल में प्रसार हुआ।

ब्राह्मण देवताओं में चांगुनारायण विष्णु, विष्णु त्रिविक्रम वामनावतार, उमा-महेश्वर तथा सूर्य की प्रतिमाएँ नेपाल से उपलब्ध हुई हैं जो काठमांडू की उपत्यका में हिन्दू देवी देवताओं की पूजा का समर्थन करती हैं। विशेषकर नेपाल के कलाकार धातु (पीतल तथा ताँबा) मूर्तियों के ढालने में दक्ष थे। भारत के संग्रहालयों में नेपाल की धातु-प्रतिमा ही सुरक्षित हैं। इनकी बनावट भारतीय शैली से सर्वथा मिलती-जुलती हैं। पालयुगी प्रस्तर तथा धातु-प्रतिमाएँ नेपाल की विशेषता की द्योतक हैं। सम्भवतः नालंदा की तरह नेपाल में भी धातु-प्रतिमाएँ साँचे में ढाल कर बनायी जाती थीं।

परलाहिन्द

भारत ने अपनी संस्कृति का सदा शांतिमय वातावरण में विचार किया था। पश्चिमी तथा उत्तरी समीपवर्ती देशों के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्द-चीन,

हिन्देशिया तथा अन्य द्वीपसमूहों तक सांस्कृतिक प्रभाव फैल गया। सुदूर का प्राचीन इतिहास वास्तव में इसी भारतीय संस्कृति का एक अंश है। वहाँ के नरेशों के नाम भारतीय थे। इनके पूर्वज भारत से आये थे तथा छोटे छोटे राज्यों की स्थापना की थी। उत्तरी तथा दक्षिण भारत से भारतवासियों का आवागमन मध्ययुग तक समाप्त न हो पाया। दक्षिण के चोल तथा जावा के शैलेन्द्र राजाओं के बीच संघर्ष हुआ, परन्तु श्रीविजय के शासक अपने राष्ट्रीय गर्व का बलिदान नहीं कर सके। इतना होते हुए भी भारतीय संस्कृति को ठेस न लगी और हिन्देशिया की भारतीय संस्कृति जीवित रही। भारतीय शासक तथा शैलेन्द्र राजाओं में सौहार्द्र भी बना रहा। इसके प्रमाण में पालनरेश देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र लेख का उद्धरण दिया जाता है—

सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्रीबालपुत्रदेवेन दूतक मुखेन व्याम्बिज्ञापिताः यथा मया नालंदायाम् विहारः कारितः।

बालपुत्रदेव के अनुरोध पर देवपाल ने उसके द्वारा निर्मित नालंदा स्थित विहार को पाँच ग्राम दान में दिया था। इस विशाल क्षेत्र में बर्मा, थाइलैंड, हिन्दचीन, मलाया तथा जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो आदि द्वीप भी सम्मिलित हैं, जहाँ भारतीय सस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। भारतीय व्यापारी के बड़े-बड़े समूह के सार्थवाह नाविक पश्चिमी तट, सोपारा, भ्रौंच (भरुकच्छ) तथा पूर्वी तट के बंदरगाह ताम्रलिप्ति (तामलुक) से विदेशों के लिए प्रस्थान करते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य, पालि, प्राकृत, संस्कृत तथा दक्षिण भाषाओं में सुदूर पूर्व जाने का वर्णन तथा विशेषकर 'सुवर्णभूमि' का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि भारतीयों को इन स्थानों का पूरा ज्ञान था। मार्ग की कठिनाइयों के होते हुए भी भारतीय व्यापारियों का साहस भंग न हो पाया। भारतवासियों ने सर्व-प्रथम ब्राह्मणमत (हिन्दूधर्म) का प्रचार किया। उन प्रदेशों में बौद्धधर्म कालान्तर में पहुँचा। पुरातत्व सामग्रियों के अध्ययन से प्रकट होता है कि ब्राह्मण-प्रतिमाएँ—विष्णु आदि बुद्धमूर्तियों से पहले तैयार की गई थीं किन्तु दोनों प्रकार की कलाओं की तिथियों में अधिक अन्तर ज्ञात नहीं होता। फाहियान के वर्णन से पता चलता है कि जावा, सुमात्रा में ब्राह्मणधर्म का प्रचार था जो वहाँ फूलता-फलता रहा। बौद्धमत के कम अनुयायी थे। अतएव यह कहना उचित होगा कि द्वीपसमूहों में बौद्धधर्म का प्रवेश कालान्तर में हुआ। इत्सिंग के समय बौद्धधर्म द्वीपों में दूर-दूर तक फैल चुका था। मूलसर्वास्तिवाद तथा अन्य मतों को लोग मानते थे। श्रीविजय महायान मत का प्रधान केन्द्र था।

मलाया की खुदाई तथा अवशेष से भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मणमत का प्रचार वहाँ पाँचवीं सदी तक हो गया था। यही कारण है कि वैष्णव तथा शैव मूर्तियाँ मलाया से प्राप्त हुई हैं। शिव (नन्दी के साथ), गणेश तथा दुर्गा की मूर्तियों के साथ नटराज की प्रतिमा मिली है। शेषशायी विष्णु तथा गरुड़वाही विष्णु की प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं।

जावा नामक द्वीप में कलिङ्ग तथा गुजरात से आकर भारतीय बसते गए तथा पहली शती में जावा भारतीय उपनिवेश बन चुका था। बालि द्वीप भी जावा का अङ्ग था। तीसरी सदी में चीनियों ने जावा में प्रवेश किया। चीनी यात्री फाहियान भी भारत भ्रमण कर सिंहलद्वीप होते जावा पहुँचा। उसने उस द्वीप का वर्णन किया है। चौथी सदी के शासक पूर्णवर्मन के अभिलेखों में विष्णु के पदचिह्न तथा त्रिविक्रम विष्णु का विवरण मिलता है। इससे प्रकट होता है कि सुमात्रा, जावा तथा बालि द्वीपों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश पूर्णरूपेण हो गया था। वहाँ का इतिहास बतलाता है कि सातवीं सदी से पूर्व (श्रीविजय राज्य से पहले) हिन्दू उपनिवेश वर्तमान थे।

पाँचवीं सदी से सुमात्रा में वैष्णव मूर्तियों के अतिरिक्त बौद्ध-प्रतिमाएँ (बुद्ध एवं बोधिसत्व) प्रस्तर तथा धातु की मिली हैं। बोर्नियो के राजा मूलवर्मन के लेखों में दान तथा वैदिक यज्ञों का वर्णन मिलता है। वह संस्कृत में लिखा गया था। अतएव भारतीयता की छाप स्पष्ट रूप में प्रकट होती है।

ब्राह्मणमूर्तियों में शिव, विष्णु, गणेश, कार्तिकेय के नाम मिलते हैं। बुद्ध की कांस्य प्रतिमा भी (आसन अवस्था में) उपलब्ध हुई है जो प्रस्तर-मूर्ति से मिलती है। इस प्रकार पहली सदी के बाद हिन्देशिया के द्वीपसमूहों में सर्वप्रथम ब्राह्मणमत तत्पश्चात् बौद्धधर्म का प्रचार तथा प्रसार हुआ, यह चर्चा सर्वथा प्रामाणिक है।

चम्पा तथा कम्बोज में द्वितीय शती से ही भारतीय उपनिवेश मिलते हैं। आरम्भ में ब्राह्मणधर्म का प्रचार हुआ जिसके कारण शैवमत राजधर्म का स्थान ग्रहण कर चुका था। चम्पा का धार्मिक जीवन सहिष्णुता से भरा था। दो सौ वर्षों के बाद बुद्धधर्म का भी प्रवेश वहाँ हो गया। कम्बोज के लेखों में शिव को प्रधान देव कहा गया है। शिव के रौद्र स्वरूप का भी उल्लेख है। इसके साथ विष्णु तथा बुद्ध की पूजा का विवरण लेखों में पाया जाता है। चम्पा के राजा सत्यवर्मन (आठवीं सदी) के समय में शिव, गणेश तथा दुर्गा की प्रतिमाएँ स्थापित की गईं और मन्दिरों के लिए भूमि दान में दी गई। लेखों में शिव के जटा, त्रिनेत्र तथा भस्म लिपटे शरीर का वर्णन आया है। इन्द्रवर्मन के सम्बन्ध में ऐसी ही बातें कही जाती हैं। इसी के शासनकाल में एक विहार बना जहाँ महायान भिक्षु रहा करते थे। लेखों में अधिकतर शैव देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। उमा, गौरी, भगवती, महाभगवती, मातृलिङ्गेश्वरी आदि नाम उल्लिखित हैं। एक लेख में गणेश के विनायक नाम का उल्लेख भी है। शैवमत का प्रचुर प्रचार होने पर भी चम्पा के धार्मिक जीवन में वैष्णव प्रभाव रोका न जा सका। लेखों में 'भगवतः पुरुषोत्तमस्यविष्णोरनादेः' ऐसे वाक्य उल्लिखित हैं। विष्णु के चतुर्भुजी रूप तथा क्षीरसागर में शेष-शैय्या पर विश्राम का विवरण इन्द्रवर्मन के लेख में मिलता है। पद्मा तथा श्री के नाम से भी लक्ष्मी का उल्लेख चम्पा के लेख में हुआ है। ब्रह्मा को चतुरानन तथा 'स्वयमुत्पन्न' कहा गया है। चम्पा का इतिहास

बतलाता है कि शैवमत का प्रचार पहले हुआ तत्पश्चात् वैष्णवधर्म वहाँ फैला। त्रिमूर्ति के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण-देवताओं के नाम भी मिलते हैं। यह व्यक्त किया गया है कि ब्राह्मणधर्म के देवताओं की उपासना के अतिरिक्त चम्पा में बौद्धधर्म ने भी अपना स्थान बना लिया था।

सुगत तथा शाक्यमुनि का उल्लेख तो है ही, अमिताभ, वैरोचन, लोकनाथ, लोकेश्वर आदि शब्द भी बुद्ध के लिए प्रयुक्त होते रहे। अतएव लेखों के आधार पर वज्रयान के पंचध्यानी बुद्ध की आराधना का परिज्ञान हो जाता है।

चम्पा के धार्मिक जीवन में उदारता तथा सद्भाव की भावना ने समस्त धार्मिक प्रवृत्तियों को यथाक्रम स्थान दिया। वहां के शासकों ने विभिन्न धर्मों के लिए दान देकर मन्दिरों की स्थापना की। चम्पा में एक स्थान पर कई मन्दिर बनाए गए जिनका प्रमाण उन मन्दिरों पर अंकित लेखों से मिलता है। माइ-सोन के दक्षिण-पूर्व का मन्दिर चम्पा के इतिहास में अमरावती के नाम से प्रसिद्ध है। स्थापत्य कला में मन्दिरों के अतिरिक्त गुफा तथा दुर्ग का निर्माण उस देश की कारीगरी के नमूने हैं। मन्दिर तथा मूर्ति-निर्माण के विषय सर्वथा भारतीय प्रतीत होते हैं।

चम्पा की शैली (चमकला) के कुछ नमूने उपस्थित किए जाते हैं जिससे वहाँ की कलाकृतियों का अनुमान लगाया जा सकता है।

शिव-प्रतिमा—इस देवता की खड़ी प्रतिमा माइसोन के पास मिली है। एक हाथ में त्रिशूल है। यह नृत्य करती दिखलाई पड़ती है। पैरों में नुपूर है, बाँह में कुण्डल तथा वक्षस्थल पर माला है। नुपूर यहाँ की नृत्य प्रतिमा की विशेषता है। कानों में कुण्डल तथा शीश पर मुकुट है। जटा का अभाव है जो भारतीय शिवमूर्ति में दीख पड़ता है। शिव ध्यानावस्था में हैं। वे पद्मासन पर बैठे हैं तथा उनका तीसरा नेत्र दिखलाई पड़ता है।

कला की दृष्टि से यह अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है।

विष्णु-प्रतिमा

विष्णु शेषनाग की शैय्या पर शयन करते दिखलाई पड़ते हैं। विष्णु की नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा बैठे हैं। विष्णु का वाहन गरुड़ नाग पकड़े दीख पड़ते हैं। विष्णु का मुकुट साधारण ढंग का है। भारतीय शैली का किरीट-मुकुट तथा वनमाल चम्पा की विष्णु-प्रतिमाओं में अनिर्मित है।

बुद्ध-प्रतिमा

बौद्धमूर्तियों में कोई विशेषता नहीं है। संघाटी, उष्णीष तथा घुँघराले बाल भारतीय शैली के हैं। ध्यानावस्था में भी बुद्धमूर्ति का पैर नीचे लटका कर दिखलाया गया है। ध्यानमुद्रा में बुद्ध को पद्मासन में आसीन दिखलाने की परिपाटी भारतीय कलाकार मानते हैं और सदा आसन अवस्था में ही ध्यानमुद्रा दिखलाते रहे हैं।

अन्य आकृतियाँ

चमकला में धार्मिक देवताओं के अतिरिक्त नृत्य दृश्य भी अच्छी तरह दिखलाए गए हैं। नर्तकी अपने नाच में तल्लीन है। उसे तन की सुध-बुध नहीं है। शिल्पकला में गन्धर्व, नाग, पशु-पक्षियों की भी आकृतियाँ प्रदर्शित मिलती हैं। पशु-पक्षियों को स्थूल शरीर एवं हिंसात्मक भावना में प्रदर्शित किया गया है। मकर की मुखाकृति का प्रयोग चम्पा में भी मिलता है। इस देश की शिल्पकला में भारतीयता की गहरी छाप है। भारतीय विषय को कलाकारों ने मूलरूप में प्रदर्शित करने का सफल प्रयत्न किया है। गुप्तकालीन मूर्तियों का प्रभाव चम्पा की कला पर स्पष्ट प्रकट होता है। अमरावती तथा पल्लव प्रभाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। आज भी चमकला के नमूने भारतीय छाप की कहानी सुनाते हैं।

कम्बुज

कम्बुज साम्राज्य में इस देश के अतिरिक्त थाइलैंड, लाओस तथा कोचीन-चीन का विशाल क्षेत्र सम्मिलित थे। बर्मा के स्रोतों से पता चलता है कि पूर्वीभारत, ब्रह्मदेश, हिन्दचीन के बीच यातायात का स्थल-मार्ग मध्यकाल से खुल गया था। किन्तु भारतीय समुद्री-मार्ग द्वारा ईसा की पहली शती से ही कम्बुज तथा हिन्दचीन में जाते रहे।

भारतीयों का आगमन स्थल तथा जलमार्ग दोनों से हुआ तथा उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। पेरीप्लस के कथनानुसार भी ईसा की पहली शताब्दी में भारतीय बन्दरगाहों से जहाज मलाया होते चीन जाया करते थे। चीनी इतिहास के आधार पर पता चलता है कि तीसरी सदी तक भारत तथा कम्बुज में सामुद्रिक सम्पर्क था तथा भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी। उस देश में मथुरा, अयोध्या नामक नगर बसाये गए थे जिससे पता चलता है कि उत्तर भारत से कम्बुज में औपनिवेश आये थे। कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण का नाम बार-बार आता है जिसने नागकन्या से विवाह कर अपना वंश चलाया। यह घटना ईसा की पहली शताब्दी की मानी जाती है। कौण्डिन्य भारतीय ब्राह्मण था, ऐसा उल्लेख उस देश के इतिहास में मिलता है। ७वीं सदी के पश्चात् फूनान नामक भारतीय राज्य का इतिहास अन्धकारमय है, किन्तु यहीं हिन्दूधर्म तथा भारतीय संस्कृति की छाप सर्वप्रथम पड़ी। कम्बुज के लेखों के आधार पर यह कहना यथार्थ है कि फूनान के अतिरिक्त उत्तर-पूर्वी भाग में भारतवासियों ने एक और उपनिवेश स्थापित किया था जहाँ भारतीयों का प्रवेश स्थलमार्ग से हुआ था।

कम्बुज देश के संस्कृत अभिलेख भारतीय संस्कृति के विस्तार का परिज्ञान कराते हैं। वहाँ के शासकों द्वारा धार्मिक दान तथा विहारों के निर्माण का विवरण मिलता है। शासक शैव अथवा वैष्णवधर्म के अनुयायी थे। पुरातत्व की खुदाई तथा भग्नावशेष से ज्ञात होता है कि शैव साधुओं तथा बौद्धभिक्षुओं के लिए आश्रम (मठ) निर्मित हुए। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का ज्ञान विशेषरूप से प्रसारित किया

गया। कला-क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। लेखों में शिव, गंगा, विष्णु, ब्रह्मा, उमा आदि की स्तुति की गई है जिससे प्रकट होता है कि ब्राह्मण देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन हो गया था। कम्बुज देश में ब्राह्मण देवसमूह की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं जिससे अभिलेखों का विवरण प्रमाणित हो जाता है।

कम्बुज-कला के विकास में भारतीय स्थापत्य तथा शिल्प-कला का बड़ा हाथ रहा है। कलाकारों ने कम्बुज के प्राचीन लकड़ियों के प्रतीकों से प्रेरणा ली और उसी आधार पर भारतीय देवताओं के निमित्त मन्दिर बने। पौराणिक विचार से शिव का स्थान कैलास पर्वत था, इसलिए ऊँचे स्थानों पर स्थित या पर्वत-मंदिरों का निर्माण इस युग की विशेषता है। भारत के गुप्त-मंदिरों के सदृश कम्बुज मन्दिर की बाहरी दीवार तथा गर्भगृह के बीच एक वीथी (गैलरी) है। अंकोरवाट के अद्वितीय तथा विस्मृत करने वाले मन्दिर में आधे मील में विस्तृत एक लम्बी वीथी है। उस स्थान के मन्दिर की दीवार पर विष्णु तथा यम के चित्र खुदे हैं।

कम्बुज की शिल्पकला धार्मिक भावना के साथ विकसित हुई। वहाँ के शिल्प-कला के प्रतीक पूर्ण भारतीय थे। मूर्तियाँ गुप्त शैली की हैं जिनके ओठों पर मुस्कान है, वस्त्रों में वही चुनट है तथा पारदर्शकता विद्यमान है। मन्दिरों को अलंकृत करने वाली मूर्तियों के निमित्त रामायण, महाभारत तथा पुराणों का आश्रय लिया गया है।

ब्राह्मण-देवताओं में विष्णु, शिव, गणेश, लक्ष्मी, उमा, महेश्वर आदि की मूर्तियाँ ख्मेर कला में बनाई गयीं। यहाँ की मूर्तियों में विष्णु को विशेष स्थान प्रदान किया गया। शेषशायी विष्णु-प्रतिमा उपलब्ध हुई है। भगवान् चारों आयुध—शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हैं। कलाकारों ने विष्णु के कूर्मावतार, नरसिंह तथा वराह अवतार की प्रतिमाएं तैयार कीं तथा राम एवं कृष्ण से सम्बन्धित लीलायें भी चित्रित कीं। रामायण में वर्णित सीता का हरण, बालि-सुग्रीव-युद्ध, अशोकवाटिका में हनुमान का प्रवेश एवं राम-रावणयुद्ध सुन्दरता से खचित हैं।

शिव की बैठी प्रस्तर तथा कांस्य प्रतिमाएं कई स्थान से मिली हैं। तीसरा नेत्र दीख पड़ता है। घुटने पर पार्वती बैठी हैं। रावण द्वारा कैलास उठाने की कथा भी चित्रित है। अन्य मूर्तियों में हरिहर (विष्णु तथा शिव-मिश्रित) की प्रतिमा कई स्थानों से मिली हैं। गणेश तथा कार्तिकेय को भी स्थान दिया गया है।

कम्बुज में बौद्धधर्म के प्रचार होने पर अनेक प्रतिमाएँ निर्मित हुई जिसमें बुद्ध, बोधिसत्व,—मैत्रेय, अवलोकितेश्वर, लोकेश्वर आदि की मूर्तियाँ प्रधान हैं। गुप्तकालीन सारनाथ शैली की मूर्तियाँ—मुद्रा से युक्त हाथ और संघाटी से ढँका शरीर दीख पड़ता है। घुँघराले बाल सहित उष्णीष बनाया गया है। पद्मासन में बुद्धमूर्ति मथुरा कला की प्रतिमाओं से मिलती-जुलती है। बोधिसत्व की चतुर्भुजी प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है। इन कलात्मक उदाहरणों के आधार पर यह कहना युक्तिसंगत होगा कि कम्बुज के कलाकारों ने भारतीय धार्मिक परम्परा को लेकर ब्राह्मण तथा बौद्धमूर्तियों का निर्माण किया। उन्होंने इस मार्ग में अपनी कुशलता तथा हस्तकला का परिचय दिया है।

जावा

वर्तमान इंडोनेशिया के प्रसिद्ध द्वीप जावा में भारतीय अग्रगामी दल ईसा की पहली शताब्दी में पहुँच चुका था। जावा के अभिलेखों का अध्ययन इस कथन को पुष्ट करता है कि वहाँ भारतीय हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना हो चुकी थी। वहाँ के लेखों में स्तूप एवं मन्दिरों का निर्माण एवं विभिन्न मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख मिलता है। उनके विश्लेषण से प्रकट होता है कि पहले बौद्धधर्म तत्पश्चात् ब्राह्मण-मत का प्रचार वहाँ हुआ। जावा का प्रसिद्ध बोरोबुदूर स्तूप बौद्धधर्म का प्रतीक है। मंदिरों के फलक पर खुदे धार्मिक तथा पौराणिक कथानकों से उद्धृत आकृतियाँ—ब्राह्मण देवी-देवताओं तथा ब्राह्मणधर्मों के हिन्देशिया और मलाया में पूर्णतया विकसित होने के प्रमाण हैं। वहाँ की धार्मिक सहिष्णुता की भावना ने दोनों मतों के विकास हेतु अवसर प्रदान किया। ताम्रलिप्ति और चोलमण्डल के बन्दरगाह होकर भारतवासियों का आवागमन होता रहा। धार्मिक भावनाओं के साथ भारतीय कला का दक्षिण-पूर्व द्वीपसमूहों में स्वागत किया गया। मंदिरों की बनावट गुप्त मंदिरों के सदृश छोटे, स्वतंत्र तथा घनाकार आकृति के हैं। दक्षिण भारत के पूर्वी किनारे से भारतवासी जो कलाशैली इण्डोनेशिया में ले गए, वह अमरावती से मिलती-जुलती है। बुद्ध की प्रतिमाएँ लम्बी तथा आवर्तनयुक्त चीवर सहित मिली हैं। सुखासन में भी बुद्ध-प्रतिमा उल्लेखनीय है। मंजुश्री की अतीव सुन्दर प्रतिमा मिली है जिसमें खड्गरूपी तलवार लेकर वह ज्ञान का प्रसार कर रहा है। नालंदा की प्रतिमा के सदृश जावा की मूर्ति हैं। बोधिसत्व (पद्मपाणि) अवलोकितेश्वर की चतुर्भुजी कांस्य प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है जो प्रस्तर-मूर्ति के सदृश है। इससे प्रकट होता है कि प्रस्तर के साथ धातु काँसा का भी प्रयोग प्रतिमा-निर्माण में हुआ था। मध्ययुग में वज्रयान का प्रसार द्वीप-समूह में हो गया।

अतएव उन द्वीपों से ध्यानीबुद्ध, तारा, लोकेश्वर आदि देवी-देवता की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ तीसरी शाखा (वज्रयान) को 'काल-चक्र' यान के नाम से पुकारते थे। उसी से सम्बद्ध 'आदिबुद्ध', प्रज्ञापारमिता तथा तारा आदि की प्रतिमाएँ जावा में मिली हैं। ध्यानीबुद्ध अक्षोभ्य की मूर्ति तंत्रयान की याद दिलाती है। जावा के कलसन लेख में तारा की उपासना का वर्णन है। अन्य लेख में मंजुश्री की मूर्ति-स्थापना का उल्लेख है। हारीति गोद में बच्चों के साथ दीख पड़ती है।

जावा की बौद्धकला भी बौद्ध-मन्दिरों के फलकों पर प्रदर्शित जातक, बुद्ध की ऐतिहासिक प्रतिमा एवं तारा आदि मूर्तियों को लेकर विकसित हुई। ब्राह्मणधर्म के प्रभाव से ही अवलोकितेश्वर एवं लोकनाथ की बहुभुजी प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। अन्य बोधिसत्व—पद्मपाणि, वज्रपाणि तथा मैत्रेय की मूर्तियाँ हिन्देशिया से उपलब्ध हुई हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि द्वीपसमूहों में कला का स्रोत भारत ही था। बौद्धकला, विशेषकर बंगाल होकर फैली। सम्भवतः भारतीय कलाकारों ने भारतीय

कला को जावानी रूप दे दिया था, किन्तु मध्ययुगी जावा में ब्राह्मणधर्म की प्रतिमाओं को उसी रूप में अपनाया गया था। मुख्यतया जावा में शैवमत की प्रधानता थी। अतः मध्य जावा से शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा, तथा विष्णु की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इन मूर्तियों के वाहन भी खुदे हैं जिससे उनकी पहचान हो जाती है। उन प्रतिमाओं के निर्माण में कलाकारों ने भाव-प्रदर्शन में अपनी दक्षता तथा बुद्धि का परिचय दिया है। शान्त (सौम्य) तथा रौद्र (भयानक) दोनों रूप में शिव की प्रतिमाएँ मिलती हैं। महादेव तथा पार्वती सौम्य भाव को प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तर के समान कांसे की भी शिव-पार्वती की मूर्ति प्रकाश में आई है। शिव महाकाल (भैरव) के नाम से भी प्रसिद्ध हैं जिसकी मुखाकृति रौद्र-भाव प्रदर्शित करती है। उनके हाथों में खड्ग, कपाल, त्रिशूल तथा डमरू है। महाकाल के मौलि में कपाल बँधा है तथा मुण्डमाला दीख पड़ती है। त्रिनेत्र तथा सर्प दर्शनीय हैं। वाहन कुत्ता भी वर्तमान है।

इनकी शक्ति दुर्गा की महिषासुरमर्दिनी मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है। शिव के शान्त तथा रौद्र, युगल प्रतिमाओं के अतिरिक्त उस परिवार के गणेश तथा कार्तिकेय को भी जावा में देवत्व का स्थान मिल चुका था।

जावा के शिवमन्दिर के पार्श्व में विष्णु तथा ब्रह्मा की मूर्तियां भी खुदी हुई हैं। किन्तु शैवमत के समान वैष्णव प्रतिमाओं का प्रचार नहीं था। हिन्देशिया में शताब्दियों तक शिवपूजा का ही प्रसार रहा; तथापि लक्ष्मी सहित शेषशायी विष्णु की प्रतिमा वैष्णवमत के प्रचार का द्योतक है। 'गरुड़वाही विष्णु' एवं 'शेषशायी विष्णु' विष्णु की पूजा का स्मरण दिलाते हैं। कृष्णलीला सम्बन्धी उपलब्ध चित्रों से भी वैष्णवकला के प्रसार का परिज्ञान होता है।

लंका

दक्षिण भारत के निकटस्थ द्वीप को सिंहल कहते थे। पालि-ग्रन्थों में तथा समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में (चौथी शताब्दी) इस द्वीप को सिंहल ही कहा गया है। ऐसी किंवदन्ती है कि गंगाघाटी का निवासी विजय नामक शासक ने ईसा पूर्व पाँचवी सदी में लंका में प्रवेश किया था। पालि-ग्रन्थों मे मौर्य सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा के सिंहल-यात्रा का विवरण मिलता है। उन लोगों ने बोधिवृक्ष की एक शाखा ले जाकर अनुराधापुर में गाड़ दिया था जिसकी पूजा सिंहलवासी आज भी करते हैं।

ईसा पूर्व पहली शती में भारतीय बुद्ध-प्रतिमा का अनुकरण सिंहल में पाया जाता है। सम्भवतः बुद्ध की खड़ी विशाल मूर्ति का प्रवेश अमरावती से वहाँ हुआ था। यक्ष प्रतिमा के अनुकरण पर मथुरा में बुद्ध की खड़ी स्थूलकाय मूर्ति बनने लगी, उसी का अनुकरण अमरावती में हुआ। सम्भव है, वहीं से भारतीय कलाकार उस शैली को अनुराधापुर ले गये। उस प्रतिमा का दाहिना कंधा वस्त्ररहित है तथा चीवर में पानी की लहर के सदृश चढ़ाव-उतार दीख पड़ता है। चौथी सदी

की बुद्ध की ध्यानावस्थित विशालकाय मूर्ति कमलासन पर बैठी मिली है। पद्मासन में दो हाथ ध्यानमुद्रा सहित तथा आँखें चिन्तनशील दिखलाई गई हैं। यह बनावट गुप्तशैली का द्योतक है। मध्ययुग से महायान के देवता बोधिसत्व—अवलोकितेश्वर तथा वज्रपाणि की सुन्दर प्रतिमाएँ लंका में निर्मित होने लगी थीं। आठवीं सदी में निर्मित वज्रपाणि बोधिसत्व तथा जम्भल (कुबेर) की मूर्तियाँ बोस्टन संग्रहालय (अमेरिका) में सुरक्षित हैं। उनमें दोहरे कमल का आसन तथा मुद्राएँ स्पष्ट बतलाती हैं कि मध्ययुगी भारतीय कला शैली से सिंहल के कलाकार पूर्णतया प्रभावित हो चुके थे।

कालान्तर में लंका में ब्राह्मण देवताओं का समादर होने लगा। दक्षिण भारत में तंजौर के कलाकार धातु-प्रतिमा ढालने में बहुत निपुण थे। वहीं से यह विद्या सिंहल में पहुँची। शिव, विष्णु, सूर्य आदि देवता की ताम्रप्रतिमा लंका से उपलब्ध हुई जो भारतीय अनुकरण को पुष्ट करती है। उनके परीक्षण से सभी गुप्तशैली के सदृश प्रकट होती हैं। स्यात् पाँचवीं सदी से कांसे या ताँबे की प्रतिमाएँ सिंहल में तैयार होने लगी थीं। यह कहना कठिन है कि इन धातु-मूर्तियों को किस स्थान पर ढाला गया था। सम्भव है, सिंहल पर चोल शासनकाल में साँचे में ढाल कर धातु की प्रतिमाएँ निर्मित हुई हों।

परिशिष्ट

(१)

मूर्ति-विज्ञान सम्बन्धी साहित्य

भारत का प्राण धर्म ही है। अतएव साहित्यिक रचना में धार्मिक चर्चा की उपलब्धि स्वाभाविक है। "वेदोहिधर्ममूलो" भारतीय धर्म का मूल वेद है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य में जितनी विचारधाराएं आईं, उन सबका किसी-न-किसी रूप में वेद ही मूलस्रोत समझा जाता है। वेदों के ध्यानमंत्र में देवताओं की स्तुति हैं अतएव उनके आधार पर देवी-देवताओं की कल्पना या भावना समाज में आई। मठ अथवा मन्दिरों के समस्त विषयों की चर्चा करें तो उससे भी किसी रूप में प्रतिमा के लक्षण का परिज्ञान हो जाता है। प्राचीन साहित्य की कई रचनाओं के रचयिता ऋषि कहे गए हैं। उसमें प्रतिमा लक्षण की चर्चा है। अतएव ऋषियों को मूर्तिशास्त्र का जन्मदाता कह सकते हैं।

प्रतिमाशास्त्र की जानकारी पुराणों, आगम तथा तंत्र साहित्य से हो जाती है। समस्त पुराणों में प्राचीन मत्स्यपुराण के अन्तर्गत मूर्तिविज्ञान की चर्चा वास्तुकला से घट कर नहीं है। दस अध्यायों में मूर्तियों की बनावट एवं माप आदि का वर्णन है। मूलतः यह सत्य है कि मूर्ति से पूर्व प्रतीक का पूजन होता था, जैसे—शालिग्राम, शिवलिंग आदि। मत्स्यपुराण में शिव के मनुष्याकार प्रतिमा-सम्बन्धी विवरण प्रमुखरूप से प्रस्तुत किया गया है। अग्निपुराण का विस्तृत वर्णन पठनीय है। कुल सोलह अध्यायों में तेरह अध्याय प्रतिमा निर्माण की चर्चा करते हैं। इसमें वैष्णव एवं शैव मूर्तियों के अतिरिक्त सूर्य तथा देवियों की प्रतिमा-सम्बन्धी विवेचन मिलता है। इस प्रसंग में विष्णुधर्मोत्तर पुराण का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। अन्य पुराणों की तुलना में विष्णुधर्मोत्तर द्वारा विश्लेषणात्मक ढंग से तथा विस्तारपूर्वक सुन्दर रीति से प्रतिमा निर्माण पर प्रकाश पड़ता है।

छठी सदी में वराहमिहिर ने बृहत्संहिता की रचना की थी। यद्यपि इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में प्रतिमाओं का विवरण चार अध्यायों में ही सीमित है, किन्तु प्रमुख देवताओं के प्रतिमा की चर्चा भलीभांति की गई है। राम तथा कृष्ण से सम्बद्ध देवी-देवता, सूर्य के परिवार तथा शिव और बुद्ध का विवरण बृहत्संहिता में प्रतिमा-निर्माण के प्रसंग में उपलब्ध है।

आगम साहित्य

सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री गोपीनाथ राव ने आगम साहित्य का सविस्तृत विवरण उपस्थित किया है। पुराणों के सदृश इस ग्रन्थसमूह में वास्तु एवं तक्षण कला का वर्णन है। प्रतिमा निर्माण में वैखानसागम, सुप्रभेद, कामिक तथा अंशुमद्भेद के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें विशेषतया शैवमत की प्रशंसा तथा शिव-प्रतिमाओं का वर्णन भरा पड़ा है।

भारतीय धार्मिक इतिहास में मंत्र तथा तंत्र के दो विभिन्न विचारधाराओं का समावेश अतिप्राचीन युग से मिलता है। मंत्र को वैदिक साहित्य (तीन वेद) से सम्बद्ध करते हैं तथा तंत्र अथर्ववेद का एक भाग है। भारतीय संस्कृति में दो स्वरूप से पूजा का विधान भी है। वैदिकी तथा तांत्रिकी। प्रथम प्रकार में यज्ञ तथा अग्नि में हवन की परिपाटी है तथा तांत्रिकी में यंत्र का पूजन तथा मंत्र उच्चारण होता है। तन्त्र शब्द शास्त्र का भी बोधक है, अतः वैष्णव, शैव तथा शाक्त तंत्र का उल्लेख मिलता है। वैष्णव मत का संकलन पांचरात्र संहिता में तथा शैव उपदेशों का संग्रह आगम में मिलता है। कालान्तर में तन्त्र का सीधा सम्बन्ध शाक्तमत से मान लिया गया। तन्त्र साहित्य भी प्रतिमा-निर्माण का एक प्रधान स्रोत है जिसका समुचित अध्ययन न हो पाया है। तन्त्र साहित्य भी लम्बा-चौड़ा है। उनका अनुशीलन ब्राह्मण देवी-देवता की प्रतिमा पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

शिल्पशास्त्रों में मानसार को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस ग्रन्थ के अन्तिम बीस अध्यायों में प्रतिमा-निर्माण का विवेचन मिलता है। इसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन-प्रतिमाओं का समानरूप से वर्णन है। चौथी शती तक भारतीय मूर्तिविज्ञान में अनुपात का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। इस दृष्टिकोण को लेकर मानसार की रचना हुई थी। इसके रचयिता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है किन्तु शब्द मानसार (माप का तत्त्व) यह बतलाता है कि प्रतिमा-विज्ञान में विशिष्ट माप को लेकर ही ग्रन्थ की रचना की गई थी। दक्षिण भारत के शिल्परत्न का नाम भी उल्लेखनीय है। यह मूर्ति-निर्माण पर विशेषरूप से प्रकाश डालता है तथा विस्तृत लेखा उपस्थित करता है।

अन्त में महाभारत तथा अर्थशास्त्र का भी नामोल्लेख आवश्यक है। दुर्ग-निवेश के प्रसंग में कौटिल्य ने अनेक देवताओं का उल्लेख किया है परन्तु इससे प्रतिमा-निर्माण पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसी श्रेणी में मंजुश्री मूलकल्प को भी रख सकते हैं। इसमें मुद्रा तथा मण्डल का वर्णन आता है। बुद्ध-प्रतिमा को मण्डल के अन्दर या बाहरी सीमा में तैयार करने की प्रक्रिया बतलाई गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि पुराण, आगम, बृहत्संहिता तथा मानसार के आधार पर भारतीय मूर्ति-निर्माण की चर्चा की गई है। उसी को ध्यान में रखकर कलाकार प्रतिमा तैयार करते रहे।

(२)

मूर्तिपूजा की प्रधानता

भारतीय शिल्प और कला-शैली की रूपरेखा वैदिक साहित्य के अध्ययन से विदित हो जाती है। ऋग्वेद में अग्नि के सहस्र आँख और पुरुष (विश्वरूप) के सहस्र सिर तथा पाद की कल्पना की गई है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद।

चौथे मण्डल में ही प्रतिमा का उल्लेख है। मन्त्र में इन्द्र-प्रतिमा के क्रय का प्रश्न उठाया गया है। (क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ४।२४।१०)

पाश्चात्य विद्वानों ने प्रकृति का अनुकरण मात्र ही इसे समझा, किन्तु भारतीय कलाकार ने धार्मिक एवं दार्शनिक कल्पनाओं पर आधारित कल्पित रूपों की सृष्टि की। उसी में विष्णु तथा शिव के विभिन्न आकार भी सम्मिलित हैं तथा देवमन्दिर का शिखर अनन्त की ओर संकेत करते दिखलाया गया। ब्राह्मण साहित्य और श्रौत-सूत्रों के अनुसार देवी-देवता, मानव, पशु-पक्षी की मूर्तियाँ बनाई गईं।

तेषां पुरुषरूपकमिव कृता (ऐत० ब्रा० ७।२।२)

मूर्ति-विवेचन के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण सम्मुख आता है। प्रथम मूर्ति-निर्माण (जिसका विवरण गत पृष्ठों में दिया गया है।) तथा द्वितीय मूर्ति पूजा। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है किन्तु मूर्ति-पूजा के पश्चात् प्रतिमा-निर्माण की कल्पना समाज में आई।

ऋग्वेद के रुद्र तथा अग्नि का सम्बन्ध कालान्तर में पूजित देवता के स्वरूप में देखते हैं। उसी को विष्णु या वासुदेव नारायण के रूप में भी व्यक्त किया गया। वैदिक मंत्र की व्याख्या करते समय सायण ने प्रतिमा-निर्माण की कल्पना नहीं की है। हाप्किंस आदि संदेह व्यक्त करते हैं कि क्या वैदिक संस्कृति में देवताओं की मूर्ति बनाई गई थी या नहीं? वेंकटेश्वर तथा मैकडानेल के वादाविवाद का कोई फल नहीं निकला। वर्तमान परिस्थिति में प्राचीन युग में देव-प्रतिमा के निर्माण का प्रश्न जटिल समझा जाता है। समुचित उत्तर के लिए यथार्थ प्रमाण नहीं मिलते। उत्तर वैदिक साहित्य में देव-प्रतिमा के शक्तिशाली होने का विवरण उपलब्ध हुआ है। 'श्रीरंचित कृणुत सुप्रतिकम् (ऋ० म० ६) का भावार्थ यह है कि कुरूप को सुन्दर मूर्ति बनाओ। हम देवता का पूजन इसलिए करते हैं कि उसे (ब्रह्म) प्राप्त करें। इस प्रकार वैदिक साहित्य का उल्लेख तथा वपु, तनु, रूप शब्दों से वैदिक देवता की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। वेदमंत्रों द्वारा प्राचीन काल में मूर्ति-पूजा के लिए प्रबल प्रमाण भी उपस्थित किए जाते हैं। परन्तु प्रतिमा-निर्माण के साक्षी नहीं हैं (मैक्समूलर)। कीथ के मतानुसार वैदिक देवता के मनुष्याकार प्रतिमा की स्थिति को भुलाया नहीं जा सकता।

इसका एकमात्र कारण यह था कि मानव विश्व में अपने आत्मान् से पृथक् हो गया था और पूजन के द्वारा वह ब्रह्म (परमात्मा) से मिलने की इच्छा रखता था।

अतएव विश्व इतिहास में जितनी प्राचीनतम संस्कृतियों का वर्णन मिलता है उन सभी स्थलों में प्रतिमा-पूजन का प्रचार रहा। मिस्र, बेबिलोनिया, एसीरिया, यूनान आदि देशों की तरह भारत में भी ईसा पूर्व हजारों वर्ष में प्रतिमा-पूजन का प्रसार हो चुका था। हेस्टिंग ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है (इन्साइ-क्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, भाग ७)। भारतीय इतिहास के अध्ययन से कुछ लोगों को भ्रामक धारणा हो जाती है कि ईसवी सन् के आरम्भ से महायान मत के उदय के साथ प्रतिमा-पूजन का क्रम भारत में स्वीकृत हुआ। किन्तु वैदिक साहित्य

तथा पाणिनि के सूत्रों से मूर्ति-पूजा की प्राचीनता के विषय में हमारी जानकारी हो जाती है।

वैदिक साहित्य के देवालय तथा देव-प्रतिमा प्रतिकृति या बिम्ब शब्दों से मंदिर तथा उसमें स्थापित मूर्तियों की कल्पना की जा सकती है। यह तो निर्विवाद है कि ईसवी पूर्व पहली शती से भारत में प्रतिमाओं का निर्माण होने लगा था। इससे पूर्व यानी ईसा पूर्व दूसरी शती में पतंजलि ने पाणिनि सूत्र की (जीविकार्थे चापण्ये ५,३,९९) व्याख्या करते समय वासुदेव, शिव, स्कन्द, विष्णु, आदित्य के नामों का उल्लेख किया है जिसका भाव प्रतिमा (अर्चा) से है।

अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिद्ध्याति शिवः स्कन्दः विशाख इति। अर्चा प्रकल्पिताः। भवेत्तासु नस्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थः तासु भविष्यति।

अन्य स्थान पर (सूत्र ४।१।५४) पतंजलि ने प्रतिमा की नासिका का वर्णन किया है।

अद्रवं मूर्तिमत् स्वांगं प्राणिस्थमविकारजम् अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तस्य चेत्तत्तथा युतम्।

पाणिनि ने स्वयं भी 'इवे प्रतिकृतौ' (अष्टाध्यायी ५।३।९६) लिखकर इस विषय को पुष्ट कर दिया है कि मिट्टी या लकड़ी के माध्यम से आकृति का अनुकरण किया जाता था।

महाभारत (३।८४, १९४-३५) में अनेक तीर्थों का वर्णन मिलता है। बद्रिकाश्रम में नर-नारायण के पूजा का उल्लेख है। उस प्रसंग में हिन्दूधर्म के देवी-देवताओं का नामोल्लेख भी है। महाकाल, वामन, आदित्य आदि नाम (देवता-प्रतिमा) मिले हैं किन्तु यह प्रतिपादित करना कठिन है कि क्या इनका विवरण पीछे सम्मिलित कर लिया गया अथवा मूल 'भारत' नामक ग्रन्थ में वर्तमान था? परन्तु उस समय देवी-देवताओं का ज्ञान समाज को था, यह निःसन्देह स्वीकार किया जा सकता है। रामायण में भी देवतागार देवतायतनानि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।

यूनानी लेखक ने भी ऐसा वर्णन किया है कि पोरस की सेना के सम्मुख हेराक्लि की प्रतिमा वर्तमान थी।

उसी काल (ईसा पूर्व चौथी शती) में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की। उस ग्रन्थ में दुर्गनिवेश का विवरण देते हुए लेखक ने अन्तःपुर के ऐसे स्थान का वर्णन किया है जो विभिन्न देवसमूह के निमित्त सुरक्षित था। अपराजित, वैश्रवा, शिव आदि देवगृह का उल्लेख प्राप्त हुए हैं जिससे विदित होता है कि कौटिल्य को ब्राह्मण धर्म के देवगण का परिज्ञान था। मनु ने ब्रह्मचारी के दैनिक कर्त्तव्यों में देवपूजन के कार्य को सम्मिलित किया है।

देवताभ्यर्चनञ्चैव समिदाधानमेव च।

(मनुस्मृति २।१७६)

विजित प्रदेश में भी देवपूजन का विधान बतलाया है।

जित्वा सम्पूजयेदेवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्। (मनु ७।२०१)

प्रतिमा तथा पुजारी का भी वर्णन मिलता है (मनु ४।३९)।

धर्मसूत्रों में भी देवपूजा का विवरण किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध है।

देवगृहम् गत्वा

गृहदेवताभ्यः प्रविश्य (गौतमधर्मसूत्र)

पूजायां बलिविशेषः (आपस्तम्ब)

सूत्र ग्रन्थों में प्रतिमा-पूजन की बातें कतिपय स्थलों पर उल्लिखित हैं। उसी प्रसंग में विष्णु, महापुरुष, विनायक गणेश या यम के नाम मिलते हैं।

भागवत में भी मूर्ति की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है तथा विग्रह, बेर, तनु या रूप शब्दों को वासुदेव के रस में प्रयुक्त पाते हैं।

साहित्यिक प्रमाणों के पुष्ट करने के निमित्त पुरातत्त्व-विषयक सामग्रियों का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है। भारतीय पण्डितों के कथन में सार अवश्य है कि महायान के उदय से प्रतिमा-निर्माण के कार्य को बल मिला, किन्तु इसका कदापि यह तात्पर्य नहीं कि ईसवी सन् पूर्व भारत में प्रतिमाएँ निर्मित न थीं। प्रागैतिहासिक युग के केन्द्रस्थल मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में किसी-न-किसी रूप में मूर्तियाँ प्रकाश में आई हैं। पशुपति, वृद्ध, योगी तथा नग्न पुरुष (हड़प्पा) की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। ईसवी सन् के पूर्व घोसुंडी, मथुरा तथा बेसनगर अभिलेखों के परीक्षण से शिला प्रकार तथा देवालय का आभास मिलता है। यक्ष, यक्षिणी (भरहुत तथा सांची) तथा नाग की आकृतियाँ शुङ्गकालीन कला में उपलब्ध हैं। ईसवी सन् के आरम्भ से तो भारतीय कला में प्रतिमा-निर्माण होने लगा। यह सत्य है कि मूर्ति-निर्माण के पीछे पूजा का भाव समाज में वर्तमान था। अतएव उपासक भक्ति को आरोपित करने के लिए माध्यम की चिन्ता में लग गया। उसकी कल्पना का मूर्तिमान रूप ही प्रतिमा है जिसकी पूजा कर परब्रह्म से मिलने की आकांक्षा सभी रखते हैं। संक्षेप में यह कहना युक्तिसंगत होगा कि वैदिक काल से ही भारत में मूर्ति-पूजन का प्रचार था। भक्तिभावना से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष देव-पूजन किया करते थे। साहित्यिक तथा पुरातत्त्व-विषयक प्रमाण मूर्ति-पूजा का आरम्भ ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष से सिद्ध करते हैं।

(३)

मुहर तथा सिक्के पर अंकित देवी-देवता

भारतवर्ष में विभिन्न वंश के शासकों ने राजकीय सिक्के तैयार कराए। शासकों ने अपने विचारधारा के अनुकूल सिक्कों पर चित्र आदि अंकित किया तथा धर्म-विश्वास के अनुसार देवी या देवता को उस पर स्थान दिया। सिक्कों तथा मुहरों पर अंकित पशु, पक्षी अथवा देवता की आकृति से उस शासक के धार्मिक कल्पना की बातें ज्ञात हो जाती हैं।

अतः निम्न पंक्तियों में उन्हीं सिक्कों तथा मुहरों का विवरण उपस्थित किया जायगा जिन पर किसी-न-किसी भारतीय देवता का चित्र खुदा है। प्रतीक एवं

मूर्ति के कारण उन्हें विभिन्न श्रेणी में विभक्त करते हैं। ईसवी सन् पूर्व से ही प्रजातंत्र शासकों के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। उन पर भी धार्मिक चिह्न अंकित हैं—

शैवमत के चिह्न तथा शिव की आकृति निम्न सिक्कों पर दीख पड़ती है—

नन्दी—यौधेय तथा आर्जुनायन संघ के सिक्के।

नन्दी तथा लिङ्ग—उज्जैनी सिक्कों पर।

त्रिशूल—पांचाल राजा के सिक्कों पर।

त्रिशूल—औदुम्बर राजा धरघोष के सिक्के।

शिव-प्रतिमा—उज्जैनी सिक्कों पर।

,, ,, कुणीन्द सिक्कों पर।

,, ,, वीम कदफिस की स्वर्ण-मुद्रा।

,, ,, कुषाणवंशी राजाओं के स्वर्ण एवं ताम्र सिक्कों पर।

दुर्गा—कुणीन्द सिक्कों पर।

दुर्गा—पांचाल फल्गुमित्र के सिक्कों पर।

कार्तिकेय—यौधेयगण के सिक्के और (रोहतक का भूभाग) विजयमित्र तथा देवमित्र अयोध्या।

कार्तिकेय—गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त की स्वर्णमुद्रा पर।

हुविष्क सिक्कों के पृष्ठभाग पर—स्कन्द, कुमार, विशाख।

वैष्णव-मत से सम्बद्ध

वैष्णव प्रतीक तथा विष्णु एवं लक्ष्मी की आकृति अनेक सिक्कों पर मिलती है। गजलक्ष्मी के स्वरूप में लक्ष्मी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रस्तर पर अंकित है। विष्णु के वाहन गरुड़ को भी स्थान दिया गया था।

गजलक्ष्मी—कौशाम्बी राज्य के सिक्कों पर (प्रयाग के समीप)।

गजलक्ष्मी—पांचाल के सिक्के पर।

गजलक्ष्मी—उज्जैनी के तथा अयोध्या के सिक्कों पर खुदी हैं।

विष्णु—पांचाल सिक्कों पर (बरेली, उत्तर प्रदेश)।

विष्णु—कुषाण के स्वर्ण सिक्कों पर (ओस्ना=विष्णु)।

विष्णु—गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त के चक्रविक्रम सिक्के पर।

लक्ष्मी—विष्णु की भार्या लक्ष्मी उज्जैनी के सूर्यमित्र एवं पुरुषदत्त के सिक्कों पर।

लक्ष्मी—मथुरा क्षत्रप शिवदत्त हूंगाम रंजुबत, सोडास के सिक्कों पर।

लक्ष्मी—पांचालनरेश भद्रघोष।

लक्ष्मी—नगरदेवी के रूप में (पुष्कलवती) यूनानी सिक्के पर।

लक्ष्मी—गुप्त सम्राटों के स्वर्णमुद्राओं पर, बैठी या खड़ी (कमलनाल लिये)।

गरुड़—गुप्त राजाओं के सिक्कों पर गरुड़ध्वज के रूप में। ताँबे के सिक्कों पर पक्षी के आकार में (चाँदी के पश्चिमी भारत शैली के सिक्कों पर)।

इन्द्र एवं अग्नि—पांचालनरेश अग्निमित्र, भूमिमित्र के सिक्कों पर।

मुहरों पर अंकन

सिक्कों के अतिरिक्त मुहरों पर भी ब्राह्मणमत के देवी-देवता की आकृति अधिकतर अंकित हैं। गुप्तयुग के बसाढ़, राजघाट, भीटा की मुहरों पर नन्दी, त्रिशूल, दुर्गा या शिव की आकृतियाँ खुदी दीख पड़ती हैं। राजघाट की मुहरों पर कार्तिकेय भी खुदे हैं। कुछ मुहरों पर वैष्णव चिह्न—विष्णुपद अथवा वराह, लक्ष्मी या गजलक्ष्मी के चित्र भी खुदे हैं।

इस प्रकार सिक्कों तथा मुहरों के अध्ययन से पता चलता है कि शासक धार्मिक पिपासा को मिटाने के लिए राजकीय वस्तुओं पर देवी-देवता के चित्र अंकित कराते रहे।

(४)

विभिन्न मतों की मिश्रित प्रतिमाएँ

भारतीय इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन काल में विभिन्न धर्मों में पारस्परिक वादाविवाद के कारण द्वेष एवं मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया था। इसकी प्रतिक्रिया समाज पर पड़ना स्वाभाविक था। उस विषाक्त वातावरण के कारण समाज ने कला को भी प्रभावित किया तथा अशिष्ट तथा निन्दनीय भावनाओं सहित प्रतिमाएँ बनीं, उन्हें मिश्रित-प्रतिमा कहते हैं। अशोक बौद्धमत का अनुयायी होते हुए भी सहिष्णुता से ओतप्रोत रहा। उसके धर्मलेख यह बतलाते हैं कि अशोक ब्राह्मण तथा श्रमण का आदर करता था। बरार पहाड़ियों में निर्मित गुहाओं को आजीविक संघ को दान दिया। मौर्यकालीन कला में विरोधी बातें दीख नहीं पड़तीं। उसके भय से बौद्धधर्म द्वारा किसी की निन्दा न की गई। अशोक को विश्वास था कि अपने धर्म की प्रशंसा तथा अन्य धर्मों की निन्दा (परग्रषडस च अपकरोति) द्वारा वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। ईसवी पूर्व में उत्पन्न बौद्धमत के विरोधी विचारों में समन्वय लाने का अशोक ने सफल प्रयत्न किया और इसे समाप्त करने के निमित्त सारनाथ, साँची तथा कौशाम्बी में स्तम्भलेख खुदवाये। लेख निम्नलिखित है—

ये संघ भारवति भिखु वा भिखुनी वा ओदाता नि दुसानि सनंघापयि तु अना वा ससि वासापेतवि ये।

अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसका सिद्धान्त लोप हो गया। कला में मौर्य विचारों का अनादर होने लगा और समाज को निमंत्रित कर आमोद-प्रमोद को स्थान दिया गया।

शुंगकालीन भरहुत वेदिका पर संगीत का प्रदर्शन अशोक द्वारा प्रतिपादित विचारों के विरोधी हैं। महायान के उदय के साथ प्रतीकात्मक कला के स्थान पर बुद्ध की प्रतिमा तैयार की गई। क्रमशः ईसा की पहली शती से बौद्ध कला में परिवर्तन समाविष्ट हुए परन्तु बौद्ध तथा जैन कला समान रूप से प्रस्फुटित हुई। गुप्तनरेश वैष्णवधर्मानुयायी होते हुए परम सहिष्णु थे। उनके दरबार में

जैनियों को भी पद दिया गया था। परन्तु सातवीं शताब्दी के पश्चात् ब्राह्मण तथा बौद्ध अनुयायी शास्त्रीय वादाविवाद में लीन होते गए। उनके विवाद का रूप समाज में ही सीमित न रहा किन्तु सैद्धान्तिक वादाविवाद का प्रभाव कला पर भी प्रत्यक्षरूप से पड़ा। इस कारण मध्ययुगी ऐसे कलात्मक उदाहरण उपलब्ध हुए हैं जिनमें पारस्परिक विरोध साक्षात् रूप में सम्मुख दीख पड़ता है। मध्ययुग में रचित बौद्धग्रन्थ—साधनमाला में ऐसे स्थल हैं जिनका वर्णन ईर्ष्या-द्वेष से पूर्ण है।

ब्राह्मणधर्म के प्रति घृणा के भाव प्रदर्शित किये गये हैं। बौद्धों ने मोक्ष के सिद्धान्त की कटु आलोचना की। आर्यदेव के 'चित्तसोधन प्रकरण' में ब्राह्मण सिद्धान्त की निन्दा तथा बुराइयाँ दिखाई गई हैं। निम्न पंक्तियों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि बौद्ध पण्डितों ने छोटी-छोटी बातों (गंगास्नान) की भर्त्सना की और उस कार्य को हीन बतलाया।

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति
तस्माद्धर्मधियां पुसां तीर्थस्थानं तु निष्फलम्
धर्मोपरि भवेत् स्नानात् कैवर्तानां कृतार्थता
नक्तन्दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा।

(ज० ए० सो० वं० १८९८, पृ० ११७)

उस पुस्तक के अनेक 'साधना' में ब्राह्मण देवता के प्रति हीन, घृणित, तुच्छ तथा अपमानित विचार संकलित हैं तथा रुद्र, इन्द्र, नारायण आदि सेवक के रूप में वर्णित किये गये हैं।

ब्रह्मेन्द्र रुद्र नारायण प्रभृतयः समागम्य किङ्करतामुपगम्य साधकाभिलषितं सम्पादयन्ति।

विष्णु तथा लक्ष्मी को पदाक्रान्त करते हुए बौद्धदेवता का वर्णन सुनिए—

सपत्नीकं विष्णुमालीढं पदेनाक्रम्यावस्थितम्।

आश्चर्य तो यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे वर्णन नहीं उपलब्ध होते जिनमें घृणित भावना व्यक्त की गई हो या ऐसे हीन विचार निहित हों। उत्तर-गुप्तकाल में मध्ययुग के शासक बौद्ध होते हुए सहिष्णु थे। वर्धन वंश के अधिक शासक 'परम आदित्य भक्त' कहे गए हैं।

मधुबन के लेख में हर्षवर्द्धन परममाहेश्वर पदवी से विभूषित है। सम्भवतः जीवन के उत्तरार्द्ध में वह बौद्ध हो गया जिसका वर्णन ह्वेनसांग ने किया है। बंगाल के दानपत्रों में पालनरेश 'परम सौगत' कहे गए हैं। वे सभी बुद्धधर्म के अनुयायी थे। धर्मपाल ने विक्रमशिला बौद्ध महाविहार की स्थापना की किन्तु खालीमपुर ताम्रपत्र के लेख से विदित होता है कि उसने नर-नारायण (विष्णु) के मन्दिर में दान दिया था। नारायणपाल के भागलपुर लेख में अनेक शिव-मन्दिर-निर्माण का वर्णन है। नारायणपाल को गर्व था कि उसने सैकड़ों शैव देवालयों का निर्माण किया और पाशुपत आचार्य को मन्दिर की व्यवस्था सौंप दी। ऐसे पाल-

नरेश बौद्ध होते हुए भी सहिष्णु थे तथा ब्राह्मण देवालयों के लिए दान भी दिया था। मध्ययुग वज्रयान का उत्कर्ष काल था। तन्त्रयान के देवता-समूह की प्रतिमाएँ बनीं। किन्तु कुछ कलाविदों ने पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से प्रभावित होकर ऐसी बौद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण किया जो ब्राह्मण देवी-देवता को पददलित करते दिखलाये गए हैं। ब्राह्मण-कला में इसकी प्रतिक्रिया दीख नहीं पड़ती। अतएव यह कहना युक्तिसंगत होगा कि बौद्धकला में जो मिश्रित प्रतिमाएँ वर्तमान हैं उनमें बौद्ध-देवता की प्रधानता दिखलाकर ब्राह्मण देवी-देवता को अपमानित किया गया है। वे सभी उस घृणित मनोभावना को व्यक्त करती हैं।

बौद्ध-मूर्तियाँ

साधनमाला के आधार पर ऐसे बौद्ध देवी-देवता के नाम उपलब्ध हैं जिनको मिश्रित सूची में रखना उचित होगा। वज्रयान के एक प्रमुख देवता त्रैलोक्यविजय की प्रतिमा नालंदा के एक विहार से मिली है। उसमें देव कठोर (रौद्र) मुद्रा में दिखलाये गए हैं। उनके दोनों पैर फैले हुए हैं तथा उन पैरों के नीचे गौरी एवं शिव की आकृतियाँ प्रस्तर पर खुदी हैं। दाहिना पैर गौरी के वक्षस्थल पर दीख पड़ता है। गले में मुण्डमाला है जिसमें बुद्ध के सिर गुथे दृष्टिगोचर होते हैं। साधनमाला (भा० २) में ऐसा ही विवरण पाया जाता है।

वामपादाक्रान्त महेश्वर मस्तकं।
दक्षिण पादावष्टब्ध गौरीस्तन युगलं ॥

सम्भवतः यह प्रतिमा नवीं शती की है। मध्ययुग की मूर्ति-निर्माण कला की विशेषता स्पष्टरूप से दीख पड़ती है। साधनमाला में इस देवता का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। तन्त्रयान मत में त्रैलोक्यविजय का आगमन अक्षोभ्य के कारण माना जाता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त नेपाल तथा तिब्बत में भी इस देवता की मूर्ति उपलब्ध हुई है।

दूसरी मिश्रित-प्रतिमा अपराजिता के नाम से विख्यात है। बौद्ध-प्रतिमा-समूह में इस देवी की दो प्रकार की प्रतिमा मिलती है। एक मूर्ति के सिरे पर रत्नसम्भव नामक ध्यानीबुद्ध की आकृति खुदी है जिससे विदित होता है कि अपराजिता रत्नसम्भव से उत्पन्न हुई। दूसरी उपलब्ध मूर्ति स्वतंत्र प्रतिमा प्रकट होती है क्योंकि उसके शिरोभाग पर किसी ध्यानीबुद्ध की आकृति दीख नहीं पड़ती। साधनमाला में अपराजिता के वर्णन के प्रसंग में यह उल्लिखित है कि वह भयंकर चेहरेवाली है। ब्रह्मा आदि देवता उसके छत्र को उठाये हुए हैं। यानी हिन्दू देवता नीच सेवक-रूप में दिखलाई पड़ते हैं (ब्रह्मादि दुष्ट देवता परिकरो)। प्रतिमा के परीक्षण से प्रकट होता है कि इस देवी 'अपराजिता' के दो हाथ हैं जिसका दाहिना हाथ दण्डमुद्रा (थप्पड़ मारते हुए) में प्रदर्शित है। चेहरा भयावह है जो उसके कठोर निन्दनीय कार्य की ओर संकेत करता है। वह देवी गणेश को पैर से कुचलते दीख पड़ती है। इस रूप में प्रस्तर तथा कांसे को प्रतिमाएँ पटना तथा नालंदा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। पूर्वी भारत में भी सम्भवतः अपराजिता की प्रतिमा तैयार की गई

जहाँ से चीन तथा तिब्बत में वज्रयान धर्म के साथ (प्रतिमा) पहुँची। कलकत्ता के संग्रहालय में एक मूर्ति सुरक्षित है जिसका अनुकरण अन्य देशों में किया गया।

तीसरी विलक्षण मिश्रित-प्रतिमा 'हरिहरिहरिवाहनोलोकेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है। तंत्रयान में बोधिसत्व को अवलोकितेश्वर या लोकेश्वर के नाम से उल्लेख किया गया है। इनकी उत्पत्ति ध्यानीबुद्ध अमिताभ तथा बोधिसक्ति पाण्डरा से मानी जाती है। साधनमाला में ३१ साधनाओं में उनका वर्णन है और कुल १०८ अवलोकितेश्वर का उल्लेख है। नेपाल के चित्रों में भी यही संख्या मिली है। अवलोकितेश्वर या लोकेश्वर के विभिन्न स्वरूपों में 'हरिहरिहरिवाहनोलोकेश्वर' की भी गणना होती है। भारत में अभी तक इस लोकेश्वर की प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई किन्तु नेपाल के मंदिरों में इसकी मूर्ति मिलती है।

इस लोकेश्वर के नाम की यदि व्याख्या की जाय तो उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस प्रतिमा में लोकेश्वर भगवान् विष्णु के कन्धे पर स्थित हैं। विष्णु अपने वाहन गरुड़ के पीठ पर बैठे हैं और गरुड़ सिंह के ऊपर स्थित दीख पड़ता है। आरम्भ के तीनों शब्द हरि, सिंह, गरुड़ तथा विष्णु के लिए प्रयुक्त है जिनका क्रम ऊपर बतलाया गया है। लोकेश्वर सर्वप्रमुख देवता माना गया है जो विष्णु के कन्धों पर बैठा है। यानी हिन्दू देवता वाहन के रूप में प्रदर्शित हैं (नीच स्थान पर विष्णु की प्रतिमा बनाई गई है)। लोकेश्वर जटा-मुकुट तथा सुन्दर वस्त्र धारण किए हैं। इस वज्रयान देवता के छः हाथ हैं। दाहिनी ओर के हाथों में एक तथागत को साक्षी बनाकर संकेत कर रहा है, दूसरा माला धारण किए तथा तीसरा जनता की रक्षा की मुद्रा में प्रदर्शित है। बायें के तीनों हाथ दण्ड धारण किए, मृगछाल लिए तथा कमण्डलु सहित दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार हरिहरिहरिवाहनोलोकेश्वर की धातु-प्रतिमा तथा चित्र नेपाल से मिले हैं। यह तो निर्विवाद है कि तंत्रयान के देवसमूह का प्रचार भारत से बाहर भी हुआ होगा। लोकेश्वर के मूल सिद्धान्त भारत में ही विदित था और यहीं से नेपाल आदि देशों में फैला। अतएव भारत के बाहर लोकेश्वर प्रतिमा उन मिश्रित मूर्तियों के द्वारा घृणित भावना की ओर संकेत करती है। भारत में जिसका प्रारम्भ हुआ वही विचार कालान्तर में बृहत्तर भारत में प्रचलित एवं विस्तृत हुआ।

तंत्रयान के घृणित विचार तथा ईर्ष्या-द्वेष के कारण ही साधनमाला में ऐसे वर्णन मिलते हैं जिसमें ब्राह्मण देवताओं या देवियों को पैर से कुचलते हुए बौद्धदेवता का उल्लेख आया है। उपरिलिखित मिश्रित देवी-देवता के अतिरिक्त साधनमाला में ऐसे ही विवरण मिलते हैं जिसमें विष्णु तथा लक्ष्मी को पददलित करने का उल्लेख है। भूतडामर का भी नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है जो ब्रह्मा तथा इन्द्र एवं अन्य लोकपाल, यम तथा काम आदि के गर्व का नाशक बतलाया गया है। वज्रयान की देवी मारीचि का वर्णन साधनमाला में उसी प्रकार मिलता है। इन्द्र तथा शिव उस देवी के सेवक कहे गए हैं। संक्षेप में यह कहना उचित होगा

कि साधनमाला में अनेक मिश्रित देवी-देवताओं का वर्णन उस घृणित विचार का परिचायक है जिसे तंत्रयान के कलाकार उपयोग में लाकर भारत में दोष के भागी बने। नालंदा संग्रहालय में महावीर की एक प्रतिमा सुरक्षित है जिसे लोकेश्वर पैरों से कुचल रहा है। इस प्रकार के नीच विचार अन्य मतों में नहीं मिलते।

हिन्दू देवता

ब्राह्मण मूर्तियों में 'हरिहर' की प्रतिमा मिश्रित कही जा सकती है। उसमें आधा भाग शिव (हर) तथा आधा विष्णु (हरि) का निर्मित है। सिरे की दाहिनी ओर जटा है, हाथ में त्रिशूल तथा सर्प है। बायीं ओर मुकुट, हाथ में चक्र तथा वनमाल दीख पड़ता है। ऐसी हरिहर की प्रतिमा भारत के प्रत्येक प्रांत में मिलती है। बादामी, मारवाड़, बंगाल, बिहार से अनेक हरिहर-मूर्ति प्रकाश में आई हैं। सभी में समान विशेषता है। इस मिश्रित प्रतिमा के निर्माण पर प्रकाश डालते समय वैष्णव तथा शिव-भक्तों में प्रेम-भाव का संचार ही मूल कारण मानते हैं। इससे अन्य मत पर किसी प्रकार की घृणा या ईर्ष्या के भाव प्रदर्शित नहीं होते। सम्भवतः वैष्णव तथा शैवों में मेल तथा सौजन्य उत्पन्न करने के निमित्त ही हरिहर प्रतिमा का निर्माण किया गया होगा।

इस प्रकार की संयुक्त प्रतिमा भारत से बाहर जावा में भी मिली है जिसमें तंत्रयान के अतिरिक्त महायान मत में हिन्दू तथा बौद्ध देवताओं को एक रूप में करने की भावना ने जोर पकड़ा। हरिहर के सदृश शिव और बुद्ध को भी निकटतम लाने का प्रयत्न किया गया। सम्भव है, शिव-बुद्ध के सम्प्रदाय का अस्तित्व वहाँ वर्तमान रहा हो। जावा-सुमात्रा में भैरव नाम की मूर्ति में शिव-बुद्ध का सम्मिश्रण पाया जाता है।

ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं में भी सम्मिश्रण का दृश्य दीख पड़ता है। साधारणतया सूर्य को सूर्यनारायण कहकर पुकारते हैं किन्तु इस नाम के पीछे यह रहस्य है कि सूर्य तथा विष्णु की विशेषताओं का मिश्रण है। इसी प्रकार मार्तण्डभैरव की मूर्ति भी शिव-सूर्य का सम्मिश्रण है। दीनाजपुर से एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसमें ब्रह्मा एवं सूर्य के स्वरूप मिले हुए हैं। ऐसी प्रतिमा-निर्माण के मूल में पौराणिक सिद्धान्त कार्य कर रहे थे। मत्स्यपुराण में ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं सूर्य को अभेद बतलाया है। गरुड़ पुराण भी शिव, दुर्गा, गणेश, सूर्य की पूजा का विधान स्मार्त ढंग से प्रस्तुत करता है यद्यपि विष्णु का सर्वोच्च स्थान उल्लिखित है। स्मृतिकार मनु अथवा याज्ञवल्क्य ने किसी विशेष प्रतिमा की पूजा पर बल नहीं दिया किन्तु पंचायतन पूजा का प्रसार हिन्दू समाज में हुआ। इस सिद्धान्त के आधार पर पंचायतन शिवलिंग का उदाहरण बिहार प्रदेश से उपलब्ध हुआ है।

इस प्रसंग में नाग, नागिन, गन्धर्व तथा किन्नर आकृतियों का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है। हिन्दू धर्म के गौण देवताओं में इनकी गिनती की जाती है।

इनकी बनावट में मिश्रण है। पशु तथा मनुष्य के अंग मिलाकर पूरी आकृति तैयार की गई थी। भरहुत वेदिका पर ही इलापट्रा नाग को यथास्थान विभिन्न रूप में दिखलाया गया है। नीचे का भाग सर्प का तथा ऊपरी शरीर मनुष्य का। यों तो वेदिका पर नाग-नागिन की मनुष्याकृति भी दीख पड़ती है। उनके सिरे पर नाग फन से नागराज का बोध होता है। उड़ीसा के अनेक मंदिरों पर अलंकरण के रूप में नाग-नागिन की मिश्रित आकृतियाँ खुदी हैं। गन्धर्व भी मालाधारी देवतुल्य हैं। महाभारत में गन्धर्व के राजा का उल्लेख है। मानसार में भी मालाधारी गन्धर्व का वर्णन मिलता है। भरहुत तथा बोधगया वेदिका पर गन्धर्वों की आकृतियाँ मिलती हैं जो प्रतीक स्वरूप बुद्ध पर माल्यार्पण कर रहे हैं। भारतीय कला में इनकी बनावट में धड़ तथा सिर मनुष्य का है किन्तु हाथों के समीप में पंख विद्यमान हैं। उन हाथों में माला धारण किये वायु में उड़ते दिखलाए जाते हैं। हिन्दूमत की मुख्य प्रतिमा के ऊपरी भाग में प्रभावली के दोनों तरफ गन्धर्व स्थित रहते हैं जिनका कार्य माल्यार्पण करना है। विष्णु, हर, गौरी, गणेश तथा कार्तिकेय की मूर्तियों में गन्धर्व सुन्दर रीति से प्रभावशाली पर खुदे हैं। किन्नर की भी चर्चा साहित्य में मिलती है। भारतीय कला में किन्नर की विचित्र आकृति मिलती है। प्रायः पूरा शरीर मनुष्य का दृष्टिगोचर होता है किन्तु सिर अश्व के सदृश है। शुंगकालीन वेदिकाओं पर किन्नर की आकृति खुदी है। नालन्दा में प्रस्तर पर खुदे किन्नर मिले हैं। इनका क्या अभिप्राय था, यह कहना कठिन है। सम्भव है, अश्वमुख आकृति किसी नीच विचार से परिचित कराती हो। किम् + नर का अर्थ ही है बुरा या विकृत पुरुष। कालिदास ने रघुवंश (४।७८) में वर्णन किया है कि रघु की वीरता के गान को किन्नरों ने गाया था।

जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्।

(५)

मंदिरों में प्रतिमा का स्थान एवं अनुपात

मन्दिरों के गर्भगृह में ही मुख्य प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है। प्रतिमा के अनुसार ही मन्दिर के प्राङ्गण तथा अन्य आकार-प्रकार तैयार किये जाते हैं। वैष्णव मन्दिर में विष्णु-आसन, स्थानक या शयन-प्रतिमा के कारण मन्दिर के दीवालों पर वैष्णव धर्म-सम्बन्धी अन्य कलाकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। आमलक के ऊपर चक्र दिखलाई पड़ता है। मुख्यद्वार के सामने गरुड़ की भी आकृति मिलती है। बेसनगर का हेलियोडोरस का विष्णुध्वज उसी का रूपान्तर मात्र है। पुरी के जगन्नाथ मन्दिर के मुख्यद्वार के बाहर गरुड़-ध्वज स्थित है। उसी तरह शैव मन्दिर में शिव की प्रतिमा, शिव-परिवार की आकृतियाँ तथा नन्दी की मूर्ति बनाई जाती है। त्रिशूल को देखकर ही कहा जा सकता है कि अमुक (मन्दिर) शिव-मन्दिर है। मन्दिर के गर्भ-गृह के चारों ओर लम्बवत् दीवार में अन्य आकृतियाँ खुदी मिलती हैं। भारत में प्रधान प्रतिमा के चारों ओर आवरण-देवता की मूर्तियाँ भी कलापूर्ण तैयार की जाती थीं।

मन्दिर के बाहरी भाग पर विभिन्न आकृतियाँ यथास्थान दीख पड़ती हैं। उनके परीक्षण से पता चलता है कि उन आकृतियों का कोई पृथक् स्थान निर्धारित नहीं किया जा सकता, किन्तु वे सब मन्दिर के स्थापत्यकला के अंग हैं। उन्हें मन्दिर के दीवाल की सतह से उभार कर बनाया गया है। प्रायः उनको एक सीध में रखते हैं जिससे सुन्दरता में किसी प्रकार की कमी न आ सके। खजुराहो के कन्दरिया महादेव के मन्दिर पर आकृतियों का यही क्रम दिखलाई पड़ता है। मन्दिर के दीवाल की मोड़ पर (Moulding) पूरे ढंग से आकृतियाँ उभार कर खोदी गई हैं। उस खुदाई में सभी आकृतियाँ धार्मिक भावना से सम्बन्धित हैं। उनकी खुदाई की सार्थकता में सन्देह नहीं किया जा सकता, पर उन्हें प्रासाद (मन्दिर) का अलंकरण भी कह सकते हैं।

मन्दिर के स्थापत्यकला की जो रूपरेखा तैयार हुई उसके अन्तर्गत सभी खुदाई का स्थान प्रायः निश्चित-सा हो जाता है। आकृतियों द्वारा बाहरी आकार-प्रकार का आभास नहीं होता। किन्तु मन्दिर की मुख्य प्रतिमा के सहायक रूप में अन्य मूर्तियाँ या आकृतियाँ तैयार की जाती थीं। मुख्य प्रतिमा का पृष्ठभाग दृष्टिगोचर न होने के कारण उसे समतल या चिकना करने की भी आवश्यकता न थी। इसी प्रकार चारों ओर स्थित आवरण देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ प्रस्तर के सम्मुख भाग पर खुदी मिलती हैं। आवरण मूर्तियाँ गहराई में खोद कर तैयार की जाती हैं और मन्दिर के उतार-चढ़ाव (Contour) में समुचित रूप से स्थिर की जाती हैं। तक्षण कला के इस तरह के नमूने मन्दिरों को सुन्दर एवं भव्य बनाने में योगदान करते हैं।

मन्दिर के प्रधान (गर्भगृह में स्थित) प्रतिमा से असम्बद्ध कुछ देवताओं की आकृतियाँ बाहरी दीवाल पर निर्मित हैं और विष्णु मन्दिर पर विभिन्न अवतार या शिव-परिवार के देवी-देवता अथवा अष्ट दिक्पाल को भी स्थान दिया गया है। मन्दिर के द्वार पर चौखट से सम्बद्ध कई प्रकार की आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। ऊपरी चौखट के केन्द्रभाग में मुख्य प्रतिमा का संक्षिप्त आकार (प्रतिमूर्ति) तथा दोनों ओर नदी देवता की मूर्ति खोदी जाती थी। इसके अवलोकन से एक समष्टि की भावना होती है। किसी भी तरह उनका पृथक्करण सम्भव नहीं है। स्थान के क्षेत्रफल (जिस स्थान पर आकृतियाँ बनाई जाती हैं) के अनुसार ही मूर्तियों का अनुपात या स्थान-विशेष का चुनाव किया जाता है। उनकी उपस्थिति से मन्दिर का सम्पूर्ण भाग चलायमान हो जाता है। आकृतियों की पीठ मन्दिर के दीवाल का एक प्रस्तर के रूप में प्रयुक्त किया गया है तथा स्थानक या आसन अवस्था में अनुपात के अनुकूल ही प्रतिमाएँ बनी हैं। खड़ी प्रतिमा में वक्षस्थल बाहर की ओर उभरा हुआ दिखलाई पड़ता है तथापि प्रतिमाएँ बोझरहित प्रकट होती हैं।

दैवी आकृतियों में विभिन्न प्रकार की बनावट, भंगिमा (शान्त या रौद्र रूप में) दिखलाई पड़ती है। चेहरों में चमक, प्रफुल्लित नेत्र, दिव्य दृष्टि आदि गुण प्रतिमाओं के अवलोकन से स्पष्ट हो जाते हैं। इन दैवी-गुणसम्पन्न मूर्तियों से मनुष्यों के सांसारिक उद्देश्य की बातें ज्ञात हो जाती हैं।

जिस स्थान पर नृत्य प्रतिमाएँ अथवा गन्धर्व, विद्याधर तथा गण की आकृतियाँ हैं वहाँ वस्त्र की बनावट उनकी गति को प्रकट करता है। उस तरह के आकार या प्रतिमा के वस्त्राभूषण देशविशेष के अनुकूल ही तैयार किए जाते हैं। धोती का यदा-कदा प्रयोग मिलता है। पर अन्य वस्त्र शरीर के विभिन्न अङ्गों से सम्बन्धित हैं। शरीर के घुमाव के साथ वस्त्रों में मोड़ दिखलाई पड़ता है, जिससे हम वस्त्र को अंग का भूषण भी मान सकते हैं।

मन्दिर की दीवाल पर एकाकी प्रतिमा स्थिर नहीं दिखलाई जाती थी जो दीवाल के साथ अभिन्न हो जाती हैं। प्रायः शरीर के बोझ को संतुलित करने के लिए त्रिभंग प्रतिमा तैयार की गई थी। देवी मूर्तियों के अतिरिक्त सामाजिक दशा को व्यक्त करते स्त्री आकृति (शृंगारमय) भी खुदी मिलती है। उनके द्वारा देशानुकूल जातियों के स्वभाव का भी प्रदर्शन मिलता है।

श्रीमती एलिस बोनेर ने गुफा तथा वास्तुकला से सम्बन्धित खुदे आकारों का विशेष अध्ययन किया है। उनका मत है कि मन्दिर-निर्माण में कतिपय नियमों का पालन होता है, किन्तु उन प्रस्तरों पर खुदे चित्रों के निमित्त किसी तरह के उपनियम नहीं मिलते। शिल्पशास्त्र खुदे आकारों की बनावट की ओर संकेत नहीं करता। उनसे इस बात की जानकारी नहीं होती कि किस तरह सभी मूलतत्त्व मिलकर शरीर (मन्दिर) की रचना में सहायता करते हैं। उसे सुरीला सस्वर तैयार करते हैं ताकि अन्तर्भूत भावनाओं का परिज्ञान हो जाय।

बोनेर ने ऐसी सभी खुदी आकृतियों का अध्ययन किया है। उनकी गणना के अनुसार प्रतिमा के नाभि अंश को केन्द्रबिन्दु मान लें तो सारी बनावट एक वृत्त के दायरे में समाविष्ट हो जाती है। नाभि केन्द्रबिन्दु से किसी चापमान को निश्चय कर यदि एक वृत्त खींचा जाय जिसमे ६, ८ या १२ रेखाएँ व्यास का रूप धारण कर लें, तो प्रतिमा की सीमा का ज्ञान हो जाता है। व्यास तथा परिधि के मेल पर खड़ी या पड़ी पंक्तियाँ खींची जायँ तो मुख्य खुदी मूर्ति तथा समीप के सभी आकार परिधि में आ जाते हैं। इस प्रकार रेखाओं के फैलाव से उनकी गति सीमित हो जाती है। बौद्ध-कला से यह अध्ययन अधिक सम्बन्धित है। इसे ब्राह्मण मूर्ति-निर्माण में भी लागू किया जा सकता है। दोनों कला में विश्वशक्ति का प्रदर्शन तथा रचना के श्रेष्ठ भाव स्थापित किये जा चुके हैं। उनके अनुसार प्रतिमा को लम्बवत् मान कर कार्य किया गया है। रचना के केन्द्रबिन्दु के आधार पर सारी बनावट के मध्य में मूर्ति रहती है तथा अन्य प्रतिमाएँ लम्बवत् अथवा पड़ी रेखाओं के मध्य स्थित दिखलाई पड़ती हैं।

वास्तुकला से सम्बन्धी जितनी प्रतिमाएँ (गुहा या मन्दिर) खुदी हैं उनमें वृत्त ही मूलतः निर्णयात्मक सीमा है। मध्यबिन्दु तथा परिधि में आकर्षण है जिसके अन्दर खुदे आकार अन्तर्हित हो जाते हैं। केन्द्र से जो गति ऊपर उठती है वह परिधि के बाहर नहीं जाती। यदि प्रस्तर की खुदाई (किसी देवता के आकार) का निरीक्षण किया जाय तो प्रकट होता है कि प्रत्येक अंग वृत्त की परिधि में समाविष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए विष्णु की वाराह मूर्ति। ऊपर की ओर पृथ्वी को

उठाए दीख पड़ते हैं तथा नीचे शेषनाग को कुचल रहे हैं। यह दोनों कार्य वृत्त के भीतर ही हो रहा है। प्रस्तर की खुदाई का विवेचनात्मक विभेद यह बतलाता है कि दृष्टि प्रमाण द्वारा खींचने का परिणाम स्पष्ट हो जाता है। मूर्ति की सुन्दरता तथा कलाकार की कुशलता को देखकर प्रतिमा की विशेषता का परिज्ञान सरल है परन्तु उसी रीति को वास्तविकता की जाँच के लिए कोई उपाय नहीं है। मेरी समझ में बोनेर के सिद्धान्त कसौटी पर नहीं उतर सकते। भारत के प्रसिद्ध शिल्प-शास्त्रों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जो खुदाई की रचना (प्रणयन) सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन करे। मूर्तियों की गति को व्यास तथा परिधि के वैज्ञानिक सम्बन्ध से स्थिर करना होगा।

यह सत्य है कि हिन्दूकला को भाषा तथा बनावट में अनिवार्य बातों का समावेश कलाकारों ने किया। उसका कारण यह है कि हिन्दू कलाविद् अनुमान से ही मूर्ति में परिवर्तन नहीं लाते थे किन्तु जो कल्पना सामने आती उसकी मूलतः आवश्यकता भी थी। उनके लिये प्रत्येक रेखा सार्थक थी तथा गतिशीलता में सार था, खड़ी एवं पड़ी रेखाएँ, उनका झुकाव, समानान्तर तथा मिलने की स्थिति आदि विषय हिन्दूकला में महत्त्वपूर्ण हैं।

(६)

आसन एवं मुद्रा

भारतीय कला प्रधानतः धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है और धार्मिक विशेषताओं को साथ लेकर विकसित हुई। प्रतिमा-निर्माण से पूजन कार्य को सुसम्पन्न करते हैं ताकि अलौकिक देवता के उच्चतम गुणों का समादर हो सके। यही कारण था कि उन आदर्शों का पालन करने के लिए देवी-देवता की मूर्तियाँ मनुष्य के आकार में तैयार की गयीं। कलाकारों ने मुद्रा के चिह्नों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की। भारतीय कला में मुद्राओं का प्रदर्शन गौरव के साथ मिलता है। भारतीय कला-सिद्धान्त तथा उसके प्रदर्शन में अधिक मेल दिखलाई पड़ता है। इस देश के सांस्कृतिक जीवन में कला का विशेष दायित्व रहा है। धार्मिक जीवन के उत्थान में प्रतिमा ने अत्यधिक हाथ बटाया तथा जिज्ञासा एवं इच्छाओं को पूर्ण किया है। भारतीय कला की आन्तरिक दृष्टिकोण के कारण प्रतिमाओं के शरीर या हाथ का विभिन्न ढंग से प्रदर्शन मिलता है। आसन में शरीर की विभिन्न अवस्था तथा मुद्रा में हाथ का प्रदर्शन करते हैं। इसी माध्यम द्वारा मूक देवी-देवता के विचार प्रदर्शित होते रहे हैं। साधारण भाषणकर्ता व्याख्यान के समय हाथों द्वारा भी विचारों की पुष्टि या उसकी अभिव्यक्ति करता है। अतएव मूर्तियों में भी एक निश्चित भाव की अभिव्यक्ति के लिए हाथ या शरीर की स्थिति द्वारा विशेष चेष्टा का संकेत मिलता है। श्री कुमारस्वामी ने उल्लेख किया था कि अत्यन्त प्राचीन समय से ही कला में विशेष स्थिति दिखलाई जाती रही और कालान्तर में मूकभावा के प्रतीक आसन एवं मुद्राएँ शान्तभाव के वाहक हो गए। देवताओं की भाव-भंगिमा, आसन तथा मुद्रा के सहारे व्यक्त हो जाते हैं। युगल प्रतिमा

में तो मुद्रा मूक वार्तालाप का परिज्ञान करा देती है। इस भारतीय कलाकार ने आसन मुद्राओं के द्वारा कला की अभिवृद्धि की तथा उन्हीं के सहारे भावों को व्यक्त किया।

भारतीय कला में खड़ी या बैठी प्रतिमा को अनेक ढंग से दिखलाने का सफल प्रयत्न किया गया है। खड़ी मूर्ति एक सीध में (तन कर) खोदी जाती जिसे 'कायोत्सर्ग' का नाम दिया गया है। कंकाली टीले से प्राप्त जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ या बिहार में निर्मित तीर्थंकर प्रतिमा 'कायोत्सर्ग' अवस्था में उपलब्ध हुई है। जब मूर्ति का कोई हिस्सा (ऊपर-नीचे) एक ओर झुका रहता है तो उसे 'अभंग' कहते हैं। उसी तरह अन्य प्रतिमाएँ 'त्रिभंग' अवस्था में भी दिखलाई गई हैं। इसमें निचला (कमर से पैर तक) भाग वाम भाग में खिसका रहता है। कमर से गले तक का अंग दाहिनी ओर झुका रहता है तथा सिर किसी दिशा में घूमा दीख पड़ता है। हिन्दू प्रतिमाओं में भगवान कृष्ण की मूर्ति 'त्रिभंग' रीति से दिखलाई जाती है।

खड़ी मूर्तियों 'अलीढ़पाद' में भी उल्लिखित हैं। इसमें दाहिना ठेहुना आगे बढ़ा रहता है तथा पैर पीछे की ओर रहता है। इस स्थिति से वीर भावना को दर्शाया जाता है। इसके विपरीत स्थिति को 'प्रत्यालीढ़पाद' कहा गया है। इससे विनाश की भावना की अभिव्यक्ति की जाती है। जैसे धनुषधारी किसी जीव को मार रहा हो। वज्रयान (मत) का देवता 'त्रैलोक्यविजय' प्रत्यालीढ़ ढंग से खड़ा प्रदर्शित है जिसके हाथों में अंकुश, तीर, धनुष, पाश, वज्र आदि आयुध दीख पड़ते हैं। इसका कठोर, भयंकर चेहरा तथा शिवपार्वती को कुचलने का कार्य प्रत्यालीढ़ स्थिति से मेल खाता है।

बैठी मूर्तियों की स्थिति को आसन का नाम देते हैं। हिन्दू प्रतिमाओं में आसन का महत्त्व है। यद्यपि कला में आसनों की संख्या अधिक नहीं है परन्तु हिन्दू देवताओं की पूजाविधि की अभिव्यक्ति योगदर्शन पर आधारित है। योग में (१) पद्मासन, (२) वीरासन, (३) भद्रासन, (४) स्वस्तिकासन, (५) दण्डासन, (६) पर्यङ्कासन, (७) ज्ञानासन, (८) वज्रासन, (९) योगासन तथा (१०) आलीढ़ासन के नाम मिलते हैं परन्तु हिन्दू प्रतिमायें कुछ ही आसनों में प्रदर्शित की गई हैं।

प्रायः ब्राह्मण प्रतिमाएँ निम्न रूप में (आसन सहित) दीख पड़ती हैं।

(अ) खड़ी, (ब) बैठी, (स) वाहन के पीठ पर बैठी तथा (द) शयन अवस्था में।

सभी आसन किसी-न-किसी विशेष स्थिति के द्योतक हैं। कमल या सिंहासन पर बैठी प्रतिमा में एक के ऊपर दूसरा पैर स्थित बनाया जाता है। उसे 'वज्रपर्यङ्क' (आसन) कहते हैं। इस स्थिति में देवता के ध्यान या चिन्तन की भावना प्रकट होती है। बुद्ध या महावीर की मूर्तियाँ वज्रपर्यंक आसन में ध्यान या मनन करती अथवा उपदेश देती दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ गंधार से सारनाथ शैली तक खोदी जाती रहीं। मध्ययुग के आरम्भ से दोहरे कमल के आसन पर बैठी मूर्तियाँ तैयार होने लगीं। इसमें प्रतिमा का एक पैर कमलासन पर है तथा दूसरा नीचे लटका रहता है। लटके पैर को भी दोहरे कमल पर रखते हैं।

इस रीति से बैठी प्रतिमा 'अर्धपर्यङ्क' या 'ललितासन' की स्थिति में कही जाती है। मगधशैली में निर्मित बैठी मूर्तियाँ अधिकतर ललितासन में दिखलाई गई हैं। हिन्दू तथा बौद्ध-प्रतिमाएँ इसी आसन में प्रदर्शित हैं। इससे कोमलता एवं प्रसन्नता की भावना व्यक्त की जाती है। आजकल कुर्सी पर दोनों पैर लटका कर बैठते हैं जिसे 'योरोपीय आसन' कहते हैं। कला में बुद्ध की मूर्ति इस स्थिति में भी बनाई जाती थी।

इसी रीति को सुखासन का नाम दिया गया है। सारनाथ में लोकेश्वर की बैठी प्रतिमा मिली है। किन्तु उसके बैठने का ढंग उपरिलिखित रीति से भिन्न है। लोकनाथ का बायाँ पैर आसन पर है। दाहिना पैर प्रतिमा के शरीर की तरफ ऊपर है। घुटना छाती की सतह में दीख पड़ता है। इसे 'महाराजलीला' आसन कहते हैं।

ब्राह्मण प्रतिमाओं में हाथ की विभिन्न दशाओं (मुद्रा) का प्रदर्शन कम मिलता है। बौद्धमूर्तियों तथा ब्राह्मण-प्रतिमाओं में वरद तथा अभयमुद्राएँ समान रूप में मिलती हैं। बौद्ध-मूर्तियों में प्रदर्शित मुद्राओं के स्थान पर ब्राह्मण प्रतिमाओं के हाथों में आयुध आदि दीख पड़ते हैं। परन्तु बौद्धमूर्तियों में ऐसी वस्तु वर्तमान नहीं है।

मूर्तियों में हाथ को भी नाना रीति से (हस्त-मुद्रा) दिखलाने का कार्य कलाकारों ने पूर्णरूपेण सम्पन्न किया था। हाथ की विभिन्न अवस्थाओं को नृत्य तथा नाटक में दिखलाने की आवश्यकता समझी गई, उसी का भरत ने नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है। नृत्य के साथ हाथ की गति का घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसके द्वारा काव्य तथा दर्शन के ऊँचे-से-ऊँचे विचार व्यक्त किये जाते हैं। नट तथा नर्तक या नर्तकी हाथ द्वारा अपने भावों को व्यक्त करती हैं। उस मूकभाषा से संगीतज्ञ जनता को आनन्द-विभोर कर देते हैं। उसके साथ-साथ कल्पना तथा अनुकरण का विशेष प्रयोजन भी मानते हैं। इसी को पृष्ठभूमि समझकर मूर्ति-निर्माण में भी हस्त-मुद्रा का समावेश किया गया।

भारतीय कला का इतिहास यह बतलाता है कि हस्त-मुद्रा का प्रदर्शन बौद्ध-प्रतिमाओं में अत्यधिक है। हिन्दू प्रतिमाओं में मुद्रा नहीं के बराबर है। मुद्रा का अध्ययन भी काल-क्रम के साथ ही कला में समाविष्ट हो पाया। महावीर तथा बुद्ध-प्रतिमाओं में सर्वप्रथम ध्यान-मुद्रा को स्थान दिया गया है। देवता की प्रतिमा वज्रासन (पर्यंक आसन) में कमल पर बैठी है। आँख आधे ही खुले हैं क्योंकि अर्धउन्मीलित नेत्र चिन्तन के भाव को प्रकट करता है। प्रतिमा के दोनों हाथ जाँघ पर एक के ऊपर दूसरा स्थित है, उसे ध्यान-मुद्रा कहते हैं। राव ने इसे योग या समाधिमुद्रा भी कहा है। एक हथेली पर दूसरा हाथ हथेली ऊपर किए रक्खा है। मथुरा से शंख, चक्र, गदा, पद्मयुक्त चतुर्भुजी विष्णु की भी एक प्रतिमा ध्यान-मुद्रा में भी उपलब्ध हुई है। ज्ञानप्राप्ति से पूर्व महावीर तथा बुद्ध भी ध्यान-मुद्रा में स्थित रहे जिसके पश्चात् उनको ज्ञान मिला। मथुरा से प्राप्त जैन आयागपट्ट के मध्य में महावीर ध्यान-मुद्रा में स्थित दिखलाए गए हैं। जैन-कला में इस मुद्रा का बहुत प्रयोग मिलता

है। सब से प्राचीन योगमुद्रा मोहेनजोदड़ो की मुहर (पशुपति नामक) पर दिखलाया गया है। परन्तु इसमें दोनों हाथ घुटने को स्पर्श कर रहे हैं। उज्जयिनी के सिक्के पर एक आकृति बैठी है, पर दोनों हाथों में समानता नहीं है। भगवद्गीता (६।१३) में योगी के रूप में बैठने का आदेश है पर उसका नमूना अभी तक उपलब्ध नहीं है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

कभी-कभी ध्यानमुद्रा की प्रतिमा में ऊपरी हथेली पर भिक्षा-पात्र भी दीख पड़ता है जो परिस्थिति को जटिल बना देता है। दूसरे मुद्रा को भूमिस्पर्श का नाम दिया गया है, जिस (मुद्रा) का प्रयोग केवल बौद्धमूर्तियों में हुआ है। सिद्धार्थ गौतम ज्ञान-प्राप्ति के लिए बोधगया में पीपल वृक्ष के नीचे बैठे थे। उस समय मार (कुत्सित विचार) उन पर आक्रमण करते रहे। सिद्धार्थ ने मार पर विजय पाकर बुद्धत्व लाभ किया। उन्होंने पृथ्वी को साक्षी के रूप में आवाहन किया। इसलिए उस हस्तमुद्रा का नाम 'भूमिस्पर्श' पड़ा। इसमें बुद्ध पद्मासन मारे बैठे हैं। बायाँ हाथ जाँघ पर है और दाहिना हाथ चौकी (पीठ) को स्पर्श कर रहा है। हथेली अन्दर की ओर है। तीसरे मुद्रा का नाम है धर्मचक्र-परिवर्तन'। ज्ञान-लाभ कर बुद्ध सारनाथ गए। वहीं पाँच भिक्षुओं को पहला उपदेश दिया। उस काल से बौद्धधर्म का प्रचार अन्यत्र होने लगा। अतः सारनाथ में उपदेश देने की घटना को 'धर्मचक्रपरिवर्तन' कहकर पुकारते हैं। बुद्ध पद्मासन में बैठे हैं। दोनों हाथ छाती के सामने हैं। बायें हाथ की हथेली छाती की तरफ मुड़ी है। दायीं हथेली सामने है। बायाँ मध्यम तथा कनिष्ठ नामक अंगुलियाँ दाहिने अंगूठे को स्पर्श कर रही हैं। बुद्ध की आँखें प्रायः बन्द-सी हैं (आधी खुली हैं)। मनन एवं चिन्तन भाव को व्यक्त कर रहो हैं। चौथी मुद्रा 'व्याख्यान' नाम से उल्लिखित है। बुद्ध स्थान-स्थान पर धर्मप्रचार के निमित्त भाषण करते रहे। 'व्याख्यान मुद्रा' धर्मचक्र मुद्रा' के विपरीत है। दोनों हथेलियाँ बाहर की ओर हैं। बायें अंगूठे को दाहिना अंगूठा तथा तर्जनी अंगुलियाँ स्पर्श करती दिखलाई गई हैं। वर्षावास के अवसर पर बुद्ध उपदेश दिया करते थे। उस समय की हस्तमुद्रा को व्याख्यान-मुद्रा कहते हैं। धर्मप्रचार के समय बुद्ध जनसाधारण को निर्भीक होकर कार्य करने का आदेश देते रहे। उस समय हाथ की स्थिति को 'अभयमुद्रा' कहा जाता है। यह हस्त-मुद्रा प्रायः खड़ी बुद्ध-प्रतिमा में पायो जाती है।

मनकुआर की बैठी बुद्ध-प्रतिमा में 'अभयमुद्रा' ही दिखलायी गयी है। ऐसा एक ही उदाहरण है। अभयमुद्रा में देवता का दाहिना हाथ ऊपर कंधे के सीध में तथा हथेली बाहर की ओर रहती है। खड़ी प्रतिमा में एक दूसरी मुद्रा भी दीख पड़ती है। उसे 'वरदमुद्रा' कहते हैं। बायाँ हाथ संघाटी पकड़े है। दाहिना कमर की सीध में नीचे है तथा हथेली बाहर की ओर दिखलाई गई है। ब्राह्मणधर्म में यज्ञ करते जिस रीति से आहुति देते हैं अथवा सूर्य को जल देते हैं उसी प्रकार इस 'वरदमुद्रा' में हथेली रहती है। बौद्ध-प्रतिमाओं में मुद्रा का जिस क्रम से ऊपर का वर्णन किया गया, उसी रूप से कला में प्रयुक्त होता रहा।

देवता के अतिरिक्त अन्य आकृतियों में कुछ 'हस्तमुद्रा' दिखलाये गए हैं जिससे उस व्यक्ति या उपासक की देवता के प्रति भावना अभिव्यक्त होती है। शैवमत में उपासकों के हाथ 'अंजलिमुद्रा' में होते हैं, जिस रीति से प्रणाम किया जाता है। खड़े होकर दोनों हथेलियों को मिलाकर भक्त सम्मान प्रकट करता है तथा उपासक उसी रीति से अपने हाथों को भी रखता है। वास्तव में 'अंजलिमुद्रा' उसी का नाम है। वैष्णव प्रतिमाओं में गरुड़ (वाहन) तथा संत लोग 'अंजलिमुद्रा' द्वारा ही भगवान् को आदर प्रदर्शित करते हैं।

रौद्र भाव को व्यक्त करने के प्रसंग में 'वज्रहुङ्कार' मुद्रा का प्रयोग मिलता है। वज्रयान देवता 'त्रैलोक्यविजय' दोनों हाथों में वज्र तथा घंटा लिये हैं। दोनों भुजाएँ (छाती के सामने) सीने से सटी हैं। उसे 'वज्रहुङ्कार' कहा गया है।

खड़ी प्रतिमाओं में 'कट्यवलम्बित मुद्रा' को भी स्थान दिया गया है। इसमें बाईं भुजा शरीर के समीप लटकी है तथा हाथ कमर को स्पर्श करता दिखलाया गया है। गुप्तयुग की बुद्ध-प्रतिमा में यह मुद्रा प्रदर्शित है। मनकुंआर की बुद्धप्रतिमा इसी मुद्रा के साथ तैयार है। हिन्दू प्रतिमाओं में विस्मय का प्रदर्शन एक विशेष हस्तमुद्रा द्वारा किया जाता है। चेहरे पर शान्ति है और आँखें ऊपर देख रही हैं। राम-सीता की युगल प्रतिमा में हनुमान विस्मय-मुद्रा में दिखलाई पड़ते हैं।

(७)

प्रतिमाओं का वस्त्राभूषण

प्रतिमाओं के वस्त्राभूषण अथवा पहनावा के विषय में अधिक लिखा नहीं गया है। संस्कृत साहित्य के नाटकों में इस बात की चर्चा मिलती है। वस्त्राभूषण का प्रयोग समयानुकूल तथा स्नान के अनुसार भिन्न रूप से किया जाता था। भरत-नाट्यशास्त्र में उल्लिखित है–

भूषणानां विकल्पं च पुरुष-स्त्री-समाश्रयम्
नानाविधं प्रवक्ष्यामि देशजानि समुद्भवम्।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (अध्याय ५८) में प्रतिमा के लिए निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

देशानुरूपभूषणवेषालंकार मूर्तिभिः कार्याः

इस प्रकार राजकीय वेष में सुन्दर वस्त्र तथा नाना आभूषण का प्रयोग होना स्वाभाविक है। बौद्ध-प्रतिमाओं में बोधिसत्व राजकुमार के पहनावा सहित प्रदर्शित हैं। सिर पर पगड़ी, चादर, प्रत्येक अंग में आभूषण तथा पैर में चप्पल दीख पड़ते हैं। वस्त्राभूषण के कारण ही बुद्ध-प्रतिमा से भिन्नता प्रकट हो जाती है।

बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण प्रतिमा के पहनावा में पर्याप्त विभेद पाया जाता है। विष्णु, इन्द्र, कुबेर तथा शक्ति मूर्तियों में सुन्दर तथा भड़कीले वस्त्राभूषण दृष्टिगोचर होते हैं। शिव, ब्रह्मा तथा अग्नि की प्रतिमा में वैराग्य की प्रधानता व्यक्त की जाती है अतः उन्हें योगी वस्त्र से सुसज्जित करते हैं। सूर्य तथा कार्तिकेय की मूर्ति में सेनानी

की भावना निहित है अतएव फौजी पहनावा का प्रदर्शन आवश्यक है। दुर्गा, लक्ष्मी, पार्वती, श्रीकाली आदि शक्ति-प्रतिमाओं को आर्य-ललनाओं के योग्य वस्त्राभूषण से विभूषित किया जाता है।

बौद्ध-प्रतिमाओं में बोधिसत्व राजकीय वेष में है तो बुद्ध चीवर सहित प्रदर्शित हैं। यद्यपि चीवर शब्द का अर्थ फटे-पुराने (चिथड़ा) कपड़े मानते हैं, परन्तु बौद्ध-भिक्षुओं का ऊपरी पहनावा चीवर नाम से प्रसिद्ध था। संस्कृत-साहित्य में चीवर बौद्ध-भिक्षुओं के ऊपरी वस्त्र के लिए प्रयुक्त मिलता है। चीवर कन्धे से पैर तक लटका रहता है। बुद्ध-प्रतिमा में कभी दोनों या एक कन्धा चीवर से ढँका रहता था। बाएँ हाथ से ऊपरी वस्त्र के किनारे को पकड़े प्रतिमाएँ प्रदर्शित हैं। वज्रयान देवता-समूह में वस्त्राभूषण का प्रयोग ब्राह्मण-प्रतिमाओं के सदृश होने लगा। बुद्ध के सिर पर भी किरीट-मुकुट बनाया गया। दोनों में समानता है।

जैन-प्रतिमाओं को दो मतों—(१) श्वेताम्बर तथा (२) दिगम्बर के अनुसार निर्मित करते रहे। अतएव श्वेत + अम्बर (सफेद वस्त्र) कहने से ही किसी वस्त्र का आभास मिलता है। प्रतिमाओं में वस्त्र के रङ्ग का ज्ञान कठिन कार्य है किन्तु श्वेताम्बर साधु सफेद रङ्ग के वस्त्र धारण करते हैं।

ब्राह्मण-प्रतिमाओं के वस्त्राभूषण की चर्चा निम्न प्रकार से की जा सकती है—

(१) वनमाल—विष्णु की लम्बी माला।

(२) कौस्तुभ—विष्णु के वक्षस्थल का रत्न।

(३) केयूर—बाहु का आभूषण।

(४) कुण्डल—कर्ण का भूषण।

(५) किरीट—विष्णु के सिर का मुकुट।

(६) पीताम्बर—पीत वस्त्र (वैष्णव मूर्तियों में)।

(७) उदीच्यवेष—उत्तर का पहनावा सूर्य प्रतिमा में—इसमें अंगरखा तथा पैर में लम्बा उपानह।

(८) कीर्तिबास—चमड़े का बना वस्त्र, शिव का बाघम्बर।

(९) जटामुकुट—बालों का निर्मित मुकुट।

(१०) शुक्लाम्बर—सफेद वस्त्र, ब्रह्मा का।

(११) कर्णवली—पार्वती का कर्णफूल।

(१२) लम्बक—वही।

(१३) कर्णपूर—कान का आभूषण फूल के आकार का।

(१४) मणिकुण्डल—रत्नजटित कान की बाली।

(१५) मेखला—रत्नजटित करधनी।

(१६) कंचुक—अंगरखा (लक्ष्मी का वस्त्र)।

(८)

देवता-चिह्न

देवता तथा तत्सम्बन्धी विचार की अभिव्यक्ति चिह्न द्वारा भी होती है। भार-

तीय कला में चिह्नों के सहारे देवप्रतिमा का समीकरण भी करते हैं। देव-चिन्तन के साथ ही चिह्न सामने उपस्थित हो जाते हैं। यानी प्रतिमा तथा उसके विचारों के मध्य चिह्न कड़ी का काम करते हैं। उदाहरणार्थ हाथी, इन्द्र का चिह्न (वाहन) है जो वैभव का द्योतक है। नन्दी धर्म का चिह्न होने के कारण महायोगी शिव का वाहन बना। चिह्न की प्रमुखता के कारण प्राचीन भारतीय कला 'प्रतीकात्मक कला' कही गई। प्रतीकों का अत्यन्त सुन्दर तथा सार्थक प्रदर्शन भारतीय कला की विशेषता है।

(१) स्वस्तिक—विष्णु का प्रतीक।
(२) शारंग—विष्णु का धनुष।
(३) चक्र-सुदर्शन—विष्णु का चक्र।
(४) शंख—वासुदेव का शंख।
(५) गदा—विष्णु की गदा।
(६) त्रिशूल—शिव का प्रतीक ।
(७) कपाल—शिव धारण करते हैं (कपालभृत)।
(८) पिनाक—शिवधनुष ।
(९) खट्वाङ्ग—कपाल सहित दण्ड (शैव)।
(१०) जटा—शिव की केशग्रंथि।
(११) कमण्डलु - ब्रह्मा का प्रतीक।
(१२) श्रुवा—वही।
(१३) कुण्डिका—वही।
(१४) अक्षमाल—ब्रह्मा की माला।
(१५) लड्डुक—गणेश का प्रतीक।
(१६) परशु—वही।
(१७) शक्ति—(भाला) कार्तिकेय का चिह्न।
(१८) पंचशर—पाँच बाण-काम का शस्त्र ।
(१९) कुलिश—इन्द्र का वज्र।
(२०) पाश—वरुण का चिह्न।
(२१) दण्ड—यम का प्रतीक।
(२२) खेट—ढाल। शक्ति का प्रतीक
(२३) अमृतघट—लक्ष्मी का चिह्न।
(२४) वीणा—सरस्वती का चिह्न ।
(२५) श्रीफल—लक्ष्मी का चिह्न ।

(९)

प्रतिमा का वाहन

विद्वानों की यह धारणा है कि पशु वाहन का प्रयोग मैसोपोटामिया में आरम्भ

हुआ था जिससे मनुष्य द्वारा पशुओं पर विजय प्राप्त कर मानव की अलौकिक बातें प्रदर्शित की गईं। पशुत्व को मिटाकार या पराजित कर मानवी गुणों का अभ्युदय करना मानव की एक महान विशेषता थी। सात्त्विक गुणों की अभिवृद्धि मानव की प्रतिमा का लक्षण माना जा सकता है। इसका प्रदर्शन धार्मिक जगत में हुआ और देवताओं के साथ विशेष पशु का सम्बन्ध सार्थक रूप में किया गया। त्रिदेवों में ब्रह्मा, बिष्णु तथा महेश क्रमशः हंस, गरुड़ एवं नन्दी पर सवारी करते हैं। हंस नीर-क्षीर का विवेकी है। ब्रह्मा के पश्चात् सरस्वती (विद्यादेवी) से भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया। विश्व के रक्षक विष्णु के शीघ्र गतिमान होने के लिए द्रुतगामी पक्षी गरुड़ को चुना गया। शिव का वाहन नन्दी है। नन्दी विषय एवं काम (अपने मांसल शरीर द्वारा) से भूतग्रस्त है अतएव काम के विनाशक शिव का वृषभ पर अधिकार एवं प्रभुत्व नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। इन्द्र ने ऐरावत को ग्रहण कर देवराज की संज्ञा ग्रहण की। हस्ति वैभव का प्रतीक तथा राज-दरबार का एक जीव माना गया है। अन्य देवताओं के वाहन का विवरण अगले पृष्ठों में उल्लिखित किया जायगा। भारतीय कला में कमल (पुष्प) का सबसे अधिक प्रयोग दीख पड़ता है। शेषशायी विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई जिससे ब्रह्मा स्वयं पैदा हुए। कमल जल से पैदा हुआ, अतएव वह विश्व की उत्पत्ति का स्वयं द्योतक है। सम्भवतः इसी कारण ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध तथा जैनमत में इसे अपनाया गया। ब्राह्मणमत में जीवन के दो अंग—अर्थ एवं धर्म को जीवधारी का रूप देकर उन्हें लक्ष्मी तथा सरस्वती की संज्ञा दी गई। लक्ष्मी से धन तथा सरस्वती से ज्ञान प्राप्त कर मानव जीवन सुखी हो सकता है। इसीलिए विश्व के पालनकर्ता विष्णु के साथ दोनों शक्तियों को सम्बद्ध कर दिया गया। कला में लक्ष्मी को कमलासन पर स्थित तथा सरस्वती के पार्श्व में कमल पुष्प खिलता प्रदर्शित किया जाने लगा। अशोक के स्तम्भ के शीर्षस्थ भाग में कमल का स्वरूप दीख पड़ता है। गुप्त राजाओं ने सिक्कों पर लक्ष्मी को कमलासन पर तथा देवी के हाथ में कमलनाल अंकित किया है। सूर्य-प्रतिमा के दोनों तरफ कमल की आकृति बनी है। बौद्धकला को गन्धार शैली में बुद्ध कमलासन पर बैठे हैं तथा बोधिसत्व के हाथ में कमलपुष्प दीख पड़ता है। इसी कारण उन्हें पद्मपाणि कहते हैं। सिंहनाद लोकेश्वर के हाथ में भी कमल है। बौद्धकला में बारहवीं शती तक कमल का प्रयोग मिलता है तथा मध्ययुगी कला में दोहरे कमल का आसन तत्कालीन कला की एक विशेषता मानी जाती है। सिंहासन के स्थान को कमलासन ने ले लिया। उसे सभी धर्मों के कलाकारों ने ग्रहण कर लिया। इस रूप में कलाविदों ने कमल को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। सम्भवतः विश्व-उत्पत्ति का स्मरण दिलाने वाला कमल भारत का पुष्पराज हो गया।

इस कमलासन का अनुकरण धातु-प्रतिमाओं में भी हुआ और भारत की कांस्य या ताम्रमूर्तियों में कमल ही प्रधान आसन दीख पड़ता है। दक्षिण भारत की नटराज प्रतिमा में अपस्मार के अधोभाग में दोहरे कमल का पीठ वर्तमान है। यहाँ तक कि भक्तों की मूर्तियों में (राजा होने पर भी) कमलासन ही निर्मित है।

कमल के आसन का प्रयोग भारत के बाहर भी बर्मा, हिन्द-चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपसमूह से प्राप्त प्रतिमाओं में दृष्टिगोचर होता है। कमल के प्रतीक को अत्यधिक रूप में ग्रहण कर कलाकारों ने प्रस्तर आसन को कमलरूप में अंकित कर अपनी कुशलता प्रदर्शित की है।

(१०)

विष्णु के २४ व्यूह स्वरूप

भगवान् विष्णु प्रतिमा की चार भुजाओं में चार आयुध—शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। शङ्ख विश्व की उत्पत्ति का द्योतक है। जल से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है और शङ्ख (जीव के साथ) जल में ही रहता है, जहाँ से प्राप्त कर प्रयोग में लाया गया है। चक्र, जिसे सुदर्शन-चक्र भी कहते हैं, विश्व के मस्तिष्क का प्रतीक है (विष्णुपुराण, १।२२।६८)। इस चक्र की परिधि की समता माया से करते हैं। उसके छः तीलियाँ हैं जो षड्ऋतु के द्योतक हैं। इस सुदर्शनचक्र से भगवान् राक्षसों का विनाश करते तथा साधुओं की रक्षा करते हैं। इसे कालचक्र मानना उचित होगा। गदा शक्ति का परिचायक है। अपवित्र राजा का नाश करता है। वह जीवन का पूर्ण तत्त्व है जिससे मानसिक तथा शारीरिक शक्ति उत्पन्न होती है। पद्म की शास्त्रकारों ने जगत से समता की है। पद्म जल से ही उत्पन्न होता है, सुन्दरता प्राप्त करता है, जिसका न रूप है न अन्त है। सृष्टि के तरल पदार्थ से उत्पन्न पद्म के आठ पंखुड़ियाँ होती हैं जो आठ दिशाओं का बोधक है। जल के गर्भ से कमल निकलता है तथा सरोवर के किनारे से दूर रहता है यानी उसे अशुद्ध वातावरण स्पर्श नहीं कर सकता। पद्म उस शुद्ध तत्व का प्रतिनिधित्व करता है जिससे धर्म तथा ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार विष्णु के चार आयुधों का प्रयोग शास्त्रकारों ने गूढ़तम अर्थ में किया है। कला में उसे विष्णु के हाथों में स्थान देकर मानव जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न किया गया है। विष्णु-प्रतिमा के चतुर्भुजी रूप में चार आयुध एक ही क्रम में नहीं दीख पड़ते हैं। शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म की विभिन्न स्थिति के कारण विष्णु के चौबीस नाम स्मरणीय माने गए हैं। उनका विवरण निम्न प्रकार है—

क्रमसंख्या	नाम	आयुध का क्रमिक स्थान			
		निचला दाहिना	ऊपरी दाहिना	ऊपरी बायाँ	निचला बायाँ
(१)	केशव	पद्म	शंख	चक्र	गदा
(२)	नारायण	शंख	पद्म	गदा	चक्र
(३)	माधव	गदा	चक्र	शंख	पद्म
(४)	गोविन्द	चक्र	गदा	पद्म	शंख
(५)	विष्णु	गदा	पद्म	शंख	चक्र
(६)	मधुसूदन	चक्र	शंख	पद्म	गदा
(७)	त्रिविक्रम	पद्म	गदा	चक्र	शंख

(८)	वामन	शंख	चक्र	गदा	पद्म
(९)	श्रीधर	पद्म	चक्र	गदा	शंख
(१०)	हृषीकेश	गदा	चक्र	पद्म	शंख
(११)	पद्मनाभ	शंख	पद्म	चक्र	गदा
(१२)	दामोदर	पद्म	शंख	गदा	चक्र
(१३)	संकर्षण	गदा	शंख	पद्म	चक्र
(१४)	वासुदेव	गदा	शंख	चक्र	पद्म
(१५)	प्रद्युम्न	चक्र	शंख	गदा	पद्म
(१६)	अनिरुद्ध	चक्र	गदा	शंख	पद्म
(१७)	पुरुषोत्तम	चक्र	पद्म	शंख	गदा
(१८)	अधोक्षज	पद्म	गदा	शंख	चक्र
(१९)	नृसिंह	चक्र	पद्म	गदा	शंख
(२०)	अच्युत	गदा	पद्म	चक्र	शंख
(२१)	जनार्दन	पद्म	चक्र	शंख	गदा
(२२)	उपेन्द्र	शंख	गदा	चक्र	पद्म
(२३)	हरि	शंख	चक्र	पद्म	गदा
(२४)	कृष्ण	शंख	गदा	पद्म	चक्र

नोट—रूपमण्डन (२१९) के आधार पर उपर्युक्त विवरण उपस्थित किया गया है।

(११)

गणेश के विभिन्न नाम

गणेश-प्रतिमा का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया गया है। मत्स्यपुराण में उनके सम्बन्ध में निम्न श्लोक मिलता है :

विनायकं प्रवक्ष्यामि गजवक्त्रं त्रिलोचनम्।
लम्बोदर चतुर्बाहु व्याल यज्ञोपवीतवान् ॥
स्वदन्तं दक्षिण करे उत्पलं च तथापरे।
लड्डुकं परशुं चैव वामतः परिकल्पते ॥

(मत्स्यपुराण)

विनायको नराकारो बृहत्कुक्षिर्गजाननः।
स्वदन्तं परशुं वामे लड्डुकं चोत्पलं शये ॥

(अग्निपुराण)

विनायक (गणेश) के तीन नेत्र, हाथों में लड्डू, परशु, दन्त तथा कमल दीख पड़ते हैं। शारदातिलक में गणेश के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है।

(१) विघ्नराज—चार हाथ विभिन्न आयुध तथा पदार्थ।

(२) गणपति—चार हाथ (दन्त, परशुपाश, अंकुश, लड्डू)।

(३) शक्ति गणेश - चार हाथ ।

(४) क्षितिप्रसादन गणेश—चार हाथ ।

(५) वक्रतुण्ड—चार हाथ ।

(६) हेरम्ब—अष्ट भुजा, बिजौराफल, गदा, धनुष, ढाल, भाला, कमल, पाश, बाण, दन्त, रत्नपात्र ।

(७) पीतगणेश —चार हाथ ।

(८) महागणपति—बारह भुजा ।

(९) विरंच-गणपति— दशभुजा ।

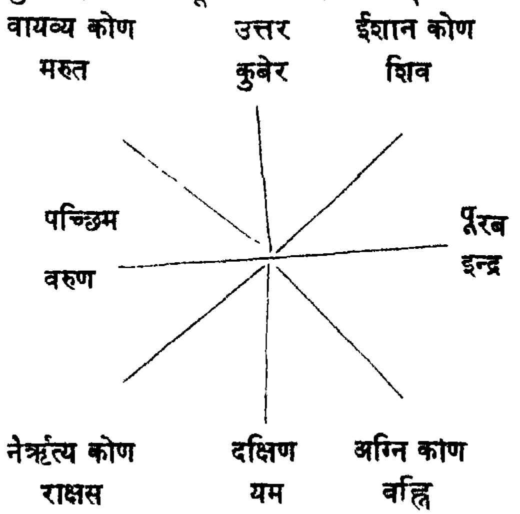
(१०) उच्छिष्ट-गणपति— चार भुजा ।

चतुर्भुजी गणेश की प्रतिमा लोकप्रिय है। पौराणिक विवरण के सदृश है। दोभुजी गणेशमूर्ति बहुत कम संख्या में उपलब्ध हुई है ।

(१२)

दिशा के देवता

इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत् ।
कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् ॥—अमर



(१३)

शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग

देवनाम	स्थान
१ ओंकार	मान्धाता
२ महाकाल	उज्जैन
३ त्र्यम्बक	नासिक
४ घृष्णेश्वर	इलौरा

५ नागनाथ	अहमदनगर
६ भीमशंकर	सह्याद्रि पर्वत
७ केदारनाथ	गढ़वाल
८ विश्वेश्वर	काशी
९ सोमनाथ	काठियावाड़
१० वैद्यनाथ	नेवर्पालि
११ मल्लिकार्जुन	श्री शैल पर्वत
१२ रामेश्वर	दक्षिण भारत (रामेश्वरतीर्थ)

(१४)

देवपूजन के षोडश उपचार

१ आवाहन	२ आसन	३ पाद्य
४ अर्घ्यं	५ आचमनीय	६ स्नान
७ वस्त्र	८ यज्ञोपवीत	९ अनुलेपन
१० पुष्प	११ धूप	१२ दीप
१३ नैवेद्य (उपहार)	१४ नमस्कार	१५ प्रदक्षिणा
१६ विसर्जन (उद्वासन)		

(१५)

आयुध की सूची

देवता (ब्राह्मणमत)

१ चक्र	विष्णु	१४ मुसल	बलराम
२ गदा	,,	१५ हल	,,
३ शारंग (धनुष)	,,	१६ शर (बाण)	कार्तिकेय
४ त्रिशूल	शिव	१७ खड्ग	,,
५ पिनाक	,,	१८ मुन्थी	,,
६ खट्वाङ्ग	,,	१९ मुग्दर (गदा)	,,
७ अग्नि	,,	२० खेट (ढाल)	,,
८ परशु	,,	२१ धनुष	,,
९ अंकुश	गणेश	२२ पटक (ध्वजदण्ड)	,,
१० पाश	,,	२३ परिघ	दुर्गा
११ शक्ति	सुब्रह्मण्य	२४ भाला (पट्टिष)	,,
१२ वज्र	इन्द्र	२५ चर्म	,,
१३ टंक	,,		

आयुध (अपराजित प्रछा नामक ग्रंथ में उल्लिखित)

१ त्रिशूल	१९ खट्वाङ्ग

२ क्षुरिका	२० धनुष
३ खड्ग	२१ बाण
४ खेटक	२२ पाश
५ अंकुश	२३ करटिका { सिर
६ घंटा	२४ कपाल } खोपड़ी
७ रिष्टिका (चार धार वाला)	२५ शीर्षक (शत्रु का शिर)
८ दर्पण	२६ सर्प
९ दण्ड	२७ शृंग (सींग)
१० शंख	२८ हल
११ चक्र	२९ खुटक (पाँच हाथ लम्बा भाला)
१२ गदा	३० पुस्तक
१३ वज्र	३१ अक्षमाल
१४ शक्ति	३२ कमण्डलु
१५ मुद्गर	३३ स्रक (छत्तीस अंगुल का भाला)
१६ भृशुण्डी (दो हाथ लम्बी गदा)	३४ पद्म
१७ मुसल	३५ पत्र
१८ परशु	३६ योगमुद्रा

नोट—अन्तिम सात आयुध नहीं है। परन्तु देवता के हाथों में स्थित प्रतीक।

(१६)

वाद्य की सूची

१ वीणा—सरस्वती	४ शंख—विष्णु	७ करताल—कार्तिकेय
२ वेणु—कृष्ण	५ घंटा—दुर्गा	
३ डमरू—शिव	६ मृदंग—कार्तिकेय	

नोट—वीणा सरस्वती के हाथों में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। किन्तु दक्षिण भारत के कतिपय शिव-प्रतिमा में वीणा विद्यमान है—शिव योगीश्वर नृतमूर्ति (होयसल कला), दक्षिण शिवमूर्ति तथा शिव वीणाधर (कांस्य-प्रतिमा) नामक मूर्तियाँ वीणा सहित खुदी हैं।

(१७)

महापुरुष-लक्षण

भारतीय कला में बुद्ध की जितनी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें अनेक ऐसे चिह्न (लक्षण) हैं जो साधारण पुरुष (व्यक्ति) में देखे नहीं जाते। अतएव उन्हें महापुरुष-लक्षण कहा जाता है। मज्झिम निकाय के ब्रह्मायु-सुत्तन्त (२।५।१) में बुद्ध के सारे ३२ लक्षणों के नाम उल्लिखित हैं जिनमें से कुछ हो प्रतिमाओं में

दीख पड़ते हैं। उन लक्षणों के सम्बन्ध में एक वार्ता कही गई है जिसमें मिथिला-निवासी ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण तथा उसके शिष्य माणवक का वार्तालाप वर्णित है। ब्रह्मायु महान् पण्डित था और उसे ज्ञात हुआ कि भगवान् बुद्ध पाँच सौ भिक्षुओं के साथ विदेह (देश) में चारिका (यात्रा) कर रहे हैं। गौतम बुद्ध का मंगलकीर्ति फैला हुआ था कि वह भगवान् अर्हत् हैं और ब्रह्मलोक सहित सब को प्रकाशित करते हैं।

उस ब्राह्मण ब्रह्मायु ने अपने शिष्य माणवक को सम्बोधित कर कहा कि शाक्य कुल के प्रव्रजित श्रमण गौतम विदेह में चारिका कर रहे हैं। ऐसे अर्हत् का दर्शन अच्छा होता है। किन्तु उस गौतम को जानना है कि यथार्थ में वह महापुरुष-लक्षण युक्त हैं या नहीं। मन्त्रों में बत्तीस महापुरुष-लक्षण माने गए हैं। माणवक, हाँ, भो कहकर आसन से उठ विदेह में जिधर भगवान् गौतम थे, चल पड़ा। वह भगवान् के समीप बैठकर बत्तीस महापुरुष-लक्षणों को ढूँढ़ रहा था। उन लक्षणों में से अधिकांश को उसने देख लिया। कथानक में आगे कहा गया है कि भगवान् को माणवक पर सन्देह हुआ। भगवान् ने ऋद्धि-प्रभाव प्रकट किया और शिष्य माणवक का सन्देह जाता रहा।

ब्रह्मायु का शिष्य भगवान् बुद्ध के साथ विभिन्न स्थानों का चारिका करते पुनः विदेह आया। मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान् ब्रह्मायु के समीप आकर बोला, भगवान् की कीर्ति सत्य है, यथार्थ हैं। वह गौतम बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से युक्त है। उन्ही का विवरण नीचे दिया जाता है :

(१) सुप्रतिष्ठितपाद—जिसका पैर जमीन पर बराबर बैठता हो।
(२) सर्वाकार-परिपूर्ण चक्र—पैर के निचले भाग में सहस्र-अरों वाले चक्र हों।
(३) आयात-पार्ष्णि—चौड़ी घुट्ठी हो।
(४) दीर्घ अंगुल—लम्बी अंगुलियाँ।
(५) मृदु-तरुण-हस्त-पाद—हाथ-पैर मृदुल हों।
(६) जाल-हस्त-पाद—अंगुलियों के बीच बत्तख के पंजे की भाँति चमड़ा।
(७) उस्संखपाद—गुल्फ ऊपर अवस्थित हो।
(८) एणीजंघ—मृग-जैसा पिंडुली भाग।
(९) आजानुबाहु—हाथों से बिना झुके जंघों को छू लेने वाला।
(१०) कोषाच्छादित वस्तिगुह्य—पुरुष इन्द्रिय।
(११) सुवर्ण वर्ण—कंचन समान त्वचा वाले।
(१२) सूक्ष्मछवि—जिसके काया पर (छवि=ऊपरी चमड़ा) मैल-धूल न जमे।
(१३) एकैकलोम—एक-एक रोमकूप में एक ही रोम हो।
(१४) ऊर्ध्वाग्र-लोम—नीचे बायें से दाहिनी ओर कुंडलित लोम ऊपर उठे हों।
(१५) ब्राह्म-ऋजु-गात्र—लम्बे अकुटिल शरीर।
(१६) सप्त-उत्सद—सातों अङ्गों में पूर्ण आकार।
(१७) सिंह-पूर्वार्द्ध-कार्य—सिंह की छाती-जैसा शरीर वाला।
(१८) चितान्त-रांस—दोनों कन्धों का बिचला भाग पूर्ण हो।

(१९) न्यग्रोध-परिमंडल—जितना शरीर उतनी ही चौड़ाई हो।
(२०) समवर्त-स्कन्ध—समान परिमाण वाले कन्धे।
(२१) रसग्ग-सग्गी – सुन्दर शिराओं वाला।
(२२) सिंह-हनु—सिंह के समान ठोढ़ी वाला।
(२३) चव्वालिस दन्त—४४ दाँत।
(२४) समदन्त – बराबर दाँत हो।
(२५) अ-विवर दन्त—बिना दरार वाले दाँत।
(२६) सु-शुक्ल-दाढ़—खूब सफेद दाढ़ वाला (चौड़े सफेद दाँत)।
(२७) प्रभूत-जिह्व—लम्बी जीभ।
(२८) ब्रह्मस्वर—पक्षी के-से स्वर वाला।
(२९) अभिनील-नेत्र – नीली आँखें।
(३०) गो-पक्ष्मा—गाय-जैसी पलक।
(३१) रोमराजी—भौंहों के बीच सफेद उर्ण्णा।
(३२) उण्णीस शीर्ष—पगड़ी-जैसी चारों ओर सम आकार के शिर वाला।

बौद्ध-कला के जितने नमूने उपलब्ध हुए हैं (प्रस्तर या धातु-प्रतिमा) उनमें अधिक लक्षणों का समावेश किया गया है। शरीर के बाहरी दृश्य लक्षणों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि बत्तीस महापुरुष लक्षणों से युक्त बुद्ध की मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं। दाँत तथा जीभ (लक्षण संख्या २२–२८) सम्बन्धी लक्षण अदृश्य होते थे अन्यथा अन्य लक्षणों का स्पष्टीकरण प्रतिमा के सूक्ष्म अवलोकन से हो जाता है। सारनाथ तथा मगध स्कूल की प्रतिमाओं में लक्षणों की संख्या अधिक प्रतीत होती है।

(१८)

प्रतिमा-पीठ तथा अंकित लेख

प्रतिमा निर्माण-शैली की विवेचना से ज्ञात होता है कि साकार मूर्ति की दोनों अवस्थाओं (स्थानक अथवा आसन) में एक आधारशिला की स्थिति नितान्त आवश्यक समझी गयी। जिस आधार पर मूर्ति खड़ी है या बैठी है, उसे पीठ कहते हैं। ईसा पूर्व सदियों में मौर्य या शुंगकला में जो आकृतियाँ बनी थीं, उनका कोई-न-कोई आधार (पीठ) मिलता है। मौर्यस्तम्भों के शीर्षस्थ आकृति (सिंह या बैल) सर्वदा पीठ पर (Abacus) दिखलाई पड़ती है। वेदिका स्तम्भों पर यक्ष अथवा यक्षिणी भी पीठ पर खड़ी दृष्टिगोचर होती हैं। मथुरा जैन-स्तूप की वेदिका स्तम्भों को देखने से वस्तु-स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। गन्धार, मथुरा, सारनाथ या मगध से उपलब्ध समस्त प्रतिमाओं में पीठ मूर्ति का एक आवश्यक भाग है। प्रतिमाओं के पीठ को कलाकार सादा, चिकना या अलंकृत करते थे। शुंगकालीन यक्ष-यक्षिणी जानवर या बौने पुरुष की पीठ पर खड़ी दिखलाई गई हैं। कालान्तर में ईसवी पूर्व प्रथम शती में पीठ को सादा अलंकाररहित तैयार किया गया। कुषाणकाल में दो प्रकार की पीठ तैयार

करने की परिपाटी चल पड़ी। विशालकाय खड़ी बुद्ध तथा जैन-प्रतिमाएँ (कायोत्सर्ग) अनलंकृत पीठ पर निर्मित हैं। किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से बौद्ध-प्रतिमाओं में पीठ पर सिंह की आकृतियाँ तैयार होने लगी। मथुरा की बुद्धप्रतिमा सिंहासन पर बैठी दीख पड़ती है। सिंह (जानवर) की आकृति से मूर्तियाँ कनिष्क अथवा वासुदेवकालीन समझी जाती हैं। कुषाणकालीन प्रतिमाओं में सिंहासन (सिंह सहित पीठ) विशेष रूप से तैयार किया गया जो आगे चलकर पद्मासन में परिवर्तित हो गया।

गुप्तकाल में भी प्रायः दो प्रकार की पीठ निर्मित होते रहे। पहला साधारण अनलंकृत जो मथुरा में बुद्ध तथा सुलतानगंज प्रतिमा में स्पष्ट दीख पड़ता है। दूसरे प्रकार में, बौद्धमत से सम्बन्धित आकृतियाँ पीठ पर खोदी जाने लगीं। मनुकुआर बुद्धमूर्ति में पीठ के मध्य में चक्र तथा दोनों किनारों पर सिंह दिखलाये गए हैं। सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्धमूर्ति की पीठ पर मध्य में स्थित चक्र के साथ पंच भिक्षुओं की आकृतियाँ उस घटना की याद दिलाती हैं जिनको मृगदाव में बुद्ध ने अपने मत में दीक्षित किया था। उन्हीं पाँच भिक्षुओं ने ऊरुवेला (वर्तमान बोधगया) में सिद्धार्थ का साथ छोड़ दिया था। चक्र से कुछ नीचे दो मृग खुदे हैं जो मृगदाव में धर्मचक्र-परिवर्तन के बोधक हैं। अतएव गुप्तकालीन प्रतिमा-पीठ पर बौद्धमत खुदे हैं। मध्ययुगी बौद्धमूर्तियों में सारनाथ परिपाटी का अनुकरण होने लगा। अतएव प्रस्तर या धातु की बुद्ध-प्रतिमा में सिंह को पीठ पर स्थान दिया गया। मध्ययुग के प्रतिमाओं की पीठ एक विशेष रूप से तैयार की गई जिसे दोहरा कमलासन कहते हैं। मगध में प्रायः सभी प्रतिमाओं में दो खिले कमल का प्रयोग पीठ के लिए होने लगा। दोनों डंठल के भाग से चिपकाएँ गए हैं। पुष्प के खिले भाग विपरीत दिशाओं में रखे गए है। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु-मूर्तियों के प्रतिमा पीठ उसी रूप में ढाले गए थे।

ब्राह्मण प्रतिमाओं में वाहन को ही प्रमुख स्थान दिया गया अतएव पीठ पर देवता के वाहन की आकृतियाँ सदा खुदी मिलती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिमा पीठ का निर्माण कलाकारों के लिए एक प्रश्न था। अधिकतर पीठ पर खुदी आकृतियों को धर्म से सम्बन्धित कर मुख्य प्रतिमा का एक आवश्यक भाग समझा जाता था जिस पर कलाकारों ने उचित ध्यान दिया।

अंकित लेख

भारत में अभिलेख अंकित करने की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। पिपरावा के भस्मपात्र पर लेख अंकित है। अशोक ने चट्टान तथा शिलास्तम्भ पर भी लेख खुदवाए। उसका एक विशेष महत्त्व था। यानी धर्मशासन को जनता तक पहुँचाना। साम्राज्य सीमा तथा चौमुख रास्ते पर अशोक के धर्मलेख खुदे मिलते हैं। उसके पश्चात् शुंगकाल में भरहुत वेदिका पर लेख अंकित कर जनता को उस प्रदर्शन का परिज्ञान कराया गया। किन्तु उस पद्धति को अन्य स्थानों पर त्याग दिया गया। साँची के दक्षिण तोरण पर शातकर्णी (सातवाहन राजा) का उल्लेख मिलता है जिसके शासनकाल में उस तोरण का निर्माण हुआ था। भारत में यूनानी शासकों ने सिक्कों

पर लेख (पदवी सहित नाम) खुदवाया जो शैली सदा के लिए मान्य हो गई। उस समय से भारत में आज तक सिक्कों पर उत्कीर्ण लेख पाए जाते हैं।

ईसवी सन् के आरम्भ से लेख खोदने का नया आधार काम में लाया गया जिसे 'प्रतिमा-पीठ' कहते हैं। कुषाणकालीन सिक्कों पर तो देवी-देवताओं के नाम अंकित हैं किन्तु पीठ पर उत्कीर्ण लेखों का विभिन्न उद्देश्य था। उनमें प्रमुखतया दान का उल्लेख किया गया है। विशेष बात यह है कि उस प्रसंग में शासनकर्त्ता (राजा) का नाम तथा तिथि अंकित की गई है। अतएव दान के उल्लेख होने के कारण उन छोटे लेखों को दान-अभिलेख कह सकते हैं।

कनिष्क के तीसरे वर्ष में सारनाथ में एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना की गई थी जिसका पूरा विवरण उस लेख में किया गया है— महाराजस्य कणिष्कस्य सं० ३ हे ३ दि० २० + २ एताये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्पबुद्धिस्य भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो छत्रयष्टि च प्रतिष्ठापितो वाराणसिये भगवतो चकमे सहामात ·············· ये सहा क्षत्रपेण वनस्परेण खरपल्लानेन च सहा चतुहि परिषाहि सर्वसत्वनं हितासुखात्थं।

साँची से प्राप्त बुद्ध-प्रतिमा पीठ पर अंकित लेख में मूर्ति-स्थापना का वर्णन मिलता है।

महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य वासिष्कस्य सं० + ८ रे दि० ५ एतस्यां पूर्वायां भगवतो जम्बुछाया ·············धर्मदेव विहारे प्रतिष्ठापिता खरस्य धितर मधुरिक देयधर्म।

वासुदेव के शासनकाल में (२८ + ७८) यानी ई० स० १०६ में मूर्ति की स्थापना मधुरिका ने किया था। इस प्रकार दान का उल्लेख प्राप्त हो जाता है।

कुशाणकालीन जैन-प्रतिमा-पीठ पर जो अभिलेख अङ्कित है उन्हें भी दान-लेख की श्रेणी में रखना उचित होगा। कुषाणनरेश हुविष्क के शासन के २९वें वर्षकाल में पुष्प, हथिनी तथा भिक्षुणी पुष्पदेवा सहित बोधिसत्व मूर्ति की स्थापना का वर्णन प्रतिमा-पीठ पर अङ्कित है - महाराजस देव पुत्रस हुविष्कस सम ३९ ऐतस्यां पूर्वायो भिखुनिये पशु हथिनिये सभिखुणिये बुध देवाये बोधिसत्वो प्रतिष्ठपापितो।

उसी शासक के ८४वें वर्ष में वर्धमान प्रतिमा की पीठ पर निम्न लेख मिलता है—

दमित्रस्या ओखरिकाए कुटुविनियेदताये दानम् वर्धमान प्रतिमा प्रतिष्ठापिता।

मथुरा से प्राप्त प्रतिमाओं की पीठ पर अभिलेख अंकित मिले हैं जिन पर १४ तथा २२ वर्ष खुदा है।

भगवतो पितामहस्य सम्यय सम्बुधस्य स्वमतस्य देवस्य।

प्रावरिक विहार बुद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठापिता (ए० इ०, भा० १९, पृ० ९६-६८)।

यह परिपाटी गुप्तकाल तक प्रचलित थी। कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा शिवलिङ्ग के आधारशिला पर (इसे पीठ नहीं कह सकते) ४३६ ई० का लेख खुदा है उसमें महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त मंत्री पृथिवीषेण द्वारा भगवान् महादेव पृथिवीश्वर की स्थापना का उल्लेख है। उसी गुप्तनरेश कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल

(ई० स० ४४८) में बुद्ध की प्रस्तर प्रतिमा की पीठ पर निम्न लेख मिलता है—ओं नमो बुधान । भगवतो सम्यक् सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्धमित्रेण ।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुप्तकाल तक प्रस्तर प्रतिमा-पीठ पर लेख अङ्कित करने की परम्परा से कलाकार विज्ञ थे । इन सब में राजा का नामोल्लेख तथा दान-कर्ता का नाम अङ्कित है । कुषाण लेख शककाल में (ई० स० ७८) तथा गुप्तकालीन लेखों में तिथि गुप्त - सम्वत् (ई० स० ३२०) में मिलते हैं।

मध्ययुग मे (७वीं सदी) धातु-प्रतिमाओं को ढालते समय साँचे में ही लेख अंकित कर दिया जाता था ताकि तैयार मूर्ति में लेख स्वयं स्पष्ट हो जाय । नालंदा तथा कुर्कीहर से प्राप्त धातु-प्रतिमाओं की पीट पर पालनरेशों के नाम, वर्ष में तिथि (राजा के शासन अवधि) तथा दानकर्ता के नाम अंकित हैं । इस युग के सौ से भी अधिक प्रतिमा-पीठ पर लेख मिलते हैं। कुर्कीहर के धातु-प्रतिमाओं के सदृश अन्य स्थानों—नालंदा तथा बिहार से भी उसी प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनको पीठ पर लेख तथा वर्ष खुदे हैं । कुर्कीहर से देवपाल के १९वें वर्ष, विग्रहपाल के १९वें वर्ष के दो, राज्यपाल के २८ एवं ६२ वर्ष के दो तथा महीपाल के दो प्रतिमा-पीठ लेख प्रकाश में आये हैं। बोधगया से गोपाल द्वितीय तथा महीपाल के प्रतिमा-पीठ लेख उपलब्ध हुए हैं। गोपाल द्वितीय का एक वैसा ही अभिलेख नालंदा प्रतिमा-पीठ पर खुदा मिला है । इस प्रकार बिहार प्रदेश में विभिन्न स्थानों से उपलब्ध प्रतिमाओं पर खुदे लेख प्रकाश में आ चुके हैं ।

प्रायः सभी लेखों में शासन-तिथियाँ मिलती हैं जिससे उस राजा के शासन-काल पर प्रकाश डाला जाता है । उदाहरणार्थ, नारायणपाल प्रायः ५४ वर्ष तक राज्य करता है जिसका उल्लेख उसके उदंडपुर बौद्ध-प्रतिमा की पीठ पर मिलता है—

"श्री नारायणपालदेव सम्वत् ५४ श्रीउदण्डपुर वास्तव्य राणक उच्चपुत्र ठारू-कस्य" कुर्कीहर से प्राप्त एक प्रतिमा-लेख मे राज्यपाल का ३२वें वर्ष का उल्लेख है—

स्वस्ति श्री राज्यपाल राज्ये मम्बच्छरे ३२
श्री मदायणक महाविहारे गोपालहिनो
भार्या वाटु काया : देवधर्म कृतम्

उसी की एक प्रतिमा नालंदा से मिली है जिसमें वागीश्वरी के दान का वर्णन है—सम्वत् १ आश्विन सुदी ८ परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री गोपाल राजनि श्री नालंदायां श्री वागीश्वरी भट्टारिका सुवर्ण ब्रीह सत्ता ।

बोधगया की प्रतिमा पर महीपाल प्रथम के ११वें वर्ष का लेख निम्न प्रकार से खुदा है—राजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक परम सौगत श्रीमान महीपालदेव प्रवर्द्धमान विजय राज्ये एकादशमे सम्वत्सरे अभिलिख्य माने··· ···· ।

उसी पालनरेश के शासनकाल में सुवर्णकार द्वारा प्रतिमा-दान का विवरण मिलता है--

स्वस्ति श्रीमन् महिपालदेव राज्य सम्वत् ३१ सुवर्णकार केसवस्स..........स्य देवधर्म्म.......... ।

इन समस्त लेखों के अध्ययन से—

(१) शासक के नाम (पदवी सहित)

(२ उसकी तिथि

(३) प्रतिमा का दान

(४) दानकर्त्ता का उल्लेख

(५) धार्मिक मन्त्र आदि

का परिज्ञान हो जाता है।

बौद्ध-प्रतिमाओं पर उपर्युक्त विवरण सर्वत्र तथा सदा नहीं मिलते, तो भी बौद्ध-मन्त्र का उल्लेख निश्चित रूप से पाया जाता है। रामपाल के चंडीमऊ (बिहार के समीप) प्रतिमा पर ४२वें वर्ष में मन्त्र का उल्लेख है।--

ये धर्महितु प्रभवा हेतुम् तेषां तथागतह्यवदत्,

तेषां च यो निरोधो एवम् वादी महाश्रमण: ।

प्रतिमा-पीठ के अतिरिक्त प्रतिमा के विभिन्न भागों पर भी खुदे लेख मिलते हैं। मध्ययुगी प्रतिमा के सिरे भाग पर प्राय: बौद्ध मन्त्र-'योधर्मा हेतु प्रभवा' खोदे जाते थे। दीनाजपुर से १२वीं सदी की सूर्य-प्रतिमा मिली है जिसके पीछे एक लेख मिला है जो भगवान् सूर्य के कार्य की ओर संकेत करता है—

सूर्य समस्त रोगानां हर्त्ता विश्व प्रकाशक: ।

सूर्य सब रोगों को दूर करने वाले तथा संसार को प्रकाशित करते हैं। यही कारण है कि सूर्य के पुजारी प्राय: वैद्य (चिकित्सक) हुआ करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तर या धातु-प्रतिमाओं की पीठ पर अथवा अन्य स्थानों पर लेख खोदने की परिपाटी थी जिसकी सार्थकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता।

(१९)

तालमान

यह शब्द ताल=ताड़ या हथेली की लम्बाई का परिज्ञान कराता है। हथेली की पूरी लम्बाई चेहरे की लम्बाई के बराबर है (यानी ललाट से ठुड्डी की लम्बाई)। इसी लम्बाई या मान को सिद्धान्तत: कलाकार प्रतिमा-निर्माण कार्य में प्रयोग करने लगे। मनुष्य का आकार ही कलाविद् के सम्मुख सर्वोपयोगी तथा सर्वोत्कृष्ट था, अतएव देवी-देवताओं की प्रतिमाएं मनुष्य के आकार को आदर्श मानकर तैयार की जाने लगीं। मनुष्य के शरीर का अनुपात सर्वोत्कृष्ट था। पैर से केश तक की लम्बाई=एक भुजा के मध्य अँगुली से दूसरी भुजा के मध्य अंगुली की नोंक तक। यदि दोनों भुजाएं पृथ्वी के समानान्तर फैला दी जायँ तो वह लम्बान पूरे शरीर की लम्बाई के बराबर हो जाता है। इस उत्तम अनुपात के ज्ञात हो जाने पर कलाकार देवी-प्रतिमाओं को मनुष्य के सदृश्य तैयार करने लगे।

साधारणतया नवताल (१ ताल = १२ अंगुल) को समुचित लम्बाई मानकर देवताओं की मूर्तियों को इसी अनुपात में तैयार किया गया। देवियों की लम्बाई को अनुमानतः कुछ घटाकर अष्टताल कर दिया गया। ब्रह्म के तीन विभिन्न स्वरूप (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को दस ताल में बनाया गया जिससे अन्य देवताओं से इन्हें पृथक् कर सकें। तात्पर्य यह है कि कला में ताल = हथेली के मापदण्ड से काम लिया गया। पर कलाविद् अन्ध-परम्परा के मानने वाले न थे। विष्णु के अवतार को किसी प्रकार घटकर देवी-शक्ति-सम्पन्न प्रतिमा बनाने का कोई कारण न था, तथापि तालमान के प्रसंग में वामन की मूर्ति सात ताल में बनाई गई थी। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सामयिक परिस्थिति को देखकर भी कलाकार लम्बाई के यथोचित माप को कार्यान्वित करते थे। निम्नलिखित ग्रन्थों में उल्लिखित तालमान, प्रतिमाओं के अंग तथा उनके माप पर प्रकाश डालता है। प्रतिमामान लक्षण (अ० ८५), शुक्रनीतिसार (अ० ४,४) मत्स्यपुराण, (अ० २५९), बृहत्संहिता (अ० ५७) आदि में इसका विशद विवरण मिलता है।

यहाँ इसका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि भारत में वैदिक युग से ही माप में अंगुल का प्रयोग किया जाता था। यज्ञ-वेदि का माप अंगुल से होता रहा। पुरुषसूक्त में विराट् पुरुष के दस अङ्गुल आकार में हो जाने का विवरण आया है। यही कारण था कि प्राचीन परम्परा के अनुसार तालमान मे अङ्गुल सारभूत अंश माना गया और शास्त्रीय ग्रन्थों में इसका प्रयोग किया गया। शुक्रनीतिसार तथा नारद पुराण में मूर्ति की ऊँचाई १०८ अङ्गुल के बराबर कही गई है।

तालमान के प्रयोग के विषय में कुछ मतभेद प्रतीत होता है। श्री गोपीनाथ राव का कथन है कि यदि कलात्मक कृतियों में कुछ दोष प्रकट होता है तो वह विकार शिल्पशास्त्र के नियम द्वारा नहीं, किन्तु कलाकार की न्यूनता द्वारा सामने आता है। डा० बनर्जी ने दूसरे प्रकार से कलात्मक दोषों पर विचार किया है। शास्त्रों मे जितने नियम, उपनियम बनाये गये, वे कलाकार की अनुभूतियों के परिणाम थे। कलाविद् की कार्यशैली में ह्रास होने लगा। उनके मनोभाव दृढ़ न रह पाये। अतएव उन लोगों ने शास्त्रीय नियमों का आश्रय लिया। तालमान के प्रयोग का यही प्रयोजन था। भारत में कलाकृतियों के अत्यन्त प्राचीन उदाहरण मिलते हैं किन्तु तालमान का प्रयोग चौथी सदी से पूर्व का नहीं प्रकट होता। सम्भवतः यह धारणा हो गई कि कुछ ही कलाविद् वास्तव में सुन्दर प्रतिमा बनाने में समर्थ थे अतएव दैवी-मूर्ति निर्माण को शास्त्र-सम्मत होना आवश्यक था ताकि उत्तम अनुपात में प्रतिमा तैयार हो जावे — शास्त्र मानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि। श्री अ० ना० टैगोर ने इस सम्बन्ध में अपना सुझाव रक्खा है कि पूजा-निमित्त प्रतिमा को शास्त्रीय रीति से तैयार किया जाता तथा शेष कार्यों में कलाकार स्वतन्त्र थे।

तालमान के सम्बन्ध में यह विचारणीय प्रश्न है कि विश्व में सब मनुष्यों की ऊँचाई एक-सी नहीं हो सकती। कलाकार केवल मनुष्य आकार को ही आदर्श मानकर देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ तैयार करने लगे। अतः एक माप की सभी मूर्तियों का

होना कठिन-सा ज्ञात होता है। स्त्री-पुरुष की ऊँचाई में भी भेद रहता है। यही कारण है कि कला में देवी-प्रतिमाएँ अष्टताल (९६ अंगुल) में बनाई गयीं जब कि देवता नव या दस ताल में तैयार किए गए। बृहत्संहिता (अ० ५७) में १०८ अंगुल के बराबर मनुष्य की ऊँचाई का उल्लेख है जो नवताल भी कहा जा सकता है। इस ऊँचाई की मूर्ति को वराहमिहिर ने उत्तम श्रेणी की प्रतिमा कहकर वर्णित किया है।

वैखानसागम (अ० २२) में दस तथा अष्टताल का उल्लेख है। यानी दस ताल की इकाई १।१२० यानी अङ्गुल हुआ। उसी प्रसंग में बारह अङ्गुल की लम्बाई को ताल के नाम से उल्लिखित किया गया है।

मत्स्य पुराण (अ० २५९) दाशरथि राम की प्रतिमा को दस ताल तथा वामन को सप्त ताल में वर्णन करता है। इस सम्बन्ध में सभी विषयों का अध्ययन यह बतलाता है कि यद्यपि बारह अङ्गुल के माप से प्रतिमा आदि आकार की लम्बाई-चौड़ाई नापी जाती थी, किन्तु तालमान शब्द या रीति का प्रयोग कालान्तर में हुआ। यह तो ध्रुव सत्य है कि प्राचीन तथा मध्ययुग के कलाकार तत्कालीन रीतियों का अनुसरण करते थे। यदि उनके हाथों निर्मित प्रतिमा को देखते हैं तो वास्तविक माप तथा शास्त्रीय वर्णन में भेद नहीं प्रकट होता। प्राचीन मूर्तियाँ मध्ययुगी प्रतिमा के समान हैं।

प्रतिमालक्षण में बुद्ध की मूर्ति १२० अङ्गुल ऊँची (दस ताल माप से) तैयार करने का विधान पाया जाता है। उसका बँटवारा निम्न प्रकार है—

(अ) उष्णीस	४	अङ्गुल
केशस्थान	२	,,
चेहरा	१३½	,,
गर्दन	४	,,
छाती	१२	,,
छाती से नाभि	१२½	,,
नाभि से शिश्न या योनि	१२½	,,
जंघा	२५	,,
घुटना	३	,,
टाँग की नली	२५	,,
(घुटना से घुट्ठी—गुल्फ तक)		
(घुट्ठी)	२	,,
पार्ष्णी (एँड़ी)	४	,,
	१२०	अङ्गुल

(ब) शुक्रनीति के अनुसार शरीर के भाग का बँटवारा—

चेहरा	१३ अंगुल
गर्दन	५ ,,
गर्दन से छाती	१३ ,,
छाती से नाभि	१३ ,,
नाभि से शिश्न तक	१३ ,,
जंघा	२६ ,,
घुटना	५ ,,
टाँग की नली (घुटना से घुट्ठी तक)	२६ ,,
एँड़ी	५ ,,
	११९ अंगुल

(स) मानसार में उल्लिखित माप—
(देवी-प्रतिमा के सम्बन्ध में)

मुकुट से केशपक्ति	४ अंगुल
ललाट	५ ,,
नासिका	४ ,,
ओठ से ठुड्डी	३½ ,,
गर्दन की जोड़	½ ,,
गर्दन	४ ,,
गर्दन से छाती	१३ ,,
छाती से नाभि	१३ ,,
नाभि से जननेन्द्रिय	१३ ,,
जंघा	२६ ,,
घुटना	४ ,,
घुटने से घुट्ठी	२६ ,,
	१२० अंगुल

भारतीय प्रतिमाओं में नवताल का प्रयोग लम्बाई को ध्यान में रखकर किया जाता था। नवताल शारीरिक रचना के अनुपात से सम्बन्धित रहता था। शरीर के विभिन्न अङ्गों का बँटवारा भी अनुपात में हाथ बटाया करता। चेहरे की तिहाई लम्बाई को खोपड़ी की लम्बान में जोड़ दिया जाता था।

नवताल में पैर लम्बा तथा धड़ सापेक्ष्य छोटा होता है।

शरीर की लम्बाई के अनुकूल ही अष्ट या सप्तताल का उपयोग कलाकार करते थे। इसीलिए देवी-प्रतिमा को अष्टताल तथा वामन पुरुष को सप्तताल के अनुसार

तैयार किया करते थे। मुकुट सदा चेहरे की लम्बाई से अधिक रहता है। इसीलिए मुकुटयुक्त देव-प्रतिमा साधारणतः मनुष्य के आकार से बड़ी हो जाती है।

नवताल के अनुसार प्रतिमा-निर्माण—

चेहरा	१२ अंगुल
गर्दन	४ ,,
गर्दन से छाती	१२ ,,
छाती से नाभि	१२ ,,
नाभि से शिश्न	१२ ,,
जंघा	२४ ,,
घुटना	४ ,,
घुटने से घुट्ठी	२४ ,,
पैर	४ ,,
	१०८ अंगुल

अष्टताल में देवी-प्रतिमा का अनुपात—

चेहरा	१२ अंगुल
गर्दन	४ ,,
गर्दन से छाती	१० ,,
छाती से नाभि	१० ,,
नाभि से योनि	१० ,,
जंघा	२१ ,,
घुटना	४ ,,
घुटना से घुट्ठी	२१ ,,
पैर	४ ,,
	९६ अंगुल

सप्तताल में वामन मूर्ति का अङ्ग निम्न अनुमान से तैयार किया जाता था।

चेहरा	१२ अंगुल
गर्दन	३ ,,
गर्दन से छाती	९ ,,
छाती से नाभि	९ ,,
नाभि से शिश्न	९ ,,
जंघा	१८ ,,
घुटना	३ ,,
घुटने से घुट्ठी	१८ ,,
पैर	३ ,,
	८४ अंगुल

(२०)

देवयात्रा या रथयात्रा

भारत में प्राचीन काल से मूर्तिपूजा का प्रचार रहा है। इसका इतिहास प्रागऐ-निहासिक युग से आरम्भ होता है। विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों में मूर्तियों के प्रकार, धातु, प्रस्तर तथा पूजनविधि पर प्रकाश डाला है। जनता के पूजन हेतु सात प्रकार के वस्तुओं से निर्मित भगवान् प्रतिमा का उल्लेख है। सुवर्ण, रजत, ताम्बा, मिट्टी, प्रस्तर, काष्ठ तथा कनवस पर आधारित मूर्ति का विवरण मिलता है। पूजा के निमित्त चल तथा अचल प्रतिमाओं का वर्गीकरण किया गया है। चल के लिए काष्ठ तथा धातु (की मूर्तियाँ) तथा अचल के लिए प्रस्तर की प्रतिमाएँ तैयार करने का विधान है। जगन्नाथ की प्रतिमा काष्ठ की बनी है तथा धातु का प्रयोग उत्तर युग में अधिकता से होने लगा। चल मूर्तियों को उत्सव या त्यौहार के सुअवसर पर यात्रा के निमित्त निकाला जाता था। उसे रथयात्रा कहते हैं। रथयात्रा में उत्सवमूर्ति सुवर्ण या ताम्बे की प्रायः बनती रही। जगन्नाथ की काष्ठ-प्रतिमा उसका अपवाद है।

प्राचीन लेखों मे इस यात्रा का विशद वर्णन मिलता है। यह पर्व आषाढ़ मास की शुक्ल द्वितीया (आषाढ़ द्वितीयायां) को धूमधाम से मनाया जाता है। विभिन्न लेखों में अन्य तिथि का भी उल्लेख है। एक लेख (इ० ए०, भाग ११, पृ० ५२) में विवरण आया है कि यह पर्व शिवरात्रि के अवसर पर मनाया जाता था। किन्तु शास्त्रीय विधि से रथयात्रा आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को सम्पन्न होनी चाहिये। पुराने भारतीय लेखों मे (दानपत्रों में) इस यात्रा का विशद वर्णन आया है। इस कार्य को दान में दी गई भूमि, द्रव्य तथा अन्य पदार्थ द्वारा सम्पन्न किया जाता था। मध्ययुगी अभिलेखों में ऐसा उल्लेख पाया जाता है। चाहमाननरेश के दानपत्र में रथयात्रा का वर्णन है। विग्रहराज के हर्ष लेख में (वि० स० १०३०) पुष्करतीर्थ के समीप रथयात्रा के अवसर पर चार ग्रामदान का वर्णन मिलता है।

ग्रामांश्चतुरश्चंद्रांकशिखरोपि भगवते श्रीहर्षदेवाय पुण्येहनि श्रीमद् पुष्करत्तीर्थे।

उसी वंश के नाडलाई दानपत्र (वि० सं० १२००) में इस बात का उल्लेख है कि रथयात्रा के अवसर पर राजा धनीमानी व्यक्तियों पर कर लगाया करता था। उसमे एक तैल-व्यवसाय को दो पलिका (तौलमाप) तैलदान में देने का वर्णन है। नक द (विंसोपक) कर के रूप में लिया जाता था। अन्य लेखों में तैलदान का विवरण पाया जाता है। ओं स्वस्ति सम्वत् १२०० जेष्ठ सुदी ५ गुरौ श्री महाराजाधिराज श्री रामपालदेवेन राज्ये रथयात्रायां आगतेन राजदेवेन आत्मा पाइलामध्यात् सर्व्वसाउतपुत्रं विंसोपक पालिकाद्वयं दत्तः (ए० इ०, भा० ११, पृ० ४२)।

समस्त तैलकाश्रेण्या प्रतिकोल्हूं मासि मासि शुक्लनवम्यां तैलपलिका पलिका दातव्येः यज्ञयानिमित्ता प्रदत्ता (ए० इ०, भा० १)।

उपरिलिखित देवकुलाभ्यां द्वाभ्यामपि दीप तैलाथं।

(वही, भा० १४, पृ० १९२)

राजस्थान के शासक उदयसिंहदेव के भीनमलदानपत्र में रथयात्रा के अवसर पर चालीस द्रम (रुपया) एकत्रित करने का वर्णन है जिसे देवयात्रा के मंगलमय कार्य में व्यय किया जावे। मध्यप्रदेश के अंजनेरी ताम्रपत्र में निम्नलिखित वाक्य उल्लिखित है—

प्रत्येकं रूपकः देवस्य यात्रोत्सवे दातव्यम्।

(कल्चुरी संवत् के लेख का० इ० इ०, भा० ४, पृ० १५०)

इससे पता चलता है कि रथयात्रा के समय लोग एक रुपया दान में देते थे अथवा देवता पर अर्पित करते थे। हिन्दू दानपत्रों में रथयात्रा का जो वर्णन है वैसा ही विवरण चाहमान अभिलेख में जैन देवताओं के रथयात्रा निमित्त पाया जाता है। लखनपालदेव के लालराई दानपत्र (विक्रम-संवत् ११३३) में जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ की देवयात्रा का वर्णन है—

समस्त सिर सहिते खाडिसीर जवमध्यात् जवा ते
४ गुजरी यात्रानिमित्तं श्री शान्तिदेवस्य
दत्ता पुण्याय यः कोपि लुप्यते रू पावनो
छिद्दते (ए० इ०, भा० ११, पृ० ५१)

जैनतीर्थंकरों की देवयात्रा के अवसर पर वणिक् द्वारा कर चुकाने का भी उल्लेख चाहमाननरेश अल्हणदेव के लेख में मिलता है। इससे प्रकट होता है कि रथयात्रा के अवसर पर शासक द्वारा कर लगाने तथा जनता द्वारा दान की परिपाटी चल पड़ी थी। अतः दान के विवरणों से स्पष्ट है कि रथयात्रा (देवयात्रा) का स्वरूप बड़ा बृहद् था। अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऐसे पुण्य तथा पवित्र अवसर पर जनता इसमें भाग लेती थी। मधुरमय संगीत सहित इस देवयात्रा का कार्य सम्पन्न किया जाता था। इस पुनीत अवसर पर देव-प्रतिमा (जो प्रायः धातु-प्रतिमा होती थी) को मन्दिर से हटाकर सुन्दर रथ पर बिठाकर शोभायात्रा सुसम्पन्न की जाती थी। फाहियान ने देवता की रथयात्रा का वर्णन किया है। उस देवयात्रा में पुराने समय में संगीत का विशेष आयोजन किया जाता था। वस्त्रों से सुसज्जित होकर रथयात्रा में सम्मिलित होते थे।

यत्रदिने यत्र देवयात्रा भवति तथापर समस्त देवानां सक्त प्रमदा कुलैः सर्वे साकल्पैः सुवस्त्रैः वाद्ययंत्रगानादि विधिना यात्रा कर्तव्याः।

पुरी के जगन्नाथ भगवान् की प्रतिमा (काष्ठमूर्ति) की रथयात्रा में लाखों नर-नारी सम्मिलित होते हैं।

भगवान् जगन्नाथ का रथ विशालकाय है जिसे सभी नर-नारी चलाने में सहायता करते हैं। मन्दिर से वासुदेव (जगन्नाथ), बलराम एवं सुभद्रा की काष्ठ-प्रतिमा रथयात्रा में निकाली जाती है। श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली, मद्रास) तथा पद्मनाभ (त्रिवेन्द्रम्, केरल) भगवान् के मन्दिरों से स्वर्णप्रतिमा 'उत्सवमूर्ति' के नाम से पुकारी जाती है क्योंकि वही देवयात्रा में रथ पर बैठायी जाती है। राजपुताना के जैन धर्मावलम्बी रथयात्रा क्योंकर मनाने लगे? अपने मत में इस

प्रकार के नवीन विचार को किस कारण अपनाया ? सम्भवतः राजपुताना के जैनी भुवनेश्वर (उड़ीसा) के समीप खण्डगिरि पर स्थित जैन-प्रतिमाओं के पूजन हेतु उड़ीसा गये और वहाँ भगवान् जगन्नाथ की रथयात्रा देखी। यही कारण है कि देवयात्रा से आकृष्ट हो उन जैनयात्रियों ने राजपुताने में तीर्थङ्कर की रथयात्रा आरम्भ कर दी। राजपुताने के शासक ने तीर्थङ्कर की रथयात्रा पर जनता पर कर भी लगाया ताकि आय को उत्सव में व्यय किया जा सके। बौद्ध लोगों ने भी रथयात्रा को अपनाया था। फाहियान ने उल्लेख किया है कि बृहत्तर भारत (खोतान, मध्य एशिया) में बुद्धप्रतिमा को रथयात्रा में निकाला जाता था। कम्बोजदेश में भी रथयात्रा का प्रचार था। दानपत्रों तथा अभिलेखों में रथयात्रा, देवयात्रा या पर्वयात्रा शब्दों का प्रयोग मिलता है। इससे प्रकट होता है कि रथयात्रा (जिसे देवयात्रा भी कहा जा सकता है) एक विशिष्ट पर्व था।

(२१)

भारतीय कला में रस की अभिव्यक्ति

भारतीय शिल्प का अङ्ग-प्रत्यङ्ग रसात्मक है।

रस का साङ्गोपांग विवेचन भारतीय साहित्य में मिलता है। शास्त्रीय विवेचन में अनेक प्रश्नों का सुविवेचित वर्णन उपलब्ध है। रस का सर्वप्रथम विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भारतीय कला के मूलभूत कुछ ग्रन्थों में भी रस का प्रतिपादन किया गया है। अग्निपुराण में रस का संक्षिप्त उल्लेखमात्र उपलब्ध है। छठी सदी के विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भरत के आधार पर संक्षेप में चर्चा की गई है। किन्तु इसमें कोई नवीनता नहीं जान पड़ती। कला-कृतियों में समय के अनुकूल रस का समावेश होता आया। अतः कला में रसाभास का प्रश्न प्रस्तुत करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कला के परीक्षण से रस का विवेचन करना उचित होगा। हृदय की मुक्तावस्था ही रसदशा कहलाती है। साहित्य में रस का प्रयोग काव्यास्वाद के लिए हुआ है, किन्तु कला में रस की अभिव्यक्ति ने जीवन प्रदान किया है। स्वाद के अतिरिक्त उसमें सजीवता आ जाती है। कला में रस द्वारा एक प्रकार का विलक्षण, अलौकिक तथा अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में 'रसो वै सः' कहकर ब्रह्म को ही आनन्द का रूप बतलाया जाता है। आनन्द ही ब्रह्म है। अतः कलाकृतियों को देखकर मनुष्य आनन्द की प्राप्ति करता है। कलाकार योगी है। ध्यानावस्थित होकर ही कला में रस को भर सकता है। उस योगी की अनुभूति की तुलना आनन्द से कर सकते हैं।

रस आस्वाद रूप में एक होकर भी मुख्यतः आठ प्रकार का माना गया है—

(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) रौद्र, (४) करुण, (५) वीर, (६) बीभत्स, (७) भयानक, (८) तथा अद्भुत।

इन आठ रसों की कल्पना ही दृश्यकाव्य के प्रसंग में की जाती है तथा बाद में शान्त रस भी जोड़ दिया गया।

कदाचित् इसी समस्या से प्रेरित होकर आचार्यों ने रसों को दो भागों में विभाजित किया है—(अ) सुखात्मक रसों में श्रृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत तथा शान्त को गणना की गई है। (ब) करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक को दुःखात्मक वर्ग में रक्खा गया है।

कला का उद्गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से होता है इसीलिए कला में मानसिक सौंदर्य की योजना है। परिस्थितियों के अनुकूल कल्पना में डूबकर कलाकार रस का अनुभव करता है। दुःख-सुख के साथ मन के सन्तोष के लिए कलाकृतियों का निर्माण करता है। इससे मन का रंजन तथा विगत अनुभवों की सुखद पुनरावृत्ति होती है। आनन्द का दान मात्र ही कला का उद्देश्य है। इस कारण देश-काल की परिस्थितियों से ऊपर उठकर कलाकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है। वह भी अन्य प्राणियों के सदृश सुख-दुःख से बँधा है अतः विचारों के संघर्षरूप उसके भीतर आन्दोलन होता रहता है। वह व्यक्ति सदा समरस नहीं रह सकता। कला के द्वारा मनुष्य अपनी अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है। अतएव कलाएं अनेक होकर भी मन की सृष्टि करती हैं। सौन्दर्य का अनुसन्धान अथवा रस की अनुभूति। शिल्प में कलाकृतियाँ इनसे अवश्यमेव प्रभावित होती हैं।

शृङ्गार हास्य करुणा रौद्रवीर भयानकाः।
बीभत्साद्भुत शान्ताश्च रसाः पूर्वैरुदाहृताः।

रस में स्थायीभाव की स्थिति का प्रतिपादन आवश्यक है जिसके संमिश्रण मात्र से रसाभास सम्भव है।

रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभास लक्षणम्।

(भावप्रकाश)

रस	स्थायीभाव
१. शृङ्गार	रति
२. हास्य	हास्य
३. करुण	शोक
४. रौद्र	क्रोध
४. वीर	उत्साह
६. भयानक	भय
७. बीभत्स	घृणा
८. अद्भुत	आश्चर्य
९. शान्त	शम

तात्पर्य यह है कि रस के द्वारा लौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है तथा कला में अन्तर्चेतना का चित्रण होता है।

दुःखान्त रसों में इष्ट के नाश होने के कारण करुण रस को उत्पत्ति होती है। अतः करुण रस की परिव्याप्ति तथा परिसीमन का निर्धारण जटिल प्रश्न है। इसका स्थायीभाव शोक है। इसमें दुःख की अनुभूति नहीं होती, अपितु आँखों में आँसू का

सृजन होने लगता है। दु:खान्त में रौद्र की भी गणना होती है। चूँकि इसके देवता रुद्र हैं, अतएव इसे रौद्र रस कहा गया है। शिव या रुद्र का वर्ण श्वेत माना गया है परन्तु 'वर्णस्य रक्तो दैवतं रुद्र:' (देवता रक्त वर्ण का) का उल्लेख मिलता है। इसका कारण यह है कि रौद्ररस में क्रोध का संचार होना स्वाभाविक है और कोप की दशा में मनुष्य क्षोभ के कारण रक्त वर्ण का हो जाता है। इसे शत्रु द्वारा किए गए अनिष्ट कार्य, अपकार तथा अपमान का समावेश भी समझना चाहिए। बीभत्स रस में करुण, रौद्र तथा भयानक —तीनों सहयोगी या सहचर कहे गये हैं। इससे वैराग्य की प्रेरणा होती है। यह भयानक रस का उत्पादक है। पौराणिक परम्परा में राक्षसों या दानवों के क्रिया-कलाप तथा नरक के चित्रण में बीभत्सता का विशेष समावेश रहता है। इसी से घृणा का स्थायीभाव कहा गया है।

सुखात्मक रसों में शृङ्गार को ही प्रधानता दी गई है। शृंग शब्द से कामवृद्धि तथा आर से प्राप्ति का बोध होता है। शृंगार को उत्तम प्रकृति से संयुक्त कर काम-चित्रण, विलासिता या कामुकता का रसाभास प्रकट नहीं होता। यह सही है कि शृंगार का स्थायीभाव रति है किन्तु रति को शृंगार-रस में स्त्री-पुरुष की नैसर्गिकी आसक्ति के रूप में भी ग्रहण करते हैं।

रति का दो रूप माना गया है—

[अ] लौकिक-बाह्य शृङ्गार।

[ब] अलौकिक—इसमें कोई देवता अनुराग का आलम्बन है, मनुष्य नही। हास्य रस की उत्पत्ति शृंगार से मानते हैं। इसके स्थायीभाव में विभाव, आचार, व्यवहार तथा केशविन्यास आदि के नाम लिये जाते है। करुण, बीभत्स आदि रसों से हास्य की उत्पत्ति होती है।

वीर रस को शृंगार से स्पर्धा करने वाला मान सकते हैं। यह उत्तम प्रकृति वालों से सम्बद्ध है तथा उत्साह इसका स्थायीभाव कहा गया है। इस श्रेणी में अद्भुत रस की भी गणना की जाती है। विस्मय, माया, इन्द्रजाल, असाधारण कर्म तथा अन्य कलाकृतियों द्वारा इस रस की उत्पत्ति होती है। अद्भुत रस मे सामान्य से निराली कोई वस्तु हैरानी में डाल देती है। दार्शनिक पण्डित इसके माध्यम से जीवन एवं जगत के रहस्यों के उन्मीलन में प्रवृत्त होते हैं।

आठ रसों के पश्चात् "शान्तोऽपि नवमो रस:" शान्त नवाँ रस कहा गया है। अभिनवगुप्त तत्त्वज्ञान को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि सम्यक् ज्ञान, निर्विशेष चित्तवृत्ति तथा तृष्णाक्षय सुख शान्त रस का स्थायीभाव है। कुछ आचार्यों ने वैराग्य, सन्तोष या तत्त्व के साक्षात्कार को मान्यता दी है। भक्ति-भावना में इसी रस का प्रसार मिलता है।

भारतीय कलाविदों ने यथास्थान परिस्थितियों के अनुकूल कलाकृतियों में रस का आभास किया है। अतः मनुष्य के मानसिक विकास के साथ ही कलात्मक विकास सम्भव हो सका। सैन्धवकला में भावात्मक उन्नति नहीं दीख पड़ती। ऐतिहासिक

युग से कलाकारों ने अपनी अनुभूति के आधार पर अथवा कल्पना के सहारे जितना कार्य किया, उनमें रसाभास द्वारा आनन्द प्राप्ति की।

कलाकृतियों का मूल्यांकन रसाभास के आधार पर करना सम्भव है पर, उनमें एकरूपता नहीं हो सकती। रस व्यक्ति, समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता है। उपासक की आवश्यकतानुसार ही कलाकार का ध्यान विभिन्न रसों की ओर आर्कषित होता रहा।

गौतम की माता मायादेवी के गर्भ में हस्ति के प्रवेश का चित्रण मनुष्य को आश्चर्य में डाल देता है। इसे अद्भुत रस कहना उचित होगा। काव्य तथा कला में जो रचना मानव हृदय की मधुरतम भूख काम को उज्जीवित करे एवं परितृप्त करे, वह शृङ्गार रस की रचना कही जायगी। आचार्यों ने शृङ्गार को मनुष्य की सबसे प्रियभूख 'काम' से सम्बद्ध किया है। अशोककाल में निवृत्ति की प्रधानता थी और प्रतीकात्मक कला का प्रादुर्भाव रहा। किन्तु शुंगयुग में ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान से प्राचीन परम्पराओं को स्थान मिला। प्रवृत्ति की भावना समाज में आई। संसार में रहकर पुरुषार्थ की सिद्धि व्यक्ति का उद्देश्य था। अतएव कला इस विचारधारा से प्रभावित हुई। समाज में आमोद-प्रमोद, संगीत-नृत्य को स्थान दिया गया। अतएव शृंगार रस की बातों को ध्यान में रखकर कलाकार कार्य सम्पादन करने लगे। मथुरा की यक्षिणी स्तन पकड़े नग्नावस्था में प्रदर्शित हैं। अमरावती में स्त्री आकृतियों में कामुकता के विशिष्ट भाव दीख पड़ते हैं। गुप्तकाल तो लावण्य तथा सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध युग था। उनमें विलास की उच्चता भी दीख पड़ती है। शृङ्गार रस की भावना से प्रभावित होकर युगल प्रतिमाओं में देवी (स्त्री) को देवता की जाँघ पर आलिंगन अवस्था में दिखलाया गया। शिव की कल्याण सुन्दर मूर्ति के मूल में शृंगार का प्रदर्शन मानना असंगत न होगा।

मध्ययुगी प्रतिमाओं में शृङ्गार रस का बोलबाला है। उड़ीसा के लिंगराज मन्दिर के बाहरी दीवाल तथा कोणार्क मन्दिर के रथ-चक्रों पर जिस कामुकता का प्रदर्शन किया गया है, उसे शृङ्गार से ओत-प्रोत न मानें तो उससे सम्बधित प्रश्नों का उत्तर कठिन है। उसमें बाह्य शृङ्गार तथा अलौकिकता के भावों को स्थान देना उचित होगा। जहाँ शिव-पार्वती को आलिंगन अवस्था में दिखलाया गया है, वहीं अर्धनारीश्वर प्रतिमा में एक ब्रह्म की कल्पना का प्रदर्शन है।

वीर रस तथा रौद्र भावों के प्रदर्शन में कलाकारों ने अपनी कुशलता दिखलाई है। मध्य भारत की यक्ष-प्रतिमा बल का प्रदर्शन करती है। ग्रामीण जनता की रक्षा का भार लिये यक्षमूर्ति उत्तरी तथा मध्य भारत में निर्मित हुई। काशी का लहुराबीर उसी भाव को प्रस्तुत करता है। भगवान् शिव ने रौद्ररूप धारण कर अनेक राक्षसों को नष्ट किया। अन्धकासुरवध तथा त्रिपुरान्तक प्रतिमा शिव के वीर रस को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है। भैरव मूर्ति उसी रौद्र प्रतिमा में रक्खी गई है। देवियों में महिषासुरमर्दिनी दुर्गा को रौद्र रस के दृष्टान्त में उल्लिखित करना उचित होगा।

विष्णु के नरसिंहावतार को भयानक रस का प्रदर्शक कहे तो अत्युक्ति न होगी। इसमें भी क्रोध को स्थायीभाव समझना अप्रासंगिक न होगा। गुप्तयुग कला के क्षेत्र में भी स्वर्णयुग माना जाता है अतएव अनेक रसों से युक्त कलाकृतियाँ निर्मित हुईं। भगवान् बुद्ध की सारनाथ शैली की प्रतिमा में शान्त रस भरा पड़ा है। इस युग में बाह्य सौन्दर्य की अवहेलना होने लगी। मांसल शरीर बाह्य सौंदर्य प्रदर्शित करता है पर गुप्तकलाकृतियों में आध्यात्मिकता तथा आन्तरिक सौन्दर्य प्रमुख हैं। आभूषणों का कम-से-कम प्रयोग बौद्धकृतियों में मिलेगा। उस प्रतिमा की आँखें आधी खुली हैं तथा चिन्तन, मनन के भाव प्रमुख स्थान ले चुके हैं। तत्त्वज्ञान को शान्त रस का स्थायी-भाव मानते हैं। इसकी उपलब्धि बुद्ध-प्रतिमा से हो जाती है। संसार से विरक्त तथा आध्यात्मिकता में लीन बुद्धमूर्ति शांत रस का अत्यन्त उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

उदयगिरि गुहा में खुदी अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा से भी शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार नवें रस 'शान्त रस' का प्रदर्शन हिन्दू या बौद्ध-प्रतिमाओं द्वारा किया गया था। इन रसों के पश्चात् वात्सल्य रस का भी नाम लिया जाता है। भारतीय कला में बच्चे के प्रेम की कथा हारीति के कथानक में मिलती हैं। यह बौद्धदेवी बच्चों का भक्षण किया करती थी। किन्तु भगवान् बुद्ध के आदेश से हारीति बच्चों का रक्षक बन गई। उस दशा में बच्चे गोद में कन्धे पर तथा स्तनपान करते दीख पड़ते हैं। यही वात्सल्य रस का सर्वोत्तम प्रदर्शन है। इसी श्रेणी में षष्ठी की भी गणना होती है। वात्सल्य प्रेम के कारण उसे बालक जन्म के छठे दिन पूजित करते हैं।

(२२)

भारतीय सुन्दरता की कल्पना

भारत के कलात्मक नमूनों में सुन्दरता की कैसी कल्पना थी तथा किस रूप से प्रदर्शित किया गया, उसका दिग्दर्शन रस के साथ अत्यन्त उपादेय होगा। सुन्दरता की कल्पना को दो विभिन्न प्रकार से अध्ययन किया जाना चाहिये। बाह्य तथा आन्तरिक। बाह्य में अंगों की बनावट तथा वस्त्राभूषण की परिगणना की जाती है पर आन्तरिक सुन्दरता में लौकिक बातों पर विचार नहीं किया जा सकता। कला का इतिहास यह घोषित करता है कि सुन्दरता (लावण्य) की एकरूपता कल्पनातीत है। समयानुकूल अथवा परिस्थिति के संदर्भ मे तथा रसाभास के प्रसंग में सुन्दरता का मापदण्ड परिवर्तित होता रहा है। जो शृंगार के प्रसाधन आज उपलब्ध हैं, वह प्राचीन युग में अलभ्य थे। जो वस्त्राभूषण अजन्ता के भित्तिचित्र पर दीख पड़ते हैं उन्हें आज उपयोगी नहीं समझा जा सकता। समाज में विचारधारा बदलती रही। इन सभी कारणों से यह कहना युक्तिसंगत होगा कि प्राचीन भारत में सौन्दर्य के जो मापदण्ड स्वीकृत हो चुके थे वह अद्यावधि स्वास्थ्यकर नहीं रहे।

पूर्व-मौर्ययुग में मातृदेवी के शिरोभाग को पंखा के सदृश चौड़ा अलंकरणयुक्त बनाने का प्रयत्न होता रहा। उसमें बाह्य सौन्दर्य का उतना ध्यान न था क्योंकि देवी

के कार्य—मानव एवं विश्व का परिपालन की ओर सभी का ध्यान केन्द्रित रहता था। भरहुत वेदिका तथा अमरावती स्तूप पर जिन यक्षिणी की आकृतियाँ खुदी हैं, उनके नितम्ब तथा वक्षस्थल तथा भार सहित दीख पड़ते हैं। कला की सुन्दरता के अन्य नमूने मिश्रकेशी, सुभद्रा, अलम्बुषा तथा पद्मावती अप्सराओं के अंग-प्रत्यंग के विन्यास से उपलब्ध होते हैं। वेदिका पर गायिका नृत्य के आवेश में दिखलाई गई है। मथुरा के जैन स्तूप पर खुदी यक्षिणी स्वस्थ तथा मांसपेशियों सहित प्रदर्शित हैं। उन्हें वृक्ष के सहारे खड़ा रहना सुन्दरता का साधन समझते थे। इसलिए वृक्षिका (शालभंजिका) पत्र तथा शुंगकालीन कला में प्रदर्शित की गई थीं। कार्ले गुहा की बाहरी दीवार पर स्थूलकाय सहित दम्पति की आकृतियाँ खुदी हैं। स्त्रियों की कमर पतली तो हैं किन्तु कमर से नीचे के दोनों पैर हाथी के सूँड़-सदृश हैं। इनके अंगों में स्थिरता है। गति का अभाव है।

ईसवी सन् के आरम्भ से यदि बुद्धमूर्ति का परीक्षण किया जाय तो स्पष्ट प्रकट होता है कि सिर पर बालों का क्रम बढ़ता गया और कपर्दिन के पश्चात् उष्णीष के रूप में आ गया। शरीर पर वस्त्रों का आवर्तन या आकुचंन बदलते रहे। चौथी शताब्दी में पारदर्शक हो गया। इस युग में बाह्य सुन्दरता के स्थान को आन्तरिक सौन्दर्य ने ले लिया। इस कारण मथुरा बुद्ध के स्थान पर ध्यानावस्थित चिन्तनामुद्रा में प्रतिमा तैयार की गई। यह सामयिक परिस्थितियों की आज्ञार्थक सूचना थी कि आन्तरिक सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व किया जाय।

ऐसी स्थिति में बोधिसत्त्व की स्थापना अन्य स्वरूप के सहित की गई। 'सर्व-लोकहिताय' की कल्पना के साथ बोधिसत्त्व को कला में समाविष्ट किया गया। अतएव निवृत्तिप्रधान बुद्धधर्म में भी बोधिसत्त्व को वस्त्राभूषण से सुसज्जित किया गया। इसे सामयिक विचारधारा के प्रतिनिधि मानते हैं।

भारत जीवन की सामाजिक झाँकी मनियार मठ (राजगृह) के नाग-नागिन की आकृतियों में मिल जाती है। उनमें स्त्री-सौन्दर्य का आदर्श दीख पड़ता है। बाह्य सुन्दरता के आन्तरिक जागरण का आभास मिलता है। गंगा, यमुना एवं सरस्वती को आदर्श भारतीय नारीवेश में प्रदर्शित करने में कलाकारों ने अपनी दक्षता दिखलाई है। अमरावती में जिस सौन्दर्य आदर्श को लेकर कलाविद् चले उसकी पराकाष्ठा गुप्तकाल में हो गई। नारी शक्तिस्वरूपा है। उस भावना को लेकर भी कलाकार अपने क्षेत्र में उतरे। दुर्गादेवी की अलौकिक सुन्दरता का वर्णन शब्दों से सीमित नहीं किया जा सकता।

दुर=कठिन, ग=जाना, प्रतिकूल जाना।

यथा नाम तथा गुणः।

दुर्गा महिषासुरमर्दिनी अजेय है। कपाल मुण्डमाल उसके रौद्र स्वरूप को व्यक्त कर रहे हैं। उसे त्रिपुरसुन्दरी भी कहा गया है यानी तीनों लोक (त्रिपुर) में सुन्दरी। नारी शक्ति का अवतार भारतीय नारी का सौन्दर्ययुक्त शक्तिबल सहित तथा असीमित उत्साह के कारण सभी का ध्यान आकर्षित करती है। इलौरा तथा पुरी में ऐसे दुर्गा के स्वरूप को आदर्श रीति से दर्शाया गया है।

गिरिजा को शिव की सुन्दरता भली ज्ञात हुई। काम को क्षार करने वाला सौन्दर्यता का मापदण्ड क्या जाने! किन्तु उमा के विचार, काली–शिव के सम्बन्ध, भारतीय आदर्श दम्पत्ति के आर्ष वचन माने जा सकते हैं। यही आन्तरिक सुन्दरता का चित्र भारतीय कलाकारों ने उपस्थित किया।

सातवीं सदी से महाबलिपुरम् कला मे प्राचीन परम्पराओं को त्याग कर नये विचार एवं कल्पना लेकर सफल प्रयास किया गया है। उस काल से मानव स्वरूप को आदर्श ढंग से विकसित किया गया। उसमें उत्कृष्टता तथा वैभव की सीमा का उल्लंघन दीख पड़ता है। अलौकिकता के भाव को उतार कर आनन्द, सुख, भाव तथा रस को मनुष्यरूप में खचित करने का कार्य सम्पन्न किया गया है। शिव के कथानक गंगावतरण का प्रदर्शन (महाबलिपुरम्) या अंधकासुरवध के गम्भीर भावों का प्रदर्शन कलाविदों ने जिस मनोयोग से किया है, वह अन्यत्र नहीं मिलते। राजा महेन्द्र का पूजा-कार्य, चेहरे पर शान्ति, ध्यान में संलग्न तथा मांसपेशियों सहित राजा का शरीर बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य का सम्मिलन उपस्थित करता है। एलिफेण्टा के पर्वत चट्टान को खोदकर द्वारपाल के विशालकाय शरीर कलाकारों के जीवित नमूने उपस्थित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दैवी सुन्दरता की कल्पना को मानव शरीर से अंगीभूत करना यद्यपि अनमेल मालूम पड़ता है, किन्तु उस सौन्दर्य विचार को संसार में लाना उनका ध्येय था।

धातुकला में अंगों की कोमलता के प्रदर्शन के निमित्त ऐसे वस्त्रों (पारदर्शक) को सुसज्जित किया गया जिससे नग्नावस्था का भ्रम हो जाता है। किन्तु करधनी से वस्त्रों की ग्रन्थि बाँधना आदि बनावट उस भ्रम को दूर कर देते हैं। नारी-सौन्दर्य की कल्पना युग के साथ गमन करती रही। बौद्धकला में भी सुजाता का कार्य तथा हारीति की मनोभावना का परिवर्तन ऊँचे आदर्श सौन्दर्यभाव के द्योतक हैं। इस नारी-प्रसंग में प्रज्ञापारमिता का उल्लेख समीचीन होगा।

(२३)

भारतीय प्रतिमाओं का आर्थिक पक्ष

भारतीय इतिहास के अनुशीलन से प्रकट होता है कि भारतवर्ष में आने से पूर्व आर्यों की स्थिर जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। स्थान-स्थान भ्रमण कर जीविकोपार्जन के लिए चिन्तित रहते थे। इस प्रकार के जीवन (Pestoral life) क्रम में भारत में आर्य कृषि की ओर आकर्षित हुए तथा नये जीवन में उनका समाज स्थिर होकर कार्य करने लगा। कृषि-जीवन में पशुधन एक परम आवश्यक साधन है जिसकी सहायता से मनुष्य तथा समाज के लोग आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पशु के सहारे कृषक खेती कर जीवनको सुखी बना सकता है। वृषभ(बैल) की आवश्यकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता तथा वर्तमान काल तक कृषि में बैल की उपयोगिता में दो मत नहीं हो सकते। उनके सहारे बैलगाड़ी यातायात का साधन बन जाती है।

ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष में मोहन-जोदड़ो नगर में बैलगाड़ी का प्रयोग होता था जिसकी आकृति खुदाई से निकली है। मोहन-जोदड़ो तथा हड़प्पा की मुहरों पर वृषभ की आकृति कलात्मक रूप में खुदी है। दूसरा पालतू पशु जो आखेट में साथ रहता, वह कुत्ता था। ग्रामीण जनता के लिए कुत्ता का उपयोग साधारण बात है और आखेट के अतिरिक्त आत्मरक्षा में कुत्ता काम आता है। यही कारण था कि प्राचीन सिक्के चाँदी के कार्षापण पर अंकित चिह्नों में कुत्ता को भी स्थान दिया गया। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि आर्यों का जीवन-स्तर स्थिर होकर आर्थिक दृष्टि से बढ़ने लगा। सुख तथा वैभव के लिए प्रकृति देवताओं की पूजा करने लगे जो उनके तत्कालीन जीवन का धार्मिक पक्ष सम्मुख उपस्थित करता है। प्रकृति देवों की मन्त्रों द्वारा स्तुति की जाती थी और क्रमशः आर्यों का धार्मिक जीवन विकसित होने लगा। भारतीय जनता कृषिकार्य में नदियों के जल का भी प्रयोग करने लगी और नर्मदा तथा गंडकी से भव्य प्रस्तर-पिण्ड को नर्वदेश्वर या शालिग्राम का नाम देकर पूजित करने लगे। शिवलिङ्ग भी भारतीय समाज का धार्मिक प्रतीक था। किन्तु यह मनुष्य द्वारा निर्मित था और शालिग्राम प्राकृतिक ढंग से गढ़ा हुआ प्रस्तर की आकृति थी जिसे वैष्णवमतानुयायी पूजित करने लगे। इस रूप से शैव तथा वैष्णवधर्मावलम्बी लिङ्ग तथा शालिग्राम की पूजा से अपनी धार्मिक पिपासा को शान्त कर सके। ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष में हड़प्पा संस्कृति में शिव-लिंग की प्रधानता दीख पड़ती है।

वैदिक साहित्य में 'शिश्नदेवाः' का उल्लेख मिलता है परन्तु इससे प्रतिमानिर्माण की दिशा में कोई सहायता नहीं मिलती। देवप्रतिमा, देवरूपाकृति आदि शब्द मूर्ति की वास्तविक स्थिति की ओर इशारा करते हैं। वैदिक युग में प्रतिमा-निर्माण कार्य के विषय में विशेष कहा नही जा सकता। किन्तु धार्मिक भावना के साथ साथ प्रतिमा की कल्पना समाज मे अवश्य रही होगी। प्राचीन काल में सुरक्षा का प्रश्न जटिल था अतः प्रतीक-पूजा के अतिरिक्त सशक्त दैवीशक्ति की आराधना होने लगी। मूर्ति की कल्पना ने समाज में स्थान पा लिया जिसे 'यक्ष' की संज्ञा दी गई। महाभारत में 'यक्ष' के वर्णन मिलते हैं तथा भारतीय कला में प्राचीनतम आकृति (मूर्ति) यक्ष की ही मिली है।

भारत के प्राचीन जीवन के साथ 'यक्ष' का अधिक सम्बन्ध था जिसने कला को प्रभावित किया और उसकी आकृति को आदर्श मानकर मथुरा के कलाविद् कार्य करने लगे। प्रतीकात्मक भावना से चित्त को शान्ति न मिल पाई अतः समाज में प्रतिमा-निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ। मनुष्याकार प्रतिमाएँ गन्धार तथा मथुरा के समीप तैयार होने लगीं। मथुरा की मूर्तियों ने प्राणियों का ध्यान आकर्षित किया। सुन्दरता की ओर जनता का ध्यान जा पहुँचा। अतएव कलात्मक क्रियाओं में मथुरा का स्थान ऊँचा हो गया। सभी स्थानों से प्रतिमा की माँग होने लगी। मथुरा मूर्तियों का एक प्रधान केन्द्र बन गया तथा कलाकारों की जीविका का साधन हो गया। अतः मथुरा के कलात्मक कार्य को व्यवसायप्रधान मान लें तो कोई संकोच नहीं। सारनाथ में बुद्ध (अभिलेख में बोधिसत्त्व कहा गया है) की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी

जो मथुरा में निर्मित हुई थी। गुप्तयुग में भी मथुरा की प्रधानता बनी रही। सुन्दर बुद्ध-मूर्तियाँ अधिक संख्या में बनीं जिसे उपासक भी गृहों में रखते थे।

प्रस्तर के अतिरिक्त मिट्टी का भी प्रयोग कलाकारों ने किया। मौर्य तथा शुंग-कालीन मिट्टी की आकृतियों में विशो अन्तर है, किन्तु शुंगकालीन मृण्मयी मूर्ति प्रस्तर पर खुदी आकृतिकों से कम सुन्दर नहीं है। कम मोटाई की मिट्टी के अंश को साँचे में डाल कर अतीव सुन्दर आकृतियाँ तैयार की जाती थीं। शुंगकालीन मिट्टी की आकृतियाँ (देव, देवी, पशु आदि) अथवा खिलौने सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। इसका एकमात्र कारण व्यवसाय को प्रोत्साहन देना था। मनुष्यों के लिए आकर्षण के कारण थे और प्रायः सभी अवसरों पर जनता खरीद कर अपने गृहों की शोभा बढ़ाती रही। आश्चर्य तो यह है कि ईसवी पूर्व सदियों में पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान किया था, किन्तु उन शताब्दियों में बौद्ध विहार तथा चैत्य अधिक संख्या में निर्मित हुए थे। सम्भवतः कलाकारों की जीविका का प्रश्न था और जनता ने उन्हें काम में लगा कर पर्वतों में भिक्षुओं के निवास के निमित्त विहार खुदवाया। वह कार्य एक दिन का न था। वर्षों कलाकार उस कार्य में लगे रहते थे, तो भी कुछ अधूरा रह जाता। कार्ले तथा कन्हेरी की गुफाओं में कितने अधूरे विहार दीख पड़ते हैं।

ईसवी सन् के आरम्भ से कुषाणनरेशों ने प्रतिमा-पीठ पर लेख खुदवाए। स्यात् अन्य आधार के अभाव में प्रतिमा का सहारा उपयोगी सिद्ध हुआ था। इस कारण शासकों द्वारा प्रतिमा निर्माता की सहायता करना नितान्त आवश्यक था। सम्भवतः आर्थिक सहायता के कारण प्रतिमा-निर्माण के कार्य की अभिवृद्धि हुई। बौद्ध धर्मावलम्बी शासकगण एक स्थान को चुनकर कलाकारों से कार्य लेते रहे। अमुक केन्द्र का कार्य कुशल कलाकार के ऊपर ही निर्भर था। अतएव बौद्ध-कला-केन्द्र स्थापित हुए। गन्धार, मथुरा, सारनाथ स्कूल निश्चित स्थान की कलाकृति को व्यक्त करते है। ब्राह्मण प्रतिमाओं के लिए प्रायः स्कूल (निश्चित केन्द्र) का अभाव था। ब्राह्मण मूर्तियों का निर्माण स्थान-स्थान पर होता रहा। अधिक सम्भव है कि बौद्ध प्रतिमाओं की तुलना में ब्राह्मण मूर्तियों की कम माँग थी। माँग के अनुसार ही चीजों का निर्माण होता है। अतएव एक स्थान पर स्थिर होकर कार्य का सम्पादन ब्राह्मण कलाकारों के लिए सम्भव न था। गुप्तकाल में सारनाथ-केन्द्र बौद्ध-मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध था। अतीव सुन्दर दार्शनिक भावों से युक्त बुद्धप्रतिमा बौद्धकला की चरम सीमा को स्पर्श करती है। ऐसे समृद्ध युग में ब्राह्मण प्रतिमाओं का कोई केन्द्र न था।

ईसा की पहली सदी से गन्धार के भूभाग से बुद्ध-प्रतिमा तथा चूने-मिट्टी के मिश्रण से निर्मित देव का सिर मध्य एशिया में जाता रहा। वहाँ के लोग गन्धार क्षेत्र से प्रतिमाएँ क्रय कर स्थापित करने के निमित्त ले जाया करते थे। पूर्वीभाग पर (समतट डवाक) विजय कर समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत का सम्पर्क दक्षिण-पूर्व एशिया से बढ़ाया। हिन्द-चीन तथा द्वीपसमूह (जावा, सुमात्रा, बालि आदि) में भारतीय प्रतिमाओं के लिए माँग बढ़ गई।

फाहियान तथा ह्वेनसांग भारत से लौटते समय भारतीय प्रतिमायें भी साथ लेते गए। इससे प्रकट होता है कि कलाकार व्यवसायी के रूप में प्रतिमायें तैयार करते थे, क्योंकि उनकी जीविका मूर्ति-निर्माण पर आधारित थी।

भारत के मध्ययुग में मन्दिरों का निर्माण विशेष रूप से होने लगा। उत्तरी भारत में भुवनेश्वर को मंदिरों का नगर कहते हैं। खजुराहो मे भी मन्दिरों की अधिक संख्या है। दिलवारा के जैन मन्दिर कलाकारों के कार्यों की सुन्दरता का नमूना उपस्थित करते हैं। दक्षिण भारत के विशाल मन्दिर गोपुरम् सहित दर्शनीय हैं। इन मन्दिरों में प्रतिमा की स्थापना होना अनिवार्य था। उस आधार पर यह अनुमान करना युक्तियुक्त होगा कि प्रतिमा-निर्माण से कलाकारों की आर्थिक समस्या का समाधान हो जाता था। उत्तरी भारत में नालंदा तथा दक्षिण के चोल काल में ताँबे की मूर्तियों का ढालना आरम्भ हुआ। नालंदा के कलाकार धीमान का नाम इस प्रसंग में लिया जाता है। धातु-मूर्तियों की बहुलता से प्रमाणित होता है कि उनकी अधिक माँग थी। धातु गलाकर मिट्टी के साँचे में ढालना सरल कार्य न था। अतएव माँग के बिना ऐसे श्रमसाध्य कार्य कोई कलाकार करने के लिए उद्यत नहीं हो सकता। इन सभी में वस्त्र की बनावट तथा आभूषणों से सजावट का काम कुछ आसान था। इस कारण पारिश्रमिक को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रकार के अलंकरण का कार्य सम्पन्न किया जाता था। उसके मूल्यांकन से कलाकार की दक्षता का परिचय मिल जाता है। भारत के बाहर भी इस प्रकार की प्रतिमाएँ भेजी गईं। अतएव सम्भवतः व्यवसाय के रूप में मन्दिर निर्माण तथा मूर्ति-स्थापना का कार्य निरन्तर चलता रहा। खजुराहो का शिवमन्दिर तथा दिलवारा का जैनमन्दिर कारीगरी के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनके निर्माण में अनेक वर्षों तक कलाकारों ने काम किया होगा। वही कार्य जीविका के साधन बन गये। मध्ययुग में हस्तलिखित पुस्तकों को चित्रित किया गया ताकि लिखित वाक्यों के भाव (दृष्टान्त-चित्र) प्रदर्शित हो जायें। इस कार्य में कलाकारों को अधिक सफलता मिली। लेखक तथा कलाकार अर्थप्राप्ति का साधन ढूँढ़ते रहे।

पूर्वमध्य युग के अभिलेखो में मन्दिर के संस्कार (मरम्मत) के लिए दान का अधिक वर्णन मिलता है। उस प्रसंग में सूत्रधार के नाम अधिक उल्लिखित हैं। ताम्रपत्रों के अन्त में 'उत्कीर्णा सूत्रधारेण' वाक्य भी मिलता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार ताम्रपट्ट पर लेख अंकित कर भी धन-संग्रह करते थे।

अतएव यह कहना यथार्थ होगा कि मन्दिर तथा प्रतिमा-निर्माण के कार्यों के पीछे आर्थिक पक्ष की बातें भी निहित थीं।

(२४)

बौद्ध-कला में हिन्दू-कल्पना

भारतीय कला को बुद्ध-मत की अनेक देन हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि भारत की कला धर्मप्रधान थी तथा कलाकार अपनी कृतियों में सदा ही धार्मिक विचारधारा का आश्रय लेते रहे। पुरातत्त्व सम्बन्धी जितनी खुदाइयाँ हुई हैं उनमें

बौद्ध-प्रतिमा (अथवा उसके स्थान पर प्रतीक) ही सबसे प्राचीन है। प्राचीन भारत में बौद्ध शासकों ने कला को प्रोत्साहित किया और राजाश्रय पाकर कला की उन्नति हुई। अशोक के पश्चात् ब्राह्मणधर्मावलम्बी शासक सहिष्णुता के कारण कला की उन्नति में बाधक नहीं रहे।

भारतीय इतिहास के विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि बौद्धों तथा ब्राह्मणों के संघर्ष के फलस्वरूप दोनों धर्मों के उत्थान-पतन कई बार हुए। कालान्तर में सर्वत्र ब्राह्मणधर्म की लहर फैल गई और उत्तर से दक्षिण तक भारत में वैदिक यज्ञ होने लगा। दक्षिण के सातवाहन नरेशों ने अनेक वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये। मगध में पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किया जिसका प्रमाण अयोध्यालेख तथा पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। ईसवी सन् के समीप कनिष्क ने बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया। कुषाण वंश के साथ ही ब्राह्मणधर्म का पुनः प्रचार हुआ और नाग-गुप्त युग में यह उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। ८वीं सदी से भारत में पालवंशी नरेशों ने शासन आरम्भ किया और बौद्धमत के तृतीय यान वज्रयान—का ही बोलबाला हो गया। पूर्वमध्ययुग में शंकर के कारण ब्राह्मणधर्म को पुनः वही स्थान मिल गया जो उसे गुप्त-युग में प्राप्त था। बौद्धधर्म को ब्राह्मण-मत ने इतना प्रभावित किया कि नास्तिक मतानुयायियों के पैरों तले से जमीन ही खिसक गई। यह प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भारतीय कला में इसके कारण विभिन्न परिवर्तन हुए और बुद्ध को ब्राह्मणों ने विष्णु का नवाँ अवतार मानकर बौद्ध परम्परा की इतिश्री कर डाली। भारतीय कला की धर्म-प्रधानता इससे स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न धार्मिक विचारों के प्रवाह से प्राचीन कला में अपूर्व परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं।

यदि हिन्दू-प्रतिमाओं की निर्माण-तिथि पर विचार करें तो यह प्रकट होता है कि गुप्तयुग में (४००-६०० ई०) पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियों को कला में प्रथम स्थान मिल चुका था। पंचायतन पूजा के साथ पंचदेव (विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश तथा सूर्य) की प्रतिमाएँ कलाकारों को आकृष्ट कर चुकी थीं। यद्यपि तत्कालीन सारनाथ-शैली में बौद्ध-मूर्तियों की प्रधानता थी, तथापि खुदाई से ब्राह्मण-प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। उत्तर गुप्त-युग में कलाकारों ने हिन्दू कल्पना का बौद्धकला में समावेश आरम्भ किया। सम्भवतः यह धार्मिक आन्दोलन का समकालीन कार्य था, परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। आठवीं सदी के साधनमाला नामक बौद्धग्रन्थ में ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे प्रकट होता है कि हिन्दू-विचारशैली का प्रभाव बौद्ध-कला पर पड़ता जा रहा था। पूर्वमध्ययुग के इस कलात्मक प्रभाव पर विचार करने के पूर्व बुद्ध-जन्म से सम्बद्ध एक प्रतीक पर ध्यान देना आवश्यक है। हीनयान में बुद्ध को एक महान् विचारक मानने के कारण बौद्ध कलाकारों ने उनके विभिन्न प्रतीकों से ही काम लिया था। बोधिवृक्ष, चक्र तथा स्तूप के अतिरिक्त जन्म के प्रतीक कई रूपों में दिखलाये गये हैं। भरहुत तथा साँची के तोरण पर हाथी से (माया का सपना) तथा कमल पर बैठी अथवा खड़ी देवी से भी जन्म की कथा का समावेश करते रहे। भारतीय कला की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत होते हुए भी अधिकतर यह

सिद्धान्त मान्य है कि बुद्ध-मत ने भारतीय कला को जन्म दिया। एक स्थान पर कमल पर बैठी देवी पर दो हाथी घड़ों के द्वारा पानी डाल रहे हैं। इसे हिन्दूकला में गज-लक्ष्मी की संज्ञा दी गई है। बौद्ध-कला में इसे-बुद्ध के जन्म का प्रतीक मानते हैं। पश्चिमी पण्डितों का मत है कि हिन्दुओं की गज-लक्ष्मी की कल्पना इसी बौद्ध प्रतीक से ली गई है। भरहुत, बोधगया तथा साँची के कलात्मक उदाहरणों में इसके प्रमाण पाये जाते हैं। यद्यपि शुंगकालीन बौद्ध-कला में गज-लक्ष्मी को स्थान मिल गया था, पर यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस देवी की कल्पना हिन्दुओं ने बौद्धों से ली। ब्राह्मण-धर्म में जल तथा कमल का योग सृष्टि के आरम्भ से सम्बद्ध मानते हैं। जल से सृष्टि तथा कमल का भी जन्म हुआ। ब्रह्मा की सृष्टि के उत्पादन-क्रम में जल को ही अन्तिम स्थान दिया गया है (आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी और समस्त जन्तु)।

अतएव, उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों द्वारा प्रतिपादित जगत् के कारणों को ध्यान में रखने पर यह मानना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा कि गज-लक्ष्मी की कल्पना बौद्ध-मत से सम्बद्ध है। यद्यपि ईसापूर्व सदियों में ब्राह्मण-प्रतिमाओं के नमूने नहीं मिले है, तथापि बुद्ध-जन्म के इस प्रतीक (गज-लक्ष्मी अथवा कमल पर बैठी देवी) को श्रौत-दर्शन से ही प्रभावित मानना उचित प्रतीत होता है।

यद्यपि बौद्धधर्म के क्रमिक विकास का प्रश्न विवाद-ग्रस्त है, तथापि साधारण मान्यता यही है कि भागवत धर्म के प्रभाव के कारण ही महायान का जन्म हुआ। भक्ति की भावना ने कला मे परिवर्तन ला दिया और बुद्ध की प्रतिमा (मनुष्य के आकार के सदृश) पूजा के निमित्त बनने लगी। महायान के प्रगति-काल में ब्राह्मणमत से उसकी प्रतिद्वन्द्विता थी, इस कारण बौद्ध कलाकारों ने अपनी पृथक् शैली चलाई। महायान के पश्चात् बौद्धधर्म में वज्रयान का विकास हुआ है। इस मत में पूर्ववर्ती बौद्धयानों (हीनयान तथा महायान) की तुलना में नये विचार अपनाये गये थे। हीनयान मे पुनर्जन्म की भावना का अभाव था, बुद्ध संसार के परे थे। परन्तु महायान में जन्म तथा कर्म के विचार समाविष्ट हुए, बुद्ध के पूर्व बोधिसत्त्व की कल्पना आयी, जिनका प्रभाव कला पर भी पड़ा। गन्धार-कला में सर्वप्रथम बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ मिली हैं। उसी समय उस मानुष बुद्ध का भी विचार महायान में आया जो इस संसार में निवास करते थे। उन्ही के अवतार ध्यानीबुद्ध माने गये। इससे भी बढ़कर वज्रयान (काल चक्रयान) में आदिबुद्ध की कल्पना आई, जो सर्वथा ब्राह्मणधर्म से सम्बद्ध मानी जाती है। बौद्धों ने ब्राह्मणधर्म के जितने सिद्धान्त अपनाये उनमें आदिबुद्ध की कल्पना अद्वितीय है। उसे ब्रह्म के सदृश माना गया है और उनकी शक्ति, प्रज्ञापारमिता की तुलना माया से कर सकते हैं। यद्यपि भारतीय कला में ब्रह्म का कोई आकार नहीं मिलता (कलात्मक उदाहरण नहीं पाया जाता), तथापि यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि बौद्धों ने जितने देवताओं की कल्पना की उसके पीछे प्रायः सभी सिद्धान्त ब्राह्मणधर्म से प्रभावित थे। जैसे शक्ति के बिना ब्रह्म उत्पादन नहीं करता, उसी प्रकार आदिबुद्ध को पृथक् न दिखलाकर शक्तिसहित प्रदर्शित

किया गया। इस कलात्मक प्रदर्शन को तिब्बत की बौद्धकला में 'यब-यम' कहते हैं। क्रियाशीलता प्रकृति (शक्ति) का धर्म है, अतः पुरुष वस्तुतः निष्क्रिय तथा अकर्त्ता है। प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है, यानी दोनों का संयोग सृष्टि (विश्व) का उत्पादक है। इसीलिए बौद्ध कलाकारों ने आदिबुद्ध की प्रतिमा तैयार की। इसी आदिबुद्ध से पंचध्यानी बुद्ध पैदा हुए, जिनसे ही वज्रयान के सारे देवी-देवता उद्भूत हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस हीनयान तथा महायान में ऐतिहासिक गौतम बुद्ध को छोड़कर किसी अन्य देव की कल्पना न थी, उसी मत के तीसरे यान (वज्रयान) में ब्राह्मणधर्म के प्रभाव से सृष्टिकर्त्ता आदिबुद्ध (ब्रह्म) की कल्पना अपनाई गई।

बौद्धकला में कुछ प्रतिमाओं के सिरे पर ध्यानीबुद्ध की मूर्ति नहीं मिलती, अतः उन्हें स्वतन्त्र प्रतिमाओं के रूप में देखते हैं। हिन्दूधर्म के प्रभाव से इस तरह की कई स्वतन्त्र बौद्धप्रतिमाएँ मध्ययुग में तैयार की गई थी।

हिन्दूधर्म के पञ्चदेवों को धीरे-धीरे बौद्धों ने अपनाना आरम्भ किया। सर्वप्रथम गणेश को कला में स्थान दिया गया। साधनमाला के वर्णन में गणेश की कल्पना सर्वथा हिन्दुओं की ही प्रकट होती है। वह वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है—

> "भगवन्तं गणपतिं रक्तवर्णं जटामुकुटकिरीटिनं
> सर्वाभरणभूषितं द्वादशभुजं लम्बोदरैकवदनं अर्द्धपर्य्यंक-
> ताण्डवं त्रिनेत्रमप्येकदन्तं सव्यभुजेषु कुठारशर-
> अङ्कुश-वज्र-खड्ग-शूलं च वामभुजेषु मूसलचापखट्वाङ्ग-
> असृक्कपालशुष्कमांसकपालफट्कं च रक्तपद्मे
> मूषिकोपरि स्थितमिति।" (साधन० ३०७)

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि साधनमाला में वर्णित गणपति तथा वैदिक धर्मानुमोदित गणेश की कल्पना में बहुत कम अन्तर था। गणपति की स्वतंत्र प्रतिमा मिली है, जो नृत्य के भाव में है तथा जिसके बारह हाथ दिखलाई पड़ते हैं। वह वर्णन पौराणिक विवरण के समान है।

शक्ति-प्रतिमाओं में उग्रतारा, मारीचि तथा सरस्वती का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बौद्धदेवी उग्रतारा तथा काली की प्रतिमा में विशेष अन्तर नहीं है। साधनमाला के २०९ साधन में इस देवी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस तारा की आठ भुजाएँ हैं जिनमें विभिन्न आयुध वर्तमान हैं। बाएँ हाथ में रुधिरपूरित कपाल विशेषतः उल्लेखनीय है। मारीचि की तो अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनका स्वरूप यह बतलाता है कि बौद्धधर्म में सूर्य की स्त्री को ही मारीचि का नाम दिया गया है। इस देवी की आठ भुजाओं में कई प्रकार के आयुध हैं। आसन के नीचे सूर्य-रथ के सात घोड़ों के स्थान पर सात शूकरों की आकृतियाँ हैं और सारथि अरुण के बदले राहु को प्रदर्शित किया गया है। मध्यकालीन मारीचि की ऐसी अनेक प्रतिमाएँ कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन प्रतिमाओं को देखने से स्पष्ट होता है कि मारीचि का सम्बन्ध बौद्धधर्म से था, क्योंकि सिरे पर ध्यानीबुद्ध

वैरोचन की आकृति जुदी है। यदि इसकी कल्पना का विचार किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि हिन्दू देवता सूर्य के अनुकरण पर ही मारीचि की मूर्ति तैयार की गई। डा० भट्टाचार्य ने भी इसी मत का समर्थन किया है। सरस्वती के सम्बन्ध में भी विद्वानों की यही धारणा है। बौद्ध तंत्रयान के विचारकों का यह मत था कि मंजुश्री की तरह सरस्वती भी ज्ञान दिया करती हैं। इस विद्यादेवी के सम्बन्ध में साधनमाला में कई साधनाएँ लिखी गई हैं। बौद्धधर्म में यह कल्पना सर्वथा हिन्दू-कल्पना है, क्योंकि पूर्वमध्यकाल से पहले (यानी तन्त्रयान से पूर्व) ऐसी कल्पना का अभाव था। साधन-माला में वर्णित महासरस्वती का वर्णन ब्राह्मणधर्म की सरस्वती के समान है। उसका दूसरा नाम वज्रशारदा भी मिलता है। वह कमलासन पर बैठी हैं। एक हाथ में कमलपुष्प तथा दूसरे में पोथी वर्तमान है। नालन्दा से इस तरह की वज्रशारदा की प्रतिमा उपलब्ध हुई है। वज्रयान-साहित्य में सरस्वतो के लिए आर्य-सरस्वती, अथवा वज्रसरस्वती के नाम भी मिलते हैं। हिन्दू विद्यादेवी सरस्वती के हाथों में कमल, वीणा या पुस्तक आदि का वर्णन मिलता है जिसकी समता वज्रशारदा से की जा सकती है। गणेश तथा सरस्वती के अतिरिक्त शिव की कल्पना भी बौद्धों ने हिन्दुओं से अपनायी। तंत्रयान में बुद्ध के समान शिव की कल्पना को स्थान नहीं मिल पाया, किन्तु उस तरह की प्रतिमा लोकेश्वर के रूप (बुद्ध का पूर्वरूप) में प्रदर्शित की गई। उत्तरी भारत के कई स्थानों से सिंहनाद लोकेश्वर की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो शिव की प्रतिमा से मिलती-जुलती है। महाराज लीला-आसन में लोकेश्वर बैठे हैं, जिनके दाहिनी ओर त्रिशूल बना है। उनका वर्ण श्वेत है तथा वे त्रिनेत्र दीख पड़ते हैं। साधनमाला में निम्न वर्णन पठनीय है —

"आत्मानं सिंहनादलोकेश्वररूपं भावयेत्। श्वेतवर्णं त्रिनेत्रं जटामुकुटिनं निर्भूषणं व्याघ्रचर्मप्रावृतं सिंहासनस्थं महाराजलीलं चन्द्रप्रभं भावयेत्।"

उपर्युक्त साधना में लोकेश्वर को सिंह की पीठ पर बैठा दिखलाया गया है, जो हिन्दू-धर्म मे भगवान् शिव का वाहन नहीं माना जाता। हिन्दूधर्म में नन्दी को शिव का वाहन मानते हैं। इसके अतिरिक्त लोकेश्वर का पूर्ण विवरण शिव से मिलता है। सारनाथ के संग्रहालय में नीलकण्ठ लोकेश्वर की कई प्रतिमाएँ मिली हैं। इनमें लोकेश्वर हलाहल का प्याला लिये हुए दिखलाये गये हैं जो शिव के विष-पान के कथानक की ओर संकेत करता है। प्रतिमा की जटा पर ध्यानीबुद्ध की आकृति है। इसी कारण इस मूर्ति को लोकेश्वर कहा गया है, अन्यथा वह शिव की प्रतिमा के सदृश है।

बौद्ध तंत्रयान पर वैष्णव मत का अत्यधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है और इस कारण वैष्णव प्रतिमाओं के अनुकरण पर बौद्धमूर्तियाँ बनने लगी थीं। हिन्दूकला में देवताओं के आयुध, वाहन तथा सर के अलंकरण में भिन्नता पाई जाती है। यदि शिव के सिर पर जटा है, वाहन नन्दी है, त्रिशूल या सर्प आयुध के स्थान पर मौजूद हैं, तो विष्णु की प्रतिमा में किरीट-मुकुट दिखलाई पड़ता है। गरुड़ वाहन है और चक्र, शंख आदि आयुध दीख पड़ते हैं। बौद्धकला में विष्णु-प्रतिमा के अनुकरण पर ही

बुद्ध के सिर पर किरीट-मुकुट बनाया गया था। पहले बुद्ध की मूर्तियाँ उष्णीष के साथ बनती रहीं। किन्तु, आठवीं सदी के बाद प्रतिमाओं में किरीट-मुकुट दिखलाई पड़ता है। यह कल्पना हिन्दूकला से ली गई थी। पूर्वमध्ययुग से उत्तरी भारत के समस्त प्रदेशों में किरीट-मुकुट के साथ बुद्ध की प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं।

यह स्थूल अनुकरण यहीं तक सीमित नहीं रहा, किन्तु वैष्णव मतानुयायियों ने बौद्धमत की जड़ ही हिला दी। तंत्रयान के परिवर्तित रूप सहजयान को वैष्णव-सहजिया का नाम दिया गया और अन्त में बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार मानकर कला में प्रतिष्ठित किया। उत्तरी भारत में दसवीं शताब्दियों तक विष्णु के अवतारों का जहाँ-जहाँ प्रदर्शन मिलता है, वहाँ बुद्ध को नवम स्थान दिया गया है। जयदेव ने भी गीत-गोविन्द में ऐसी ही बात कही है—'केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे।' हिन्दूकल्पना का इस प्रकार का समावेश तंत्रयान के युग (८वीं से १२वीं सदी) में ही पाया जाता है। यों तो गुप्तकाल से ही हिन्दूधर्म में पंचायतन-पूजा का प्रचार हो रहा था, किन्तु उत्तर गुप्तयुग के बाद ही बौद्ध कलाकारों ने हिन्दू-कल्पनाओं को अपनाया। भारतीय कलात्मक उदाहरणों में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। सातवीं सदी से पूर्व बौद्धकला में किसी प्रकार की हिन्दू-कल्पना को स्थान नहीं मिला था। किन्तु, सारनाथ, मथुरा, बिहार, नालन्दा, महोबा तथा खजुराहो आदि स्थानों से जो बौद्धप्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं उनमें हिन्दूकल्पना का समावेश पाया जाता है।

भारतवर्ष में मूर्तिपूजा का अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचार रहा है। इस तरह की पूजा की अपनी विशेषता है, किन्तु बौद्धमत के आरम्भ में बौद्ध विचारकों ने इसे प्रश्रय नहीं दिया। हीनयान के युग मे प्रतीकों को ही स्थान मिल सका था। बोधगया, भरहुत तथा साँची की कला में बुद्ध के प्रतीकों (हाथी, वृक्ष, चक्र, स्तूप आदि) को ही प्रधान स्थान मिल सका। शुङ्ग-काल के पश्चात् भक्ति की भावना ने कुछ परिवर्तन ला दिया और महायान के विचारकों ने बुद्ध को देवता के रूप में माना। उस समय भी किसी प्रकार की पूजा-विधि की कल्पना नहीं हो सकी थी। वज्रयान के समय में कलाकारों ने हिन्दूकल्पना को स्थान दिया और कुछ अंशों में हिन्दू-देवताओं के विशेष लक्षणों का अनुकरण भी किया तथा समाज में वैसी पूजा का भी प्रसार किया जो सर्वथा हिन्दू-कल्पना के अनुरूप थी। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इस प्रश्न पर गहराई में जाकर विचार किया है। उनके मतानुसार हिन्दूधर्म की तरह, वज्रयान की प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा की भावना नहीं मिलती। वज्रयानियों का पूजा-प्रकार जैन तथा हिन्दुओं से भिन्न था। तंत्रयान में पूजा के लिए साकार देव-मूर्तियों की नितान्त आवश्यकता थी, जिनके बिना देवी-देवताओं का ध्यान तथा मनन सम्भव नहीं था। प्रतिमा के अतिरिक्त चित्र का भी यही उपयोग था। नेपाल में इसी प्रकार प्रतिमा तथा चित्र का भी ध्यान कर पूजा सम्पन्न की जाती थी। यद्यपि वज्रयान-धर्म में मूर्ति-पूजा को विशेष स्थान नहीं मिल सका, तथापि इस मत के उपासकों में मूर्ति-पूजा का अभाव नहीं था।

साधन-माला की अनेक साधनाओं में देवी अथवा देवता को जल, पुष्प, धूप, दीप आदि समर्पित करने का वर्णन पाया जाता है। अतएव भट्टाचार्य का मत सर्वथा मान्य नहीं है। यह विचार कि उपासकों में मूर्ति-पूजा का प्रचार था, किन्तु संघ में ऐसी बात नहीं थी, तर्कहीन प्रतीत होता है। पूर्वमध्ययुग में जिस रूप में हिन्दू-कल्पनाओं का बौद्ध कला में समावेश हो रहा था, उस पर विचार करने से यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि हिन्दुओं का पूजा-प्रकार भी बौद्धों द्वारा अपनाया गया। अतएव साधन-माला का वर्णन इस मत को पुष्ट करता है कि वज्रयान में हिन्दू-शैली की मूर्ति-पूजा का प्रचार हो गया था। संक्षेप में, यह कहना युक्तिसंगत होगा कि वज्रयान-युग में बौद्ध-विचारकों ने अनेक हिन्दू-कल्पनाओं को अपनाया और कुछ अंशों में कला में भी उनका अनुकरण किया गया, जिसके प्रमाण आज भी सुलभ हैं।

(२५)

सूर्य-पूजा तथा मग ब्राह्मण

वैदिक युग से ही भारतवर्ष में सूर्यपूजा का प्रचलन है। यह कहना अनुचित होगा कि उस पूजा का प्रचार सदा एक-सा रहा है। सूर्यपूजा कभी अत्यधिक प्रचलित न हो सकी, परन्तु ये देवता सदा लोकप्रिय थे। वैदिक सूर्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु प्राचीन पुरातत्त्व-सम्बंवी प्रमाणों के आधार पर यह कहना उचित होगा कि ईसा-पूर्व तीसरी शती में सूर्य लोकप्रिय देवता हो गये थे। ईसा-पूर्व शताब्दियों की प्रस्तर आकृतियों में सूर्य की आकृति भाजा की गुहा तथा बोधगया की वेष्टनी पर दिखलाई पड़ती है। सूर्यदेव चार घोड़े के रथ पर स्थित, उषा तथा प्रत्यूषा सहित दिखाये गये हैं।

यूनानी लेखकों ने भी सूर्यपूजा के प्रचलन का उल्लेख किया है। कुषाण-राजा कनिष्क के सिक्कों पर सूर्य की आकृति तथा लेख-मिहिर यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में सूर्यपूजा का प्रचार ईसवी-सन् के बाद भी बना रहा। प्रश्न यह है कि इस देवता की पूजा इतनी लोकप्रिय क्यों हो गई। क्या यह उत्तर उपनिषद्-युग की धार्मिक भावना का प्रतीक है, अथवा किसी अन्य कारण से सूर्यपूजा की प्रधानता शनैः-शनैः भारत में हो गई ?

इस प्रश्न पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि सूर्य की लोकप्रियता का मुख्य कारण बाहरी प्रभाव ही था। सूर्यपूजा की वृद्धि, पंचदेवों में इसका स्थान तथा सूर्य की प्रधानता के मूल कारण मग ब्राह्मण थे। मग के सम्बन्ध में यह ज्ञात है कि ईरान के पश्चिमी भाग में यह जाति निवास करती थी जिसे मग या मगी कहा जाता था। इस जाति का आर्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। जब आर्य ईरान पहुँचे, तब मग अपनी प्रधानता खो बैठे और अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए सूर्यदेव के पुजारी हो गये। ईरान से मगों का भारत में कब आगमन हुआ, यह ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। विद्वानों का मत है कि सम्भवतः शक जाति के साथ ही मग भी भारत में

प्रवेश कर गये और उसी समय (ईसवी-सन्) से सूर्यदेवता की पूजा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

वराहमिहिर ने उल्लेख किया है कि मग सूर्य के पुजारी थे—"विष्णोर्भागवता-न्मगांश्च सवितुः"[१] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मगों का सूर्य-पूजा से प्राचीन सम्बन्ध था। यों तो मथुरा से प्राप्त तीसरी सदी की सूर्य-प्रतिमा को ईरानी वेशभूषा में प्रदर्शित किया गया है, किन्तु वराहमिहिर के कथन में सूर्य-पूजा तथा मगों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

ईरान से आनेवाले व्यक्ति तथा सूर्य-पूजा से सम्बद्ध मग ब्राह्मण थे, इसका उल्लेख गया जिला (बिहार) से प्राप्त गोविन्दपुर के लेख में मिलता है।

इस प्रशस्ति मे उल्लिखित शाम्ब (कृष्ण के पुत्र) की कथा भविष्यपुराण में भी मिलती है। भविष्यपुराण में वर्णन आता है कि शाम्ब ने एक सूर्य-मन्दिर तैयार किया, जिसकी पूजा के लिए स्थानीय ब्राह्मण निमन्त्रित किये गये, परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। तब उग्रसेन ने मगों को शकद्वीप से बुलाया; क्योंकि वे सूर्य के पुजारी थे।

इन आधारों पर यह कहा जाता है कि मग ब्राह्मण थे तथा ये शाकद्वीप में निवास करते थे। यही कारण है कि ये सम्प्रति शाकद्वीपीय ब्राह्मण के नाम से विख्यात हैं।

इस प्रसङ्ग में यह कहना अनुचित न होगा कि मग ब्राह्मण पश्चिम भारत से पूर्व की ओर चले और पूर्वी भारत (विशेषकर बिहार) में आकर बस गये। बिहार में इनका मुख्य कार्य रोग-चिकित्सा समझा जाता है। विद्वान् मग या मगी शब्द का अर्थ भी यही मानते है—रोग दूर करनेवाला या मंत्र का प्रयोग करनेवाला, यानी चिकित्सक अथवा ज्योतिषी। इस तरह के कार्य का स्पष्टीकरण एक सूर्य-प्रतिमा-लेख से होता है। प्रतिमा-लेख सूर्य को 'तकमी दिनकारिन भट्टारक' की संज्ञा से प्रकाशित करता है। तकमन् शब्द का अर्थ रोग से है और सूर्य रोग का नाशक कहा गया है। इस प्रकार, उसके पुजारी का चिकित्सक होना स्वाभाविक है। दूसरे लेख में सूर्य 'समस्तरोगाणा हर्त्ता' कहा गया है। इन लेखों के अध्ययन से प्रकट होता है कि सूर्य-पूजा से मग लोगों का वास्तविक सम्बन्ध रहा और देव तथा पुजारी दोनों, चिकित्सक और रोग से किसी-न-किसी रूप मे सम्बद्ध थे। देवता रोग का हर्त्ता था, तो पुजारी चिकित्सक। मग शब्द की व्याख्या भी इसे व्यक्त करती है। इस प्रकार सूर्य-प्रतिमाओं की स्थिति यह घोषित करती है कि ७००-१२०० ई० तक पूर्वी भारत में सूर्य की पूजा प्रचलित रही।

पुराणों के उल्लेख तथा वराहमिहिर की बात को मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी ने दुहराया है। वह लिखता है कि 'सूर्य-मूर्ति की पूजा के लिए एक विशेष जाति के लोग आमन्त्रित किये जाते अथवा पूजा करते थे, जिन्हें 'मग' कहा जाता है। इस तरह यह ज्ञात होता है कि दशवीं शती तक मग लोगों द्वारा सूर्य-पूजा की बात समाज में सर्वविदित थी। गोविन्दपुर-लेख से भी यही प्रकट होता है। कदाचित्, उसके बाद

१. बृहत्संहिता, अ० ६०।

मग लोगों ने चिकित्सक या ज्योतिषी का कार्य मुख्यतया ग्रहण कर लिया और सूर्यदेव के पुजारी-मात्र न रहे।

प्राचीन अभिलेखों तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में सूर्य-पूजा का सर्वप्रथम प्रचार हुआ। सिन्ध, पंजाब तथा राजपूताना के प्रदेशों में ऐसे पुरातत्त्व-विषयक प्रमाण मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मग लोग शकद्वीप से सिन्ध में आये और राजपूताना के भू-भाग से होकर भारत के पूर्वी भाग (बिहार तथा बंगाल) में आकर बस गये। यही कारण है कि इस भाग में शाकद्वीपीय ब्राह्मण अधिक संख्या में पाये जाते हैं। मगध में आकर उन्होंने ज्योतिषी तथा चिकित्सक का कार्य अपनाया, जो पटना गजेटियर के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है।

पाँचवीं शती के मंदसोरलेख से पता चलता है कि गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त के शासन-काल में मालवा में एक विशाल सूर्यममंदिर बनाया गया था। (श्रेणीभूतै-र्भवनमतुलं कारितं दीप्तरश्मेः)। मध्य भारत में हूण-शासक तोरमाण के सिक्के तथा मिहिर के लेख यह घोषित करते हैं कि उस भाग में सूर्यपूजा का प्रसार हो गया था। तोरमाण सूर्य का भक्त था, इसलिए उसने सिक्कों पर चक्र बनवाया तथा उसने अपने पुत्र का नाम मिहिर रखा। मिहिरकुल की ग्वालियर-प्रशस्ति सूर्य-मंदिर के निर्माण की घटना को प्रमाणित करती है। मध्यदेश (उत्तर प्रदेश) में भी सूर्यमंदिर का निर्माण हुआ था और स्कन्दगुप्त के समय में लोग भगवान् सूर्य की उपासना करते थे। राजपूताना के राजा उदयसिंहदेव भीनमाल के लेख में निम्नलिखित प्रार्थना मिली है—

> यस्योदयास्तसमये सुरमुकुटनिघृष्टचरणकमलोऽपि।
> कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः॥

इस तरह की प्रार्थना अथवा मन्त्र (नमः सूर्याय) से विदित हो जाता है कि उस समय सूर्यपूजा का प्रचार था। इतना ही नहीं, लेखों में रविवार के दिन पुष्प तथा नीम की पत्ती से सूर्यपूजा का उल्लेख पाया जाता है। ऐसे लेख पूर्वी भारत में ९वीं से १२वीं शती तक मिलते हैं, जिनमें दान करते समय भगवान् सूर्य की उपासना का वर्णन है। राजपूताना के चौहान-लेख में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि १२वीं शती में सूर्य-मंदिर को ग्रामदान में दिया गया था। प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल द्वितीय (९४२ ई०) ने उज्जैन में एक दानपत्र लिखा था, जिसमें भगवान् इन्द्रादित्य (सूर्य) के पूजा-निमित्त कई ग्राम दान में देने का विवरण पाया गया है (देवश्रीलोकार्कार्य)। परमार राजा के द्वारा सूर्य-मंदिर के जीर्णोद्धार का वर्णन लेखों में मिलता है (गृहं कारितमाशु भानोः)। इन प्रशस्तियों के आधार पर ज्ञात होता है कि राजपूताना और पंजाब के भाग में सूर्यपूजा का प्रचार चौथी शती से बारहवीं शती तक था। उत्तरप्रदेश में पाँचवीं शती से सूर्यपूजा का प्रचलन दिखलाई पड़ता है। पश्चिमी भारत में मुल्तान का प्रसिद्ध सूर्य-मंदिर था, जिसके सम्बन्ध में कई मुसलमान लेखकों ने वर्णन किया है। अलबेरूनी के अतिरिक्त अलइद्रिसी का विवरण अधिक प्रकाशमान

है। वह लिखता है कि मुल्तान एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान बन गया था और भारत के कोने-कोने से जनता सूर्यपूजा के लिए आया करती थी। मुसलमान सुल्तान के लिए सूर्यमंदिर आय का साधन हो गया था। सुल्तान को प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों की आमदनी उस मंदिर से थी, जिसे हिन्दू-जनता सूर्यप्रतिमा पर अर्पित किया करती थी। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि हिन्दू आक्रमण को रोकने के लिए मुसलमान शासक सूर्य-प्रतिमा की सहायता लिया करते थे, यानी हिन्दूनरेशों को यह भय रहता था कि कहीं आक्रमण करने पर मुल्तान का सूर्यमन्दिर नष्ट न कर दिया जाय। काश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर भी उस भाग में सूर्यपूजा का प्रचार घोषित करता है।

उत्तर-पश्चिम भारत में सूर्यपूजा का प्रचार कर मग ब्राह्मण पूर्वी भारत में जा पहुँचे। उस भाग में बारहवीं शती तक सूर्य की उपासना के प्रमाण मिलते हैं। पूर्वी भारत में प्रतिमा की अधिकता से यह अनुमान हो जाता है कि सूर्यपूजा के प्रचार के साथ लोगों ने भक्ति-भावना के कारण सूर्यप्रतिमाओं की स्थापना की। पाल-युग में भगवान् सूर्य की मूर्तियाँ तैयार की जाती रही। बिहार तथा बंगाल के आठवीं शती के लेख भी इस कथन को प्रमाणित करते है। बिहार में स्थित देववर्णनाक तथा शाहपुर की प्रतिमा के लेख सूर्यपूजा के प्रचलन को सिद्ध करते हैं। दीनाजपुर के एक लेख में सूर्य को 'समस्तरोगाणां हर्त्ता विश्वप्रकाशकः' कहा गया है। बंगाल के शासक सेन नरेश—केशवसेन तथा विश्वरूपसेन सूर्यपुजारी होने के कारण 'परमसौर' की पदवी से विभूषित किए गये थे।

समस्त साहित्यिक तथा पुरातत्त्व-विषयक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिम से सूर्यपूजा का आरम्भ पहले हो चुका था, तत्पश्चात् पूर्वी भारत में हुआ। मग ब्राह्मण किस शती में क्रमशः पश्चिम से पूरब बढ़ते गये, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। गोविन्दपुर के लेख से बिहार में नवी शती तक उनकी स्थिति सिद्ध हो जाती है। इसी शती की सूर्यप्रतिमाएँ मगध, ढाका तथा राजशाही से प्रकाश में आई है। ८वीं शती की सूर्य-प्रतिमा में मूर्ति का पैर ढका मिलता है, जो ईरानी प्रभाव था। कहने का तात्पर्य यह है कि मथुरा की सूर्यप्रतिमा से बिहार की मूर्तियाँ मिलती-जुलती हैं। इससे यह स्वतः अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः पश्चिम से वह ढंग पालयुगीन कला में अपनाया गया होगा, अर्थात् जब मग ब्राह्मणों ने सूर्यपूजा का समावेश किया तभी कलाकारों ने पश्चिमी ढंग पर सूर्य-प्रतिमा तैयार की। आठवी शती मे बिहार की कला सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर चुकी थी। इस आधार पर यह सुझाव युक्ति-संगत है कि ५वीं शती के आस-पास मग (शाकद्वीपीय ब्राह्मण) पूर्वी भारत में आये और सूर्यपूजा का प्रसार उत्तरोत्तर होता गया।

(२६)

बोधिसत्त्व तथा जातक-प्रदर्शन

प्राचीन भारतीय कला का उद्भव एवं विकाश विशेषतः धार्मिक भावना से सम्बद्ध है। वैदिक युग के कलात्मक दृष्टान्त उपलब्ध नहीं हैं और उपलब्धियों के आधार पर जैन तथा बौद्ध कला-कृतियों को प्राचीनतम मानते हैं। बुद्धधर्म की दो विभिन्न शाखाओं—हीनयान तथा महायान—से भारतीय कला अनुप्राणित है, जिसमें हीनयान का सम्बन्ध ईसवी-पूर्व भारतीय कला से स्पष्ट प्रकट होता है। प्रारम्भिक अवस्था में बुद्ध को सर्वद्रष्टा, अद्वितीय एवं महान् नेता माना गया तथा वर्षावास में उपदेशक के रूप में वर्णित किया गया है। मौर्यकालीन कला में बुद्ध के अनेक प्रतीकों को स्थान दिया गया, परन्तु मौर्य सम्राट् अशोक के शासनकाल में जनसाधारण की भावना को स्थान न मिल सका। यही कारण था कि कालान्तर में मौर्य-कला की विशेषताएँ कलाविद् को आकृष्ट न कर सकी। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से शुङ्गशैली में मौर्य-विचारधारा को स्वागत नही मिला। शुङ्गकालीन मान्यताओं में जातक का प्रदर्शन अपना विशेष स्थान रखता है। भरहुत, अमरावती, बोधगया की वेदिकाओं तथा साँची के तोरण पर प्रतीक एवं जातक ही मुख्यतया प्रदर्शित हैं। हीनयान की तथाकथित कलात्मक कृतियों मे बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं का अद्वितीय प्रदर्शन मिलता है, जो शुङ्गकालीन कलाकारों की असीम निपुणता तथा क्षमता का परिचय देता है। इतना ही नहीं, यह परिपाटी तथा कार्यक्रम कई शतियों तक प्रचलित रहा। इसीलिए, अजन्ता की चित्रकला, जावा के बारोबुदुर, बर्मा के पेगम तथा थाइलैंड के सुखोदय की कलाकृतियो में सैकडों जातक कथाओं का प्रदर्शन उपलब्ध है।

इतिहास के विद्वान् इसे भलीभांति जानते है कि ईसा-पूर्व द्वितीय शती में भरहुत-वेदिका तथा साँची के तोरण तैयार किये गये थे। प्रस्तर खण्डों की खुदाई के कई कारण थे, जैसे बुद्धधर्म का प्रचार। किन्तु प्रतीक तथा जातक-प्रदर्शन ने अधिक स्थान लिया। बुद्ध का आकृति का कोई प्रश्न ही न था। धर्म से अधिक जातकों मे कर्म को प्रधान प्रतिष्ठा दी गई। उनमें सदाचार की भावना भरी हुई है। यह कथन युक्तिसंगत न होगा कि बुद्धमत से ही उनका सम्बन्ध था। किन्तु, बौद्धमतानुयायियों ने जातक को धर्मप्रचार का एक साधन समझा। विण्टर्निट्ज़ का कथन है कि सिंहली से पाली में जातक लाये गये (इन्साइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन एण्ड इथिक्स, भा० ७, पृ० ४९४)। कर्न का तो मत है कि अधिकतर कथानक बौद्धधर्म से सम्बद्ध नही थे। जातक से बोधिसत्त्व का सम्बन्ध जुडने पर कथानक आसानी से बुद्धधर्म के प्रचारक हो गये। जिन कथाओं में राजा, ब्राह्मण, मंत्री, और जानवर (हाथी, बन्दर, शेर, कुत्ता, चिड़ियाँ आदि) के उपाख्यान हैं, उनमे मुख्य नायक का एकीकरण बोधिसत्त्व से कर दिया है। इन प्रदर्शनों के मूल में किसी कथानक की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कर बुद्धधर्म में प्रेम उत्पन्न करने की भावना काम कर रही थी। अधिकतर विद्वान् जातक (बुद्ध के पूर्वजन्म के वृत्तान्त) का सम्बन्ध बोधिसत्त्व से जोड़ते हैं,

और वही उसका नायक भी होता है; किन्तु लेखक के मत में यह विवाद से परे नहीं है। मूलतः, ईसवी-पूर्व में जातक पद्य में लिखे गये थे। उस समय बोधिसत्त्व का नाम किसी प्रकार भी कथानक से सम्बद्ध न था; परन्तु कालान्तर में गद्य-टीकाओं में बोधिसत्त्व का नाम आवश्यक रूप से जोड़ दिया गया।

इसमें तो दो मत नहीं हो सकते कि बोधिसत्त्व की कल्पना महायान की देन है। महायान के उदय के साथ गन्धार कला में बोधिसत्त्व को मनुष्य की आकृति दी गई। उससे पहले उनकी मूर्ति अज्ञात थी। जो पारमिता को पार कर 'बोधि' प्राप्ति के लिए उत्सुक है, वही बोधिसत्त्व है—बोधौ सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः (बोधिचर्यावतार)। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक का जीवन-लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण-साधन है। उसके दो प्रधान गुण हैं-महामैत्री तथा महाकरुणा। विश्व का एक भी प्राणी दुःख का जब तक अनुभव करता है, तब तक बोधिसत्त्व अपनी मुक्ति नहीं चाहता। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों से द्रवीभूत हो उठता है। बोधिचर्यावतार (तृतीय परिच्छेद) में उसके आदर्श का वर्णन इस प्रकार है—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥

बोधिसत्त्व को प्रथमतः बोधिचित्त को ग्रहण करना पड़ता है। पारमिताओं का अनुशीलन भी नितांत उपयोगी साधन है। पारमिताओं का अर्जन ही बुद्धत्व-प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। बोधिसत्त्व में ही उपदेश द्वारा प्राणियों को मुक्त बनाने की योग्यता रहती है। तात्पर्य यह है कि महायान का बोजिसत्त्व बुद्ध की ज्ञान (बुद्धत्व) प्राप्ति के निमित्त निरूपित था। अतएव, प्रश्न उठता है कि ईसवी सन् पूर्व का कल्पित व्यक्ति (बोधिसत्त्व) का सम्बध भरहुत तथा सांची के जातक-प्रदर्शन से किस प्रकार जोड़ा जा सकता है? उस काल में (ईसवी-पूर्व तीसरी शती) बुद्ध को 'भगवान्' शब्द से वर्णित करते थे, जो एक प्रकार से असंगत प्रकट होता है। हीनयान को बुद्ध-प्रतीकों द्वारा सम्मानित किया गया, जबकि महायान में भक्ति तथा प्रसाद की भावना से दिव्यगुणसम्पन्न बुद्ध ईश्वर के रूप में पूजित होने लगे। महायान के बुद्ध को ही 'भगवान्' शब्द से विभूषित करना सर्वथा न्यायसंगत होगा।

दैवीशक्ति प्राप्त करने के पश्चात् भगवद्राज्य का आविर्भाव एक स्वतःसिद्ध तथ्य है। भगवान् शब्द की व्याख्या करने से प्रकट हो जाता है कि वही व्यक्ति, जिसमें ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य एवं तेज समग्र रूप से विद्यमान रहते हैं, 'भगवान्' कहलाता है। 'भग' का अर्थ है—समग्र यश, समग्र लक्ष्मी, समग्र ज्ञान आदि। 'व' अखिलात्मा का संकेत करता है। इस प्रकार, 'भगव' से युक्त होने के कारण वह परमतत्त्व 'भगवान्' कहा जाता है। पिपरावा के भस्मपेटी पर अंकित लेख में 'इयं सलिल निधने बुध स भगवते सकियानं' का उल्लेख आया है। प्रायः इसी अर्थ को अशोक के धर्मलेखों

में मान्यता दी गयी है। बभ्रु के लेख में उल्लिखित वाक्य (भगवता बुधेन भासिते एतानि भंते धंम पलियायानि) से बुद्ध को ईश्वर के रूप में ही (भगवान् कहकर) माना गया है। बेसनगर में स्थित गरुडस्तम्भः लेख में विष्णु को भगवान् मानकर 'देवदेवसवा ;देव' वाक्य उल्लिखित है। तात्पर्य यह है कि ईसवी-पूर्व शतियों में व्यवहृत शब्द 'भगवान्' उस परमतत्त्व का नाम था, जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते थे।

ईसवी सन् के पूर्व भरहुत की वेदिका पर अंकित लेख भी इस कथन की पुष्टि करते हैं।

(१) भगवतो शक मुनिनो बोधो
(२) अजातसतु भगवतो वन्दते
(३) सावस्तिये कोसम्बी कुटिये भगवतो चैकमे
(४) भगवाञ्छावस्त्यां विहरति जेतवने
(५) एरापटो नागराज भगवतो वन्दते।

यदि भरहुत-वेदिका तथा साँची के तोरण हीनयान-युग की कृति माने जायें, तो बुद्ध के लिए 'भगवान्' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त हो जाता है। 'भगवान् ऊक्रान्ति' का प्रयोग मायादेवी के स्वप्न को व्यक्त करता है, जिसका प्रदर्शन अमरावती में रथ पर बैठे हाथी से तथा साँची के तोरण पर विभिन्न रूपों में (कमलासन पर बैठी स्त्री-मूर्ति, तथाकथित गजलक्ष्मी की आकृति से) किया गया है। प्रश्न यह है कि बोधिसत्त्व को भरहुत तथा साँची में स्थान दिया जा सकता है, जो महायान की देन है ? उसी के साथ बुद्ध को दैवी शक्ति से सम्पन्न परमतत्त्व (भगवान्) की कल्पना की जा सकती है या नहीं ?

जब बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में अधिक विचार करते हैं, तब यह स्पष्ट ही हो जाता है कि हीनयान के अर्हत् के स्थान पर महायानवालों ने बोधिसत्त्व को प्रतिष्ठित किया। यही पुराने तथा नवीन यान में अन्तर था। बोधिसत्त्व तो मनुष्य को बोधि के मार्ग पर ले जाता है। 'सोर्सेज आफ इ'डियन ट्रेडिशन' (पृ० १५६-७) और 'अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारमित' (२२।४०२) में महायान-मत के दिव्य बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की कल्पना स्पष्ट रूप से दोनों के भेद को व्यक्त करती है। महासंघिक तथा थेरवाद के मूल में बोधिसत्त्व की शिक्षा के कारण विभिन्नता है। दीघनिकाय में भी स्थान-स्थान पर बोधिसत्त्व तथा बुद्ध से सम्बन्ध में जो कुछ विवेचन है, उसमें बुद्ध के लिए 'भगवान् शब्द (दैवी बुद्ध के अर्थ में) प्रयुक्त है। 'अजातसतु भगवतो वंदते' वाक्य के अनुसार मगध के राजा अजातशत्रु द्वारा दैवी बुद्ध को घुटने के बल टेकते हुए वन्दना करने का अभिप्राय व्यक्त किया गया है। इतना ही नहीं, 'नागराज इलापेट्रा' की वन्दना की वार्ता भरहुत की वेदिका पर खुदी है—एरायतो नागराजा भगवतो वंदते। अन्यत्र भी भगवान् शब्द के प्रयोग से बुद्ध के दैवी गुण की बात ही व्यक्त होती है। उसी दैवी पुरुष (भगवान्) के शासन को अर्हत् देवसभा में घोषित करता है—महासामायिकायं अर्हत 'गुतो देवपुतो वो कतो भगवतो सासनि पटिसंधि। दीघनिकाय के इस प्रकार के कथनों से बुद्ध की दैवी शक्ति का आभास हो जाता है।

बोधिसत्त्व के साथ इस तरह की शक्ति का सम्बन्ध कथमपि नहीं जोड़ा जा सकता। डॉ० नलिनाक्ष दत्त का कथन सारगर्भित है। उनका कथन है कि ईसवी-पूर्व शतियों में बोधिसत्त्व की कल्पना को स्थान न मिल पाया था। जब समाज में पूर्णरूप से इस विचार को स्थान दिया गया तभी भरहुत की वेदिका तथा साँची के तोरण पर जातक का प्रदर्शन किया गया। जातक में पारमिता का अभ्यास करते बोधिसत्त्व को पृथक् नहीं समझा गया था। डॉ० दत्त बुद्ध को हीनयान-युग में साधारण व्यक्ति ही मानते हैं, उसमें दैवी शक्ति का समारोपण नहीं हो सकता था भगवान् शब्द का प्रयोग भी युक्तिसंगत नहीं है (एसपेक्ट ऑव महायान एण्ड इट रिलेशन टु हीनयान, पृ० २—४)।

यों तो, जातकों में सांसारिक विषयों का विवेचन है और डॉ० वसाम का कहना सत्य मालूम पड़ता है कि जातक धार्मिक वार्ताओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। 'आचारांगसूत्र' (१, २-३) में ऐसा वर्णन आता है कि बुद्ध ने जेतवन विहार में रहकर काशिराज को स्वयं कथा सुनाई थी, जब बोधिसत्त्व सुपर्ण के रूप में पैदा हुए थे। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि आख्यान तथा जातक सच्ची गाथा से दूर हैं। ईसवी-पूर्व शतियों में गाथाओं को बौद्ध परम्परा में लेकर लोकप्रिय जातक का रूप दिया गया और उनको कला में प्रदर्शित किया गया। पश्चिम तथा उत्तर भारत (गान्धार का भू-भाग) उन कथाओं से सम्बद्ध है तथा बाद में कोसल एवं मगध भी उनसे सम्बद्ध हुए। उन समस्त कथाओं में बुद्ध की पूर्वानुस्मृति की चर्चा की गई है।

यदि कालक्रम के अनुसार देखा जाय, तो पता चलता है कि ईसवी-पूर्व तीसरी शती में अशोक के बैराट-शिलालेख में उत्कीर्ण 'भगवता बुधेन भासिते सर्वे से सुभासिते वा तथा भगवता बुधेन भासिते एतानि भन्ते धम्म पलियायानि—वाक्यों का प्रयोग किया गया है। अपनी धार्मिक यात्रा के प्रसंग में अशोक ने लुम्बिनी-स्थित स्तम्भलेख को अंकित कराते समय 'हिद भगवं जातेति' वाक्य का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि अशोक के समय में भी बुद्ध की दैवी शक्ति (साधारण पौरुष नहीं) की चर्चा थी। डॉ० दत्त इस युग को मिश्रित हीनयान का काल मानते हैं; परन्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ई० पू० दूसरी शती से महायान का अभ्युदय मानने में किसी तरह की आपत्ति नहीं हो सकती। उसी परिस्थिति में भरहुत-वेदिका तथा साँची-तोरण पर जातक का प्रदर्शन उपयुक्त होगा तथा उनका सम्बन्ध बोधिसत्त्व से जोड़ सकेंगे। सात मानुषी बुद्ध की दैवी शक्ति का ध्यान कर ही 'भगवतो विपासिनो बोधि' से 'भगवतो सक मुनिनो बोधि' वाक्यों का उल्लेख किया गया है।

भरहुत-वेदिका तथा साँची-तोरण का सम्बन्ध महायान-मत से जोड़ने पर एक प्रकार से प्रश्न का उत्तर मिल सकता है और बोधिसत्त्व एवं जातक-प्रदर्शन उसी युग की देन कहे जा सकते हैं।' इस शंका का दूसरा समाधान साहित्य के आधार पर निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है कि जनसाधारण में 'बुद्ध' तथा 'बोधिसत्त्व का प्रयोगात्मक विश्लेषण अज्ञात था। विशुद्धिमग्ग (४।१) में 'भगवा बोधिसत्त्व भूतो'

से बुद्ध का संकेत है। बौद्ध साहित्य के कतिपय ग्रन्थों (मज्झिमनिकाय, १।१७।१६३); अंगुत्तरनिकाय (२।१३०) में 'बोधिसत्त्व' तथा 'बुद्ध' शब्दों का प्रयोग किसी निश्चित अर्थ में नहीं मिलता। महायान के उदय होने पर भी दोनों शब्दों का वास्तविक तात्पर्य अथवा 'बुद्ध' तथा 'बोधिसत्त्व' का वास्तविक स्थान अज्ञात रहा। कनिष्क के वाराणसी के लेख में निम्नलिखित उल्लेख पाया जाता है—

महारजस्य कणिष्कस्य सं० ३ हे ३ दि० २२
एताये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्यबुद्धिस्य सद्धये
विहारस्य भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य
बोधिसत्त्वो छत्रयष्टि च प्रतिष्ठापितो
वाराणसिये भगवतो च कमे सहा मता

सारांश यह है कि कनिष्क के तीसरे वर्ष (ई० स० ८१) में भिक्षु बल ने भगवान् बोधिसत्त्व की छत्रयष्टि स्थापित की थी। इस लेख में 'भगवान्' तथा 'बोधिसत्त्व' दोनों शब्द विचारणीय हैं। बोधिसत्त्व के लिए 'भगवान्' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त था। कला की दृष्टि से सारनाथ-संग्रहालय में सुरक्षित उस देवता की यष्टि को देखा जाय, तो स्पष्ट प्रकट होता है कि वह प्रतिमा बुद्ध की है, बोधिसत्त्व की नहीं। लेख में उल्लिखित बोधिसत्त्व तथा वास्तविक मूर्ति में सामञ्जस्य नहीं है। गन्धार-कला में प्रायः बोधिसत्त्व की जितनी प्रतिमा निर्मित की गई, सभी शिष्ट राजकुमार के वेश में मिलती है। पर सारनाथ की प्रतिमा मुंडितकेश चीवरधारी बुद्ध की है। इस अनौचित्य प्रयोग का कारण कदाचित् लोगों की अभिज्ञता थी अथवा बुद्ध को बोधिसत्त्व तथा बोधिसत्त्व को बुद्ध कहना शास्त्रतः अशुद्ध नहीं था। वास्तविक स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालना कठिन है; किन्तु बोधिसत्त्व का सम्बन्ध हीनयान-शाखा से कदापि नहीं जोड़ा जा सकता। अतएव, ईसा-पूर्व द्वितीय शती की शुङ्गकला (हीनयान-युग) में बोधिसत्त्व का प्रदर्शन अप्रासंगिक है। वस्तुतः, तत्कालीन जातक प्रदर्शन में बोधिसत्त्व का सम्पर्क कालविरुद्ध है और कल्पना की उड़ान में वह सुसंगत नही प्रतीत होता। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणों से जनता तथा कलाकार की अनभिज्ञता का परिचय मिलता है।

(२७)

कलाकारों का जीवन-चरित

भारतीय संस्कृति के विकास में कलाकारों ने अधिक योगदान दिया है। उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का केवल समादर ही न होता था किन्तु उनके अनुकरण से कला तथा संस्कृति का प्रसार हुआ। प्राचीन काल में कलाविद् अपनी ख्याति के भूखे न थे परन्तु सिद्धान्त तथा विचार के प्रचार निमित्त दत्तचित्त रहा करते थे। इस कारण कलाकारों ने अपनी कृतियों पर नामोल्लेख नहीं किया। ऐसी स्थिति में उन कलाविदों के जीवन-चरित्र के विषय में कुछ ठोस बातें नहीं कही जा सकतीं। किसी-किसी का

नाम अन्य साधनों से ज्ञात हो जाता है। भारत में विदेशी यात्रियों ने देश का परिभ्रमण कर अनेक बातों पर प्रकाश डाला। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक का बातों विवरण उपस्थित करते समय कला को अछूता न छोड़ा। यदि उनको कला-निर्माता का नाम ज्ञात हो जाता तो अपने विवरण में उसे स्थान देते। यही कारण है कि कुछ कलाकारों के नाम तिब्बती अथवा चीनी साहित्य के अध्ययन से विदित हो जाता है।

साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसी बातें दीख पड़ती हैं। मध्ययुग के कलाकारों ने अपनी कृतियों में नामोल्लेख किया है। यह कल्पना कठिन है कि कलाक्षेत्र में इस परिपाटी की क्यों आवश्यकता हुई, परन्तु खुदे लेख की सहायता से पर्याप्त ज्ञान सुलभ हो जाता है। ईसवी पूर्व सदियों में सांची वेदिका पर कई लेख अंकित है जिसमें दान देने का विवरण है और उसी प्रसंग में दानकर्ता अथवा कार्य करने वाले का नाम खुदा है।

उदाहरणार्थ—

(१) मूल गिरिनो दानं लेखकस (लेखक द्वारा दान)

(२) इन्द्रदत्त-अंगरखा निर्माता का दान (ए० ह० भा० १९, पृ० ६५)

(३) घोषक तथा नागदत्त कलाकार जो कुशल कलाकार थे।

(४) खरूक, बुद्धसैनिक, अमृत खातित आदि कलाविदों द्वारा दान का विवरण मिला है।

(५) दक्षिण तोरण पर एक लेख अंकित है—वेदिसकेहि दन्तकारोहि रूपकंमं-कटं यानी विदिशा के हाथीदाँत पर कार्य करने वाले कलाकार द्वारा दान दिया गया।

यदि अभिलेखों का परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होता है कि संघ (बैंक), साधु तथा भिक्षुणी के अतिरिक्त अनेक कलाकारों के नाम आते हैं।

पहली सदी से बौद्धकला की उन्नति होने लगी। चैत्य तथा विहार का निर्माण होने लगा। उस कार्य के लिए बौद्धभिक्षुओं में से किसी विज्ञ व्यक्ति को कार्य-निरीक्षक नियुक्त किया जाता जो सूत्रकार (प्रस्तर पर काम करने या खोदने वाला व्यक्ति) को मार्गदर्शन दिया करता। तक्षशिला के एक लेख में उसे 'नवकर्मिक' कहा गया है। वह संघाराम के निर्माता पटिक नामक कारीगर को सलाह दिया करता था (ए० इ० भा० ४, पृ० ५५)। कनिष्क के विहार में 'नवकर्मिक अंगिसस' का नामोल्लेख है (का० इ० इ० भा० २, पृ० १३७)। अमरावती के लेख में अनेक नवकर्मिक के नाम आए हैं। गुप्तयुग से नामोल्लेख की परिपाटी बढ़ने लगी। लेखों के खोदने-वाले कलाकार का नाम अंतिम पंक्ति में 'उत्कीर्णेण' शब्द के साथ मिलता है। प्रथम कुमारगुप्त के धनैदह ताम्रपत्र के अन्त में 'उत्कीर्णा स्तम्भ ईश्वरदासेन' वाक्य से ईश्वरदास नामक कलाविद् का पता लगता है।

अपसद अभिलेख का उत्कीर्ण करने वाला सूक्ष्मशिव नामक कलाकार गौड़-देशीय कहा गया है।

सूक्ष्म शिवेन गौड़ेन प्रशस्ति विकटाक्षरा।

(प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, खण्ड २, पृ० ८५)

मध्ययुग के अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि कलाकारों के कई संघ थे जो पृथक्-पृथक् माध्यम पर कार्य करते थे। मृत्कार, तंतुवाय, चित्रकार, चर्मकार तथा सूत्रधार (प्रस्तर पर काम करने वाला) श्रेणी का विवरण मिलता है। निम्न प्रकार का उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त हुआ है—

विश्वकर्म्मेव सर्वज्ञो वास्तुविद्यां—

येननिर्मितं इदं मनोहरं शंकरस्य भवन समण्डपम् ।

(हर्ष शिलालेख—ए० इ० भा० २, पृ० १२३)

धनिक के नगर प्रशस्ति से भी उसी प्रकार की बातें प्रकाश में आई हैं।

श्री भिल्लमाल सूत्रधार गृहभट्टोत्पन्न सूर्यवर्म ग्रहवर्म गंगावर्म्मेनि सूत्रधारत्व निपुणेः वास्तुविद्यापारगेः।—नगर प्रशस्ति—भारतकौमुदी, भा० १, पृ० २७६।

राजपूताने के चण्डशिव आदि का नाम प्रसिद्ध था। इन कलाविदों ने प्रस्तर को सुन्दर गढ़ कर प्रतिमा निर्माण भी किया था।

प्रतिमा खोदने का कार्य निपुण कलाकार करते थे। उन मूर्तियों को ग्राहक ले जाकर मंदिरों में प्राण-प्रतिष्ठा करता था। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर भूभाग से प्राप्त चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख में प्रतिमा के निर्माता माधव का नाम उल्लिखित है—

उत्कीर्णा माधवेनेदं श्रीगंगाधर सूनुना श्रीचन्द्रमाधवो येन घटितोन्य हंसन्निव।

(ए० इ० भा० १४, पृ० १९९)

चन्द्रमाधव (विष्णु) की प्रतिमा तैयार कर कलाकार ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी। सम्भव है, यदा-कदा लेख अंकित करने का कार्य भी सम्पन्न करते थे। बंगाल के सिलिमपुर लेख में सोमेश्वर मगध (बिहार प्रदेश) का विख्यात कलाकार कहा गया है जिसने ताम्रपत्र पर अक्षरों को खोदा था।

शिल्पविनः मागधः कामो तन्मया वर्णभिक्तिभिः।

सोमेश्वरो लिखिदिमाम् प्रशस्ति स्वामिव प्रियाम् ॥

(ए० इ० भा० १३, पृ० ४२, पद्य २९)

महीपाल की प्रशस्ति में महीधर नामक कलाविद् का नाम उल्लिखित है—

इयं शासनं उत्कोर्णा श्री महीधरशिल्पिना।

(ए० इ० भा० १४, पृ० ४२८)

दूसरे लेख से पाल्हण तथा नागवर्म कुशल कलाकारों के नाम प्रकाश में आया है—

रजयालस्य पुत्रेण पाल्हणेन च शिल्पिना

उत्कीर्णा वर्ण्णघटना वैदग्धी विश्वकर्मण (वही, भा० २०, पृ० १३१)

यशोवर्म्म सुतेनेयं साधुना नागवर्मणा

रम्या प्रशस्तिरुत्कीर्णा कलाकौशलशालिना (धनिक की नगर-प्रशस्ति)

अभिलेखों के आधार पर ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हुए हैं जिससे ज्ञात होता है कि प्रस्तर पर काम करने वाले कलाकार प्रतिमा निर्माण के साथ लेख भी अंकित करते रहे।

> उत्कीर्णा प्रचुरसा प्रशस्तिरियमक्षरै रुचिरैः
> उत्कीर्णा सोमनाथेन टङ्क विज्ञानशालिना। (ए० इ० भाग १, पृ० ८१)
> लिपिज्ञान विधिज्ञेन प्राज्ञेन गुणशालिना
> सिंहेनेय समुत्कीर्णा सद्वर्णा रूपशालिना। (वही, पृ० १४७)

प्रस्तर के अतिरिक्त धातु को गला कर सांचे में प्रतिमा ढालने की क्रिया मध्य-युग की विशेषता थी। उत्तरी भारत में नालंदा तथा कुर्कीहर इस कला के केन्द्र थे। दोनों स्थान बिहार प्रदेश में स्थित हैं। पालयुगी प्रस्तर-कलाशैली को धातु प्रतिमा पर उतारना नालंदा या कुर्कीहर (गया जिला) में ही सम्भव था। साँचे में ढालने का वर्णन गत पृष्ठों में किया गया है किन्तु तिब्बत के इतिहास से धातु पर कार्य करने वाले कलाकारों के नाम मिले हैं। इस प्रसंग में धीमान तथा बिटपाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जिस स्थान पर धातु गलाने का काम होता था, वह आज भी नालंदा विहार के समीप विद्यमान है। पालनरेशों के शासनकाल में धातु प्रतिमा का निर्माण अधिक हुआ। पाल राजा राज्यपाल के समय कई धातु प्रतिमाएँ तैयार की गई थीं जिनकी पीठ पर लेख खुदे हैं। राज्यपाल के २८, ३१ तथा ३२वें वर्ष में गोपाल नामक कलाकार कार्य करता रहा। राजा के नाम के साथ गोपाल का नाम भी अंकित है।

इसी प्रकार नयपाल के शासन-काल में दो कलाकारों—सतसोम तथा सर्वानन्द की कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। उनके नाम भी छोटे से लेख में अंकित है। इस प्रकार नामों के संकलन से कलाकारों के जीवनचरित का अल्प ज्ञान हो जाता है। भारतीय कलाविदों के नाम बृहत्तर भारत के इतिहास में यदा-कदा मिल जाता है। चीनी इतिहास में तीन भारतीय चित्रकारों का नामोल्लेख है।

शाक्य बुद्ध, बुद्धकीर्ति तथा कुमारबोधि

ऐतिहासिक सर्वेक्षण से प्रकट होता है कि भारत के मध्ययुगी कलाकारों का उल्लेख कारणवश अधिक मात्रा में किया गया है। सांची वेदिका के अतिरिक्त मध्ययुगी कांस्य प्रतिमा की पीठ पर खुदे लेखों से कलाकारों के नाम अधिकतर उपलब्ध हुए हैं।

(२८)

कतिपय धार्मिक अभिलेख

(१)

बेसनगर का गरुड़स्तम्भ लेख।
भाषा—प्राकृत, लिपि ब्राह्मी।

प्राप्तिस्थान—विदिशा (मध्यप्रदेश) काल—ई० पू० द्वितीय शती ।

देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं कारिते इअ हेलिओदोरेन भागवतेन दियस पुत्रेण तख्खसिलाकेन योन दूतेन आगतेन महाराजस अंतिलिकितस उपता सकासं रञो कोसीपुत्रस भागभद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजेन बधमानस।

(भावार्थ)

तक्षशिला के राजा अंतिलिकित के दूत हेलियोडोरस, जिसकी पदवी भागवत थी, ने देवाधिदेव विष्णु के गरुड़ध्वज की स्थापना की। वह कोसीपुत्र भागभद्र के १४वें वर्ष में उसके दरबार में आया था।

नोट—विदेशी यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म को अङ्गीकार किया था।

(२)

घोसुंडी शिलालेख।
भाषा—संस्कृत, लिपि ब्राह्मी।
प्राप्तिस्थान—नागरी, चित्तौरगढ़ राजस्थान।
काल – ई० पू० द्वितीय शती।

कारितो अयं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरी पुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेध याजिना भगवद्भ्यां संकर्षण वासुदेवाभ्यां अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजा-शिला प्रकारो नारायण वाटका।

(भावार्थ)

भागवत (पदवीधारी) राजा सर्वतात ने (जिसने अश्वमेध किया था) संकर्षण तथा वासुदेव की पूजा के लिए स्थान निश्चित किया जिसे नारायण वाटिका का नाम दिया गया था।

नोट--ई० पू० द्वितीय शती में वैष्णव मतानुयायी (भागवत पदवी से विभूषित) था। उस समय विष्णु के व्यूह स्वरूप बलराम (संकर्षण) एवं वासुदेव की पूजा होती थी।

(३)

कुषाणराजा वीमकदफिस का मुद्रालेख

भाषा--प्राकृत, लिपि खरोष्ठी।
प्राप्तिस्थान—वीम को स्वर्णमुद्रा पर अंकित।
काल—ई० पू० प्रथम शती।

महरजस रजदिरजस सर्वलोग इश्वरस महिश्वरस विम कथ्फिशस त्रतरस।

महाराजा राजाधिराज वीमकदफिस जिसकी पदवी महीश्वर (महेश = शिव का पुजारी) थी। उसी का सिक्का है।

नोट—शक राजा ने भारतीय मत शैवधर्म को स्वीकार कर लिया था।

(४)

सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा का लेख

भाषा—संस्कृतमिश्रित प्राकृत।

लिपि—ब्राह्मी।

प्राप्तिस्थान—सारनाथ (वाराणसी के समीप)

काल—ईसवी सन् प्रथम शताब्दी।

महारजस्य कणिष्कस्य सं० ३ ह० ३ दि० २० + २ एताये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्य बुद्धिस्य सद्धये विहारिस्य भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो छत्रयष्टि प्रतिष्ठापितो वाराणसिये भगवतो चंक्रमे सहामाता, पितहि सहा उपध्यायाचर्येहि सद्धयेविहारि हि अंतेवासिकेहि च सहा बुद्धमित्र ये त्रैपिटिक ये सहा क्षत्रपण वनस्परेन खरपल्लानेन सहा च चतुहि परिषाहि सर्व सत्वनं हितसुखार्थम्।

(भावार्थ)

महाराजा कनिष्क के तीसरे वर्ष (३×७८=८१ ई०) में भिक्षुबल ने जो त्रिपिटक (सूत्तपिटक, विनयपिटक एवं अभिधम्मपिटक) के ज्ञाता हैं, बोधिसत्व के छत्रयष्टि (दण्ड को स्थापित किया। वाराणसी गन्धकुटी विहार में। इस कार्य से माता-पिता, आचार्य, उपाध्याय (अपने अध्यापकों), विहार के शिष्यगण, क्षत्रप, वनस्पर, खरपल्लान आदि के हित सुख की कामना करता है।

(५)

करमदण्डा शिवलिङ्ग प्रशस्ति (प्रथम कुमारगुप्त)

भाषा—संस्कृत, लिपि-गुप्तलिपि

प्राप्तिस्थान—करमदण्डा के समीप, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश

काल—११७ गुप्त संवत्=ई० स० ४३६

नमो महादेवाय महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त; पादानुध्यातस्य चतुधुदधि सलिला स्वादित यशसो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य विजय राज्य संवत्सर शते सप्तदशोत्तरे; कार्तिकमास दशम दिवसे स्यान्दिवस-पूर्वायां च्छान्दोग्या चार्य्याश्व वाजि; सगोत्र कुरमार भट्टस्य पुत्रो विष्णुपालित भट्टस्तस्य पुत्रो महाराजाधिराजा श्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्य शिखर स्वाम्य भूत्तस्य पुत्र:; पृथिवीषेणो महा-राजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यो; अनन्तरं च महाबलाधिकृत: भगवतो महादेवस्य पृथिवीश्वर इत्येवं सभाख्या तस्या; स्यैव भगवतो यथा-कर्तव्य-धार्मिक-कर्मणा पाद शुश्रुषणाय भगवच्छैलेश्वर स्वामी महादेव पादमूले अयोध्यक नानागोत्रचरणतप:; स्वाध्याय-मंत्र-सूत्र-भाष्य-प्रवचन-पारग-भारडि दसमद देव द्रोण्यां;

(भावार्थ)

महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त, जिसका यश चारों दिशाओं में व्याप्त था, का उत्तराधिकारी महाराजाधिराज कुमारगुप्त के राज्य में संवत् ११७ में कार्तिक मास दशमी पर विष्णुपालित भट्ट का पुत्र शिखरस्वामी, जो महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त

का मन्त्री था, के पुत्र पृथिवीषेण, जो महाराजाधिराज कुमारगुप्त का मंत्री तथा सेनापति था, पृथिवीश्वर नामक (शिवलिङ्ग) स्थापना की। उस देवता के पूजा, धार्मिक कृत्य, देवयात्रा आदि के निमित्त अयोध्या के निवासी शास्त्रों (मंत्र, सूत्र, भाष्य प्रवचन में पारंगत ब्राह्मण को (दान दिया गया)।

नोट – यह लेख शिवलिङ्ग के आधारशिला, जो चतुर्भुजाकार है, पर अंकित यही गुप्तकाल का अन्तिम शिवलिङ्ग माना जाता है। उसके पश्चात् एकमुख लिंग तथा चतुर्मुख लिंग प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं।

(६)

मनकुँवार बुद्ध प्रतिमा लेख (प्रथम कुमारगुप्त)

भाषा—संस्कृत, लिपि–गुप्त लिपि।
प्राप्तिस्थान—मनकुँवार, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश।
काल – गुप्त संवत् १२९ (=४४८ ई०)

नमो बुधान भगवतो सम्यक् सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य हयं प्रतिमा प्रतिष्ठापितो भिक्षु-बुद्धमित्रेण।

संवत् १०० × २० × ९ महाराजे श्रीकुमारगुप्तस्य राज्ये ज्येष्ठमास दि १० × ८ सर्व दुःख प्रहानात्थंम्।

(भावार्थ)

महाराज श्रीकुमारगुप्त के राज्य में संवत् १२९ ज्येष्ठ मास शुक्ल अष्टमी को भिक्षु बुद्धमित्र ने जो अपने मत का परम अनुरागी था, भगवान् बुद्ध की इस प्रतिमा को स्थापित किया।

नोट--यह लेख बुद्ध की प्रतिमा के आधारपीठ (Pedestal) पर सामने अंकित है।

(७)

सारनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख (बुद्ध गुप्त)

भाषा-लिपि—संस्कृत, गुप्त लिपि।
प्राप्तिस्थान—सारनाथ (वाराणसी के समीप)
काल—गु० सं० १५७ (=४७६ ई०)

गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्त पंचाशदुत्तरे
शते समानो पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति।
वैशाखमास सप्तम्यां मूले श्यामगते मया
कारिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्य भिक्षुणां
इमामुदण्ड सछत्र पद्मासन विभूषितां
देवपुत्रवतो दिव्यां चित्रविन्यासचित्रितां
यदत्र पुण्यं प्रतिमा कारयित्वा मया भृतम्
माता पितृगुरूणां च लोकस्य च समाप्तयो

(भावार्थ)

गु० स० १५७ वैशाख कृष्ण सप्तमी को बुधगुप्त के शासनकाल में अभयमित्र शाक्यभिक्षु (बुद्ध) की प्रतिमा स्थापित की। छत्र सहित तथा पद्मासन पर सुशोभित थी। माता-पिता, गुरु तथा लोक के पुण्य के लिए मूर्ति स्थापित की गई।

(८)

पालवंशी धातु प्रतिमा लेखों में शासक के नाम के साथ तिथि का उल्लेख मिलता है। अन्यथा इनका कोई दूसरा महत्त्व नहीं प्रकट होता।

कुर्कीहर प्रतिमा लेख राज्यपाल (वर्ष ३१)

श्री राज्यपालदेव राज्ये संवच्छरे ३१ श्री मदापणक महाविहारे वस्ताव्य महिअरु भार्या मूलकाया देवधर्म कृतम्।

(९)

नालंदा धातु प्रतिमा लेख (गोपाल द्वितीय प्रथम वर्ष)

संवत् १ आश्विन सुदि ८ परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री गोपाल राजनि श्री नालन्दायां।

श्री वागीश्वरी भट्टारिका सुवर्ण श्रीहसच्छ।

(१०)

मिट्टी के ठीकरे पर अंकित लेख (विग्रहपाल द्वितीय, वर्ष ८)

सिद्धम् स्वस्ति श्रीमान् महाराज विग्रहपाल देवस्य विजयराज्ये सम्वत्सरे ८ देवधर्मोयम् शान्तिरक्षितस्य।

(२९)

भारतीय कला में पशु, पक्षी एवं जलजन्तु

भारतीय कला का उद्गम ही प्रतीक के साथ हुआ जिसमें कलाकारों ने पशु, पक्षियों तथा जलजन्तु को पर्याप्त स्थान दिया। इसका कारण यह था कि कलाविदों ने इन्हें कलाकृतियों में स्थान देकर अलङ्करण की वृद्धि की। विभिन्न जानवरों को देवी-देवताओं के वाहन रूप में प्रदर्शित कर सम्बन्ध जोड़ा तथा कथानक में भी स्थान-स्थान पर जानवरों का समावेश किया। अथवा देवी जीवन को व्यक्त करने के लिए पशु-पक्षी को कला में स्थान दिया गया जिससे कथानक का प्रसङ्ग पूर्ण हो जावे। किसी देवता के वाहन का चयन उस जानवर के विशेष गुण को ध्यान में रखकर ही किया जाता था। उदाहरणार्थ, सिंह पशुओं में सर्वशक्तिमान है अतएव उसी प्रकार के शक्ति-प्रदर्शन अथवा शक्तिशालिनी देवी से ही उसका सम्बन्ध जोड़ना युक्तिसंगत है। हाथी का दार्शनिक स्वरूप बादल का प्रतिरूप है। उस (हस्ति) को ब्राह्मण तथा बौद्धकला में स्थान दिया गया है या किसी कथानक प्रसंग में भी। इस प्रकार कला में जिस-जीव जन्तु को स्थान मिला था उसकी प्राथमिकता पर ध्यान देना आवश्यक है। विशिष्ट स्थान पर उनके प्रदर्शन तथा उसके महत्त्व पर भी प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान

जाना स्वाभाविक है। यदि जानवरों के प्रदर्शन या प्रासङ्गिक वार्ता पर गहराईपूर्वक विचार किया जाय तो सम्पूर्ण विषय का ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त देवी-देवता की मुखाकृति में विशिष्ट स्थलों पर जानवरों के मुख को जोड़ कर नई रीति का प्रदर्शन कला में मिलता है। उनके आधार पौराणिक कथानक ही समझे जाते हैं। संक्षेप में यह कहना युक्तिसंगत है कि कलाकारों ने परिस्थितियों के अनुसार ही पशु, पक्षी या जलजन्तु को प्रधानता दी।

सिंह

शतपथब्राह्मण में सिंह शक्ति का प्रतीक माना गया है। पशु-संसार में सिंह को सबसे शक्तिशाली जानवर मानते हैं। उसी भावना को लेकर जिस स्थान में शक्ति का प्रदर्शन कलाकार चाहते थे अथवा श्रेष्ठता को व्यक्त करना उद्देश्य होता, उस स्थिति में सिंह को प्रदर्शित करना उन्होंने उचित समझा। विश्व में मातृशक्ति का प्रदर्शन करते समय देवी की प्रतिमा सिंहयुक्त बनाई जाने लगी। दुर्गा देवी सिंह-वाहिनी तैयार की गई। इसी तरह के विचार ईरान या मिस्र देश में भी प्रचलित थे। अतः ईरान में पंखयुक्तसिंह का चित्र मिलता है। भारत में इस रीति को अपनाया गया। सांची की वेदिका पर पंखयुक्त सिंह है तथा बोधगया की वेदिका पर सिंह राशि के जानवर में पंख दीख पड़ते हैं।

भारत में गौतम बुद्ध शाक्यवंश में सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे अतएव शाक्यसिंह के नाम से विख्यात हुए। अशोक ने इसी भाव के प्रदर्शन निमित्त कोल्हुआ (वैशाली) तथा लोरिया नंदन (चम्पारन) के स्तम्भ शीर्ष पर सिंह तैयार कराया। सांची तथा सारनाथ में चार सिंहयुक्तस्तम्भ शीर्ष बनाए गए।

सारनाथ की स्तम्भ चौकी पर भी सिंह की आकृति खुदी है। ईसापूर्व युग में भारतीय कला प्रतीकात्मक थी अतएव सिंह बुद्ध का प्रतीक माना जाता है।

इसके अतिरिक्त मध्ययुग की कला में सिंहासन पर बैठे बुद्ध की प्रतिमा बनाई जाने लगी। चौकी पर दो सिंह की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। प्रस्तर तथा धातु मूर्तियों में एक ही रीति अपनाई गई है।

जैनियों ने भी सिंह को अपनाया। जैनकला में महावीर सिंहासन (सिंह के आसन) पर बैठे प्रदर्शित किए गए हैं। सिंह की आकृति तथा मुखाकृति से जैनप्रतिमाएँ कुषाणयुग की समझी जाती हैं।

ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित मूर्तियों में सिंह दो प्रकार से दिखलाया गया है। देवी दुर्गा की प्रतिमा में सिंह वाहन के रूप में वर्तमान है। इस भौतिक शरीर की साधारण अवस्था से ऊँचा स्थान सिंह को विष्णु के अवतार में दिया गया है। भगवान विष्णु का नरसिंहावतार राक्षस हिरण्यकशिपु को मारने के लिए हुआ था जिसमें सिर का भाग सिंह का तथा शरीर के अन्य अंग मनुष्य के सदृश हैं। यह मिश्रित रूप वराहावतार की तरह है। नरसिंह (विष्णु) के अतिरिक्त अन्य कलात्मक कृतियों में सिंह का स्थान जानवर से ऊँचा प्रदर्शित नहीं हुआ है (देखिए नरसिंहावतार का विवरण)।

हस्ति

भारतीय समाज में हाथी वैभव का प्रतीक है। श्रीमान् व्यक्तियों के पास हाथी वैभव तथा मर्यादा को व्यक्त करता है। इसी कारण कला में गजलक्ष्मी की प्रतिमा तैयार की गई जिसके सिर पर दो हाथी घड़े से जल डालते प्रदर्शित हैं। उस देवी यानी लक्ष्मी का नाम भी (गजलक्ष्मी) उस भाव को व्यक्त करने के लिए रक्खा गया था।

शुङ्गकालीन कला में भरहुत, बोधगया-वेदिकाओं तथा सांची तोरण पर गजलक्ष्मी की आकृतियाँ मिलती हैं।

इससे पूर्व सारनाथ में मौर्य स्तम्भ की चौकी पर हाथी का चित्र है। उसे बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित करते हैं। साहित्य में मायादेवी (बुद्ध की माता) के सपने में हाथी का दृश्य उपस्थित किया गया। जो माया के गर्भ में प्रवेश करने वाला है। इस प्रदर्शन के मूल में एक कथानक है जो अमरावती में प्रदर्शित है।

कथानक इस प्रकार है—बोधिसत्त्व स्वर्ग में निवास कर रहे थे। उन्हें पृथ्वी पर आने का आग्रह किया गया। उस देव ने घोषणा की कि वह सफेद हाथी के रूप में माया के उदर में पहुँच जायेगा। इसीलिए अमरावती का वह हाथी साधारण हस्ति से भिन्न है। रथ पर बैठा कर उसे मायादेवी के समीप पहुँचाया गया। महल में मायादेवी शयन कर रही है। चित्र के ऊपरी भाग में हस्ति की आकृति खुदी है यानी माया सपना देख रही है। अतएव बौद्धमत में अकेला हाथी माया के सपने का प्रतीक है।

हाथी का काला शरीर मेघ का प्रतीक भी माना जा सकता है। इसके दार्शनिक तथा पौराणिक मतों को दृष्टि में रख कर हस्ति (वर्षा के रूप में) संसार का पालन-कर्त्ता माना जाय तो कोई असंगत न होगा। वह सारे नभमण्डल में विचरण करता है और इन्द्र (देवेन्द्र) का वाहन हो जाता है। इसी कथानक को भाजा गुफा की दीवार पर विशाल हाथी की आकृति द्वारा प्रदर्शित किया गया और जातकों में राजा वेसन्तर द्वारा हाथी के दान का वर्णन उल्लिखित है।

जातकों में षड़दन्त तथा वेसन्तर कथाओं का सम्बन्ध हस्ति से था। षड़दन्त (छः दाँत) वाला हाथी को व्याधा ने काशिराज ब्रह्मदत्त की आज्ञा से मार कर हाथी-दांत को रानी के सम्मुख उपस्थित किया। यह प्रदर्शन सांची तोरण पर तथा अजंता के चित्रों में मिलता है। यह हाथी बोधिसत्त्व का एक रूप था।

वेसन्तर जातक में हाथी असाधारण जानवर के रूप में पाया जाता है जिसे दान करने पर राजा वेसन्तर को राज्य त्याग कर जंगल में जाना पड़ा था। उस हाथी की उपस्थिति से ही वर्षा हो जाती जिसे जानते हुए राजा ने दान किया था। इस हाथी का वही स्वरूप है (मेघ के रूप में) जो ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है। इसी प्रकार सांची तोरण पर बुद्ध के अवशेष का भस्मपात्र लेकर आठ हाथी दिखलाए गए हैं। मातृपोषक जातक में भी उस सुन्दर हाथी की कहानी है जिसने माता से पृथक् होने पर अन्नजल त्याग दिया था।

ब्राह्मणमत में हाथी इन्द्र का वाहन माना गया है। उनकी पत्नी इन्द्राणी भी सप्तमातृका स्वरूप में हाथी के साथ बैठी हैं। शिव (रुद्र) गजासुर को मारते दिखलाई पड़ते हैं।

रुद्र के ऊपरी हाथों में हाथी का चमड़ा पौराणिक कथानक की अभिव्यक्ति करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्धकला में हस्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। भगवान् बुद्ध से सीधा सम्बन्ध स्थापित है जो अन्य मतों में नहीं पाया जाता।

अश्व

समाज में यातायात के साधनों में घोड़े का व्यवहार अधिक किया जाता है। वेदों में भी सूर्य की किरणों को अश्व से समता करते हैं। वेदों में यज्ञ के सम्बन्ध में अश्वमेध का नाम प्रसिद्ध है। भारतीय अभिलेखों में भी शासकों द्वारा सम्पन्न अश्वमेध का वर्णन मिलता है। पुष्यमित्र को "द्वि अश्वमेध याजिन:" कहा गया है। ऐसे अनेक शासकों के नाम मिलते हैं। काशी में दशाश्वमेध का नामकरण स्यात् नागराजाओं द्वारा दस अश्वमेध सम्पन्न होने के पश्चात् हुआ था।

मौर्ययुग से लेकर बारहवीं शती तक के कलात्मक उदाहरणों में अश्व का किसी-न-किसी रूप में प्रदर्शन पाया जाता है। अशोक स्तम्भ के शीर्ष भाग की पीठ (चौकी) पर चार जानवरों में घोड़े की भी आकृति खुदी है। उसका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है और वह गौतम के महाभिनिष्क्रमण का द्योतक है। इसीलिए बौद्धकला में अश्व को महत्त्वपूर्ण एवं धार्मिक स्थान दिया गया। भरहुत में भी इसका सुन्दर प्रदर्शन है। उस असाधारण घोड़े के सिरे पर छत्र दृष्टिगोचर होता है तथा उसके पैर देवताओं की हथेली पर रक्खे हैं। शुङ्गयुगी कला में धार्मिक तथा व्यावहारिक उदाहरणों में घोड़े की आकृति मिलती है।

यहाँ अश्व के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। बौद्धकला के अतिरिक्त ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित कलाकृतियों में अश्व को सूर्य के रथ में जुड़ा पाते हैं। भाजा गुफा की दीवाल, बोधगया की वेदिका तथा मथुरा की मृत्तिका पट्टी पर सूर्य चार अश्वों के रथ पर दिखलाए गए हैं। गुप्तयुग से यह संख्या बढ़कर सात हो गई। सूर्य प्रतिमाएँ प्रचुर मात्रा में बनने लगीं। उत्तरी भारत में कलात्मक ढंग पर पाँचवीं सदी के पश्चात् सात घोड़े का सूर्यरथ बनने लगा। सूर्य की खड़ी प्रतिमा की पीठ पर सात घोड़ों की आकृतियाँ तैयार होने लगीं। सम्भवत: सात रंगीन किरणों के घोड़े द्योतक थे। पालयुग की सूर्य-प्रतिमाओं में अश्व को सर्वत्र ही स्थान दिया गया है।

सूर्य-प्रतिमा से सम्बन्धित रेवन्त (उसके पुत्र) की प्रतिमा सातवीं सदी के पश्चात् बनने लगी जिसमें उस देवता को घोड़े पर सवार होकर शिकार करने की अवस्था में प्रदर्शित किया गया है। रेवन्त घोड़े पर बैठा है। नीचे कुत्ते की आकृति बनी है तथा मृगया में सम्मिलित होने के लिए वाद्ययुक्त मनुष्यों का समूह दीख पड़ता है।

यज्ञों के प्रसंग में अश्वमेध का वर्णन स्वाभाविक ही था। परन्तु गुप्तनरेशों—समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त प्रथम की स्वर्णमुद्राओं पर बलिदान के घोड़े की आकृति खुदी है। वह यूप से बँधा है तथा वस्त्र ऊपरी भाग पर फहरा रहा है। पट्टमहिषी अश्व के शरीर को स्वच्छ करने के लिए वस्त्र (तौलिया) लिए खड़ी है।

वायुपुराण (९९।१०) में गान्धार देश के घोड़े उत्तम कहे गए हैं

गान्धार देशजाश्चापि तुरगाः वाजिनां वरः।

वराह

भारतीय कला में वराह के दो स्वरूप मिलते हैं। प्रथम साक्षात् वराह (जानवर) का रूप तथा दूसरा मिश्रित रूप। दूसरे प्रकार के शरीर में सिर वराह का दीख पड़ता है तथा निचला भाग मनुष्य का। भगवान् विष्णु ने वराह का अवतार लेकर पृथ्वी को बचाया था। गुप्तयुग से इस वराहावतार की प्रतिमाएँ सुन्दर रीति से तैयार होने लगी। उदयगिरि गुहा (विदिशा के समीप) की दीवाल पर विशालकाय वराह रूप में विष्णु का अवतार प्रदर्शित है। उत्तरी भारत के संग्रहालयों में वराह विष्णु की भव्य प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त विश्वरूप विष्णु के तीन सिरों में एक वराह का मुख भी वर्तमान है। मध्ययुग में हूण राजा तोरमाण ने वराह के भौतिक शरीर पर एक लेख अंकित कराया था जो एरण में मिला है। खजुराहों में भी वराह प्रतिमा (जानवर के रूप में) मिली है। सप्तमातृका की मूर्तियों में वाराही की भी प्रतिमा कलाकारों ने तैयार की थी। उस देवी का सिर वराह की मुखाकृति के साथ है।

बौद्धधर्म में भी तंत्रयान ने इस जानवर के स्वरूप को कलात्मक रीति से अपनाया। तंत्रयान की देवी मारीचि को एक रथ पर स्थित दिखलाया जिसके खींचने के लिए सात वराह (शूकर) निचले भाग पर खुदे हैं। यह भावना सूर्य के रथ से ली गयी थी परन्तु अश्व के स्थान पर वराह को ही स्थान दिया गया।

नन्दि

बैल भारतीय समाज का एक महत्त्वपूर्ण पशु है जिसके सम्बन्ध में धार्मिक भावनाएँ कार्य करती हैं। बैल या गाय को गो शब्द से पुकारते हैं तथा दोनों जन-जीवन में प्रमुख पशुधन माने गए हैं। प्राग्ऐतिहासिक युग से बैल की आकृति मोहन-जोदड़ो की मुहरों पर खुदी मिली है। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में जो विवरण आया है उससे प्रगट होता है कि गो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मनुष्य जीवन में गो की सार्थकता के कारण ही उसे गोमाता का नाम दिया गया। समाज की आर्थिक उन्नति में गो पशु की कितनी आवश्यकता है, यह सर्वविदित है।

भारतीय कला में सर्वप्रथम अशोक स्तम्भ पर साँड़ की आकृति दीख पड़ती है। चम्पारन के रमपुरवा नामक स्थान से जो स्तम्भ मिला उसका शीर्षभाग खड़े सांड़ की आकृति में है। उसकी बनावट की सजीवता तथा सुन्दरता अद्वितीय है। उसकी माँसपेशी तथा चेहरे से पशु जीवित प्रकट होता है। सारनाथ स्तम्भ की चौकी पर खुदे चार जानवरों में बैल की आकृति रमपुरवा के साँड़ से मिलती

है। बौद्धकला में इस पशु को क्यों अपनाया, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं। सम्भवतः मानव विचारधारा में नन्दि सत्य तथा अहिंसा का प्रतीक रहा हो। इसी विचार से प्रभावित होकर बौद्ध कलाकारों ने सांड़ को ग्रहण किया।

जैनियों ने जनजीवन के प्रधान पशु वृषभ को आदि तीर्थंकर का वाहन समझ कर कला में स्थान दिया। इसी कारण प्रथम तीर्थंकर ऋषभ या वृषभनाथ कहे जाते हैं।

ब्राह्मणधर्म में नन्दि के नाम से वृषभ को पुकारते हैं। शैवमत से इसका इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित किया गया कि नन्दि के अवलोकन मात्र से शिवमन्दिर या शैव प्रतिमा का ज्ञान हो जाता है। नन्दि शिव के वाहन के रूप में कला में स्थापित किया गया। शैवमत के प्रतीक नन्दि को प्रतिमा की चौकी पर स्थान दिया गया। युगल मूर्ति (शिव-पार्वती) में नन्दि के साथ सिंह (पार्वती का वाहन) को भी अंकित किया जाता था। पहली सदी से बारहवी सदी तक नन्दि की आकृति मिलती है। भारतीय यूनानी सिक्कों पर केवल वृषभ की मूर्ति अंकित है। कुषाण सिक्कों पर शिव के साथ नन्दि की खड़ी आकृति है। वीमकदफिस, कनिष्क, वासुदेव की स्वर्ण-मुद्राओं पर नन्दि की सुन्दर आकृति दिखलाई पड़ती है। गुप्तयुग से मध्यकाल तक शिव-पार्वती की प्रतिमाओं में तथा शिव की एकाकी मूर्ति में नन्दि अवश्य दीख पड़ता है।

बंगाल के सेन राजाओं की मुहरों पर नन्दि की आकृति खुदी है जिससे प्रकट होता है कि वे शासक शैवमतानुयायी थे।

शिव की नृत प्रतिमाओं में भी नन्दि को स्थान दिया गया। खुदाई के अतिरिक्त धातुप्रतिमा में भी नन्दि नटराज शिव के समीप वर्तमान है। पूर्वी बंगाल से बैल की पीठ पर नृत करते शिव की मूर्ति मिली है।

सांसारिक क्षेत्र में वृषभ को कामशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के पुरुषों में श्रेष्ठ पुरुष बतलाते हैं। यदि वृषभ का सम्बन्ध विषय-वासना से मान लिया जाय तो काम को नष्ट करने वाले शिव का वाहन के रूप में उसकी स्थिति उपयुक्त प्रतीत होती है।

कपि (बन्दर)

भारतीय जनश्रुति में कपि के सम्बन्ध में अनेक कथानक मिलते हैं। रामायण में उसके कार्य का विस्तृत विवरण पाया जाता है। यही कारण है कि राम की युगल प्रतिमा में हनुमान भक्त के स्थान में स्थित रहते हैं। मध्ययुगी कला में, विशेषकर कल्चुरी सिक्कों पर हनुमान की आकृति अंकित है। हनुमान की स्वतन्त्र प्रतिमा भी तैयार होने लगी और वे हिन्दू समाज के एक प्रधान आराध्यदेव हो गए।

बौद्धकला में बोधिसत्त्व की जन्मकथाओं में महाकपि जातक की कथा प्रसिद्ध है। कथानक में काशिराज ब्रह्मदत्त द्वारा मीठे फल खाने वाले बन्दर को पकड़ने के लिए एक सेना भेजी गई। सैनिक समूह ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ नदी किनारे वृक्ष

की शाखाओं पर बैठे बन्दर फल खा रहे थे। सैनिकों ने उन्हें मारने का विचार किया किन्तु बोधिसत्त्व महाकपि ने इसे विफल कर दिया। महाकपि ने नदी के दोनों किनारों तक अपने शरीर को पुल के आकार में विस्तृत कर दिया।

सारे कपि इस ओर से दूसरे किनारे भाग गए। इस घटना के पश्चात् सैनिक आश्चर्यचकित हो गए। तब महाकपि ने "अहिंसा परमोधर्मः" की शिक्षा दी। दूसरे प्रदर्शन में कपि भगवान बुद्ध को पात्र भर कर मधु अर्पित कर रहा है। सांची तोरण पर दोनों घटनाएँ (बुद्ध के जीवन सम्बन्धी) अंकित हैं। इसे 'वानरेन्द्र का मधुदान' कहते हैं। महाकपि जातक में नदी तथा कपि की पीठ पर जाते बन्दरों की आकृतियाँ खुदी हैं।

हिरन (मृग)

बौद्धकला में इस पशु को कई स्थलों पर नाना प्रसङ्ग में प्रदर्शित किया गया है। सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन का जहाँ प्रदर्शन है, प्रतिमा की चौकी के मध्य में दो हिरन सहित चक्र खुदा है। यह चिह्न सारनाथ का द्योतक है जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। मूर्तियों की चौकी पर जहाँ भी हिरनयुक्त चक्र खुदा है, वही प्रथम उपदेश को व्यक्त करता है। गान्धार कला से मगध शैली तक इसका प्रयोग होता रहा। हिरन का सम्बन्ध सारनाथ (वाराणसी के समीप) से इस कारण जोड़ा गया कि उस स्थान का प्राचीन नाम मृगदाव था। वहीं बोधिसत्त्व हिरन के रूप में (शारंगीनाथ) पैदा हुए थे। उसी शारंगीनाथ का विकृत रूप वर्तमान सार-नाथ माना जाता है।

भरहुत वेदिका पर एक कथानक का प्रदर्शन है जिसे मृगजातक कहते हैं। उस मृग ने बोधिसत्त्व को जल में डूबने से बचाया था। मथुरा की वेदिका पर यत्र-तत्र हिरण की आकृति दीख पड़ती है जो जंगल की परिस्थिति का द्योतक है।

गैंडा

वन्य पशुओं में गैंडा एक विचित्र जानवर है जिसका बोझिल शरीर तथा कठोर चमड़ा दर्शनीय है। नाक पर सींग की तरह एक आकार है। इसके शिकार करने का विवरण बहुत कम मिलता है। गुप्तनरेशों की एक स्वर्णमुद्रा पर गैंडा का शिकार करते प्रथम कुमारगुप्त को दिखलाया गया है। इसकी प्रचुरता नहीं मिलती किन्तु राजा को आखेटप्रियता को व्यक्त करता है।

चूहा

इस छोटे से जानवर से शायद ही कोई अपरिचित होगा। ब्राह्मणमूर्तियों में मध्ययुग से गणेश के वाहन के रूप में चूहा दिखलाई पड़ता है। बौद्ध तथा जैनकला में भी गणेश को अपना कर भिन्न स्वरूप में प्रदर्शित किया गया। वाहन की स्थिति से गणेश प्रतिमा का समीकरण किया जाता है।

कुत्ता

श्वान मांसाहारी जानवर है, यही कारण है कि शिकार के अवसर पर ही उसे कला में प्रदर्शित पाते हैं। सर्वप्रथम रुद्र (शिव) की संहार मूर्तियों में भैरव (बटुक भैरव) के साथ कुत्ता दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त सूर्य के पुत्र रेवन्त की प्रतिमा में (शिकार के लिए जाते समय) घोड़े के दोनों पैरों के मध्य श्वान की आकृति है। बौद्धकला में भरहुत वेदिका पर जातक प्रदर्शन में कुत्ते की आकृति खुदी मिलती है।

महिष (भैंसा)

पालतू जानवरों में भैंसे की आकृति कठोरता एवं स्थूलता की प्रतिमूर्ति है। अधिक भोजन, कीचड़ में पड़े रहना, बुद्धिरहित चेष्टा तथा घोर काला रंग इस जानवर की विशेषता है। पुराणों में इन दुर्गुणों के कारण महिष को भयंकर काल यमराज का वाहन घोषित किया गया है। कला में इसके दो स्वरूप मिलते हैं। एक जानवर के रूप में तथा दूसरा मनुष्य (सींगसहित) का शरीरधारी। भगवती दुर्गा इसी रूप को नष्ट करती दिखलाई गई हैं जिस कारण उसे 'महिषासुरमर्दिनी' कहा जाता है। उत्तरी भारत में महिषासुर का मिश्रित रूप मिलता है। भैंसा-मनुष्य का ऊपरी भाग। दक्षिण में महाबलिपुरम् की चट्टान पर महिषासुर तथा दुर्गा का युद्ध प्रदर्शित है। वहाँ सिंहवाहिनी दुर्गा राक्षस को मार रही हैं जो मनुष्य का रूप धारण किए हैं, परन्तु उसके सिर पर भैंसे को दो सींग दीख पड़ते हैं।

नेवला

नेवला सर्प का शत्रु है तथा उसे मार डालता है। कथानक में वर्णन आता है कि सर्प के सिर में मणि (मूल्यवान प्रस्तर) होती है और नेवला उस साँप को खाता है। स्वभावतः नेवला के पेट में मणियों की संख्या अधिक हो जाती है। इसी कथानक के आधार पर कला में नेवला को धनकुबेर के हाथ में दिखलाया गया है। ब्राह्मणकला में कुबेर तथा बौद्धकला में जम्भल के बाएँ हाथ में नेवला की आकृति दीख पड़ती है। जब धनदेवता नेवला के उदर को मसलता है तो वह मणियों को वमन करता है। उन मूल्यवान रत्नों को कुबेर थैलियों में एकत्र करता है।

भेंड़ (बकरी)

सूर्य की तरह अग्नि भी वैदिक देवता हैं। पुराणों (मत्स्य तथा अग्नि) में अग्नि के स्वरूप का वर्णन है। उसी के वाहन के रूप में बकरा की आकृति मिली है। आगम ग्रन्थों में भेंड़ वाहन कहा गया है। दक्षिण भारत के चिदम्बरम् मन्दिर पर अग्नि की मूर्ति में बकरे का चेहरा प्रदर्शित है। इस प्रकार जानवर तथा मनुष्य

आकृति (सिररहित शरीर) में बकरा की मुखाकृति मिलती है। आध्यात्मिक बातों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि अग्नि में रजोगुण (शक्तिवान्) की प्रधानता है और बकरा रजोगुणी होने के कारण अग्नि का वाहन बनाया गया।

हंस पक्षी

पक्षियों में हंस, गरुड़, मोर, शुक, कबूतर तथा उलूक का प्रदर्शन कला में पाया जाता है। ब्राह्मणकला में पक्षियों का अधिक प्रदर्शन है और वाहन के रूप में प्रदर्शित है। हंस ब्रह्मा के वाहन तत्पश्चात् सरस्वती के वाहनस्वरूप कला में दीख पड़ता है। नीरक्षीरविवेकी होने के कारण सरस्वती के साथ उसका सम्बन्ध सर्वथा युक्त है। ज्ञान की देवी का आश्रय पाकर मनुष्य उचित-अनुचित का विचारक हो जाता है। दार्शनिक विचार में हंस को आत्मन से सम्बन्धित करते हैं। योगी प्राणायाम करते समय हंस (सोहं) अथवा हंस का श्रवण करता है। वह अपने को शक्तिमान समझने लगता है। स=इस, हं=मैं (यह मैं हूँ) यही अन्तरात्मा की पुकार है। वह माया के अन्धकार में आत्मन को देख नहीं सकता किन्तु सोहं की पुकार सुनकर मनुष्य अपने को अलौकिक स्थिति में पा सकता है। दैवी गुणों के आश्रय से ही वह योगी परमहंस कहलाता है। वह जन्मबन्धन से मुक्त होकर परमगति की प्राप्ति करता है। इसी को ध्यान में रखकर ज्ञान की देवी सरस्वती का वाहन रूप में हंस का प्रदर्शन भारतीय कला में होने लगा। देवी-देवता के वाहन पशु-पक्षियों का दार्शनिक स्वरूप जान लेने पर सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हंस से स हं, हं स तथा सो हं तथा परमहंस शब्दों का तात्पर्य ज्ञात होता है। उससे ज्ञान-अज्ञान का विभेद जान लेते हैं।

गरुड

त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश) में विष्णु को विश्व का पालक मानते हैं। समय-समय पर स्थान-स्थान में विष्णु को नाना रूप धारण कर (अवतार लेकर) संसार की रक्षा तथा प्राणियों को जीवनदान करना पड़ता है। इसी कारण उनके वाहन के स्वरूप गरुड़ को स्थान दिया गया जिसकी गति तीव्र ही नहीं, अतुलनीय है। भगवान् को विभिन्न स्थानों पर ले जाने में तनिक भी विलम्ब नहीं करता। गरुड़ के इन्हीं गुणों के कारण विष्णु का वाहन बनाया गया।

विष्णु ब्रह्म के स्वरूप में सारी विभिन्न विरोधी शक्तियों को एकसूत्र में बाँध डालते हैं। उस महान संसारव्यापिनी अजेय सत्ता के सम्मुख सभी अपना अस्तित्व खो देते हैं। सर्प तथा गरुड़ में शत्रुता है। गरुड़ सर्प का भक्षक है। विष्णु शेषनाग की शय्या पर रहते हैं तथा वहीं गरुड़ वाहन के रूप में विद्यमान रहता है। इसी भाव को विष्णु की दोनों पत्नियों (लक्ष्मी एवं सरस्वती) को कला में प्रदर्शन द्वारा व्यक्त किया गया है। तात्पर्य यह है कि विरोध को नष्ट करने के कारण गरुड़ विष्णु का वाहन हुआ।

मोर

शिव परिवार में कार्तिकेय युद्धदेवता माने जाते हैं। मोर उनका वाहन कहा गया है। भारतीय कलाभवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक अतीव सुन्दर मोरवाही कार्तिकेय की प्रतिमा सुरक्षित है। गुप्तनरेशों की स्वर्णमुद्रा पर मोर की आकृति उपलब्ध होगी है। कुमारगुप्त की स्वर्णमुद्रा—कार्तिकेय प्रकार में—पर एक ओर राजा मोर को अंगूर खिला रहा है तथा पृष्ठ ओर मोरवाही कार्तिकेय की आकृति खुदी है। इसके अतिरिक्त सामाजिक ढङ्ग पर मोर की आकृतियाँ कला में मिलती हैं।

शुक

संस्कृत साहित्य में शुक से वार्तालाप का विवरण मिलता है। कालिदास के मेघदूत तथा बाण की कादम्बरी में शुक का वर्णन रोचक शब्दों में किया गया है। भारतीय कला में शुक की आकृति यत्र-तत्र मिलती है। मथुरा से प्राप्त प्रसादिका या यक्षिणी की मूर्ति में कंधे पर शुक बैठा है या शुक-पिंजरा लिये स्त्री दीख पड़ती है। कलात्मक नमूनों में अलंकरण के स्थान पर भी शुक की आकृति खुदी है।

कबूतर

पंचतंत्र में राजा के पुत्रों को कबूतर के माध्यम से विद्याभ्यास कराया गया, यह कथानक सभी को ज्ञात है। कबूतर पक्षी का मांस के लिए शिकार किया जाता है। राजा शिवि ने कपोत को शरण दी तथा बाज के पंजे से उसे बचाया था। इस प्रकार की पौराणिक कथा को बौद्ध कलाकारों ने (शिवि जातक के प्रदर्शन हेतु) चित्रित किया था। अजन्ता की भित्ति-चित्र में इसे प्रदर्शित किया गया है। भरहुत की वेदिका पर भी कपोत तथा बोधिसत्त्व की प्रेमगाथा खुदी है।

उलूक

उलूक पक्षी को सूर्य की रोशनी में दिखलाई नहीं पड़ता, ऐसी बातें साहित्य में उल्लिखित हैं। ब्राह्मणकला में लक्ष्मी (धनदेवी) के वाहन के रूप में उलूक का प्रदर्शन मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि धनवान व्यक्ति को तत्त्व का ज्ञान उस श्रेणी तक नहीं होता जिसे वास्तविक पण्डित प्राप्त करता है। धन के मद में वास्तविकता की ओर ध्यान नहीं जाता तथा अज्ञानवश अनुचित कार्य हो जाते हैं। बौद्धकला में अलंकरण के निमित्त इस पक्षी को स्थान दिया गया था। स्यात् उलूक के रहस्य को (लक्ष्मी का वाहन) समझकर ही लक्ष्मी के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा गया।

किन्नर

भारतीय कला में पक्षी तथा मनुष्य की मिश्रित आकृति को किन्नर कहा गया

है। मनुष्य की मुखाकृति तथा शरीर का अन्य भाग पक्षी का। भरहुत वेदिका पर ऐसी आकृति मिलती है।

सर्प

जलजन्तुओं में अधिकतर सर्प की आकृति कलात्मक दृष्टि से खुदी मिलती है। यों तो प्राग्ऐतिहासिक युग में सर्प अनार्य लोगों द्वारा पूजित होता रहा परन्तु आर्य सभ्यता के मानने वाले ब्राह्मण, बुद्ध तथा जैन धर्मावलम्बियों ने इस जीव को अपनाया। वैदिक युग में सर्प की पूजा होती थी, उस सम्बन्ध में विशेष कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु सूर्य की तरह सर्प भी काल (Time) का द्योतक है। मेढ़क आदि जीवों को निगल जाता है। काल की भयंकरता (विषैला, जीवन हरण करने वाला) उसमें वर्तमान है। इसी कारण चित्रों में यमराज के आयुध के रूप में प्रदर्शित है।

इसीलिए सर्प, यमराज तथा सूर्य का कालवाची है। सूर्य दैनिक काल का संकेत करते हैं तो सर्प मृत्यु के समय का। यमराज तो काल हैं ही। प्राणी के अन्तिम समय में वही वर्तमान रहता है। विद्वानों का सुझाव है कि सूर्य प्रतिमा में कमरबन्द सर्प की केंचुल का रूप है।

सम्भवतः सर्प के भयंकर रूप या विषधारी होने के कारण ही सर्वत्र उसकी पूजा होती रही। ब्राह्मणकला में मथुरा से अत्यधिक संख्या में सर्प की प्रस्तर मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा में ही भगवान् कृष्ण ने विषैले काली नाग का दमन किया था। इतना होते हुए भगवान् विष्णु शेषनाग की गेंडुरी पर सोते हैं। विष्णु के विश्वपालक होने तथा महान विभूतियों के कारण सर्प तथा उसके शत्रु गरुड़ को उसी देव के साथ कला में प्रदर्शित देखते हैं।

बौद्ध साहित्य में मुचलिन्द नाग की कथा प्रसिद्ध है जिसने तपस्वी गौतम की रक्षा की थी। बौद्ध कलाविदों ने सर्प को तीन रूप में दिखलाया है—

(१) सर्प—जन्तु के रूप में।

(२) सर्प—मिश्रित रूप में (आधा सर्प आधा मनुष्य)।

(३) सर्प—नागराज के स्वरूप में (सर्वथा मनुष्य की आकृति में)।

मुचलिन्द नाग जन्तु के रूप में (सर्प की तरह) बोधगया वेदिका पर प्रदर्शित है। भरहुत वेदिका पर सर्प के तीनों रूप एक ही खुदाई में दीख पड़ते हैं। इलापटरा नामक सर्प भगवान् बुद्ध (वृक्ष के प्रतीक) की पूजा कर रहा है जिसका नाम उस स्थान पर अंकित लेख से व्यक्त होता है—

एरापटो नागराज भगवतो वंदते।

उस प्रदर्शन में सर्प की आकृति है। तत्पश्चात् मिश्रित आकृति है। मुखाकृति मनुष्य एवं अधोभाग सर्प का। तीसरा रूप मनुष्य के स्वरूप में नागराज (सिरे पर

पाँच सर्प का फन वाला) वृक्ष (बुद्ध का प्रतीक) की पूजा कर रहा है। ब्राह्मणकला में शेषनाग के सात फन तथा सात गेंडुरी हैं, जिस प्रकार मुचलिन्द नाग का है। नाग-राज के सिरे पर पाँच फन दिखलाई पड़ते हैं तथा नागराज्ञी तीन फन सहित खुदी है। मध्ययुग में उड़ीसा के मंदिरों पर मिश्रित रूप में नाग राजा तथा रानी की आकृतियाँ खुदी मिलती हैं। शरीर का निचला अंग सर्प का केवल मुखाकृति मनुष्य का। जैन कला में सर्प का सम्बन्ध केवल पार्श्वनाथ (तेइसवें तीर्थंकर) से है जिसके सिरे पर नाग का सात फन वाला रूप दीख पड़ता है।

नाग की पूजा करनेवाले नागवंशी राजा मध्यभारत (ग्वालियर, भरतपुर, मथुरा आदि) में राज्य करते थे जिनका उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख में मिलता है। उनके अभिलेख तथा सिक्के भी मिले हैं। नागकन्या कुबेरनागा से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह हुआ था। मध्ययुग में नागपूजा का प्रसार अवश्य था। पूर्वी भारत के उड़ीसा के मन्दिरों पर नागराजा तथा नागरानी की मिश्रित आकृतियाँ खुदी मिलती हैं। सर्प स्तम्भ में लिपटा दिखलाया गया है तथा नागराजा और रानी की ऊपरी मनुष्य की आकृति समीप में ही खुदी है।

सर्प का आदर समाज में सदा ही होता रहा। उनके आक्रमण तथा दुःखदायी फल को सोच कर पूजा का प्रकार प्रचलित हुआ। आज भी 'नाग पंचमी' का पर्व हिन्दुओं द्वारा मनाया जाता है जिस दिन उसे दुग्ध-पान कराते हैं। राजगिरि में आज भी लोग मणियार मठ को देखने जाते हैं जो शब्द मणि-नाग का विकृत रूप है। उस मठ के समीप सिरे पर मणिधारी नाग रहा करता था जिसका आदर आज भी वैसा ही है।

मत्स्य

जल-जन्तुओं में मछली लोकप्रिय जीव है। संस्कृत साहित्य में मत्स्य रूप मे विष्णु के अवतार का वर्णन है। कलात्मक नमूनों में मत्स्य को दो प्रकार से दिखलाया गया। पहला जलजन्तु के आकार में। मध्ययुग की वैष्णव प्रतिमाओं में मूर्ति के सिरे भाग पर मछली की आकृति खुदी है जो प्रकट करती है कि विष्णु का सर्वप्रथम अवतार मछली के रूप में हुआ था। चौथी सदी के पश्चात् अवतारवाद की कल्पना ज्ञात होने पर कलाकार मिश्रित रूप की प्रतिमा बनाने लगे जिसका निचला अङ्ग मछली की पूँछ तथा ऊपर मनुष्य की आकृति (वक्षस्थल के साथ मनुष्य का मुख)। पूर्वी बंगाल में (कलकत्ता संग्रहालय में) ऐसी मूर्तियाँ अधिक संख्या में उप-लब्ध हुई हैं।

कूर्म

विष्णु अवतार में कूर्म को द्वितीय स्थान प्राप्त है। कूर्मावतार की मूर्तियाँ पूर्वी भारत से अधिकतर प्राप्त हुई हैं। कछुआ का रूप तथा मिश्रित स्वरूप। नीचे का अंग कूर्म का तथा ऊपरी आकृति (मुखाकृति) मनुष्य का। मध्ययुगी कला में दोनों

स्वरूप मिलते हैं। गुप्त वास्तुकला में भी मंदिरों के दोनों पार्श्व में देवियों की आकृति सहित कूर्म का आकार मिलता है। बाईं ओर यमुना नदी कूर्म पर खड़ी प्रदर्शित की गई है।

शंख

शंख के भीतर जलजन्तु रहता है किन्तु उस जीव के नष्ट हो जाने पर (फूँकने पर) उससे ध्वनि निकलती है। शंख पूजा में प्रयुक्त होता है। जीव का ऊपरी शरीर कठोर होकर शंख का आकार बन जाता है विष्णु भगवान् के चार आयुधों में शंख की भी गणना होती है। उस स्थान पर शंख का अर्थ असंख्य धन से समझते हैं। साधारण गणित की गणना में भी उसी अर्थ में शंख का नाम दिया जाता है। कल्पवृक्ष से इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है अतएव शंख अतुल सम्पत्ति का द्योतक हो जाता है। देवताओं की बहुभुजी प्रतिमा तैयार होने पर विष्णु के हाथ में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म प्रदर्शित किया गया। वहाँ भी शंख अतुलनीय वैभव का प्रतीक मात्र है।

मकर

जल-जन्तुओं में मगर बड़ा जन्तु है जिसकी समता नहीं की जा सकती। संग्रहालयों में सबने विशाल मगरों के शरीर को देखा होगा। यह जल के जीवों का भक्षण करता है। गुप्तकालीन मंदिरों के बाहरी चौखट पर दाहिनी ओर गंगा नदी (स्त्री वेष में) मगर पर खड़ी खुदी हैं। विदिशा के समीप उदयगिरि गुहा की दीवाल पर गंगा एव यमुना क्रमशः मकर तथा कूर्म पर खड़ी प्रदर्शित है।

(३०)

चित्र-परिचय

(१)

प्रागऐतिहासिक युग की खुदाई से प्राप्त मनुष्य का धड़—हड़प्पा से सिर, हाथ तथा पैररहित इन आकृतियों को नग्न होने के कारण जैनी तीर्थंकर की खण्डित मूर्ति मानते हैं। यह सुझाव सर्वमान्य नहीं है, किन्तु आश्चर्य है कि हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त इन आकृतियों को नंगा क्यों तैयार किया गया। सम्भवतः दाहिनी आकृति का पैर नृत्य करने की अवस्था में प्रतीत होता है। यानी नर्तक की पूरी आकृति का खण्डित भाग दृष्टिगोचर होता है।

(२)

मौर्ययुग से पूर्व ग्रामीण कला के दृष्टान्त उपलब्ध हुए हैं। उन्हें यक्ष या यक्षिणी का नाम दिया जाता है। मालवा (विदिशा), मथुरा (बरोदा) तथा बिहार

(पटना) से यक्ष की आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं जो विशालकाय तथा स्थूल हैं। उनके शरीर की बनावट में अनुपात का स्थान नहीं है। पीठ चिपटी है। वक्षस्थल, कंधे बहुत चौड़े हैं। कलाकार इन्हें मध्यभारत की कलाशैली कहते हैं। जायसवाल का सुझाव था कि इनको नन्दिवर्धन तथा महापद्म की मूर्ति माना जा सकता है। किन्तु रामप्रसाद चंदा ने अनेक प्रमाणों के आधार पर साबित कर दिया कि सभी यक्ष आकृतियाँ हैं जिन्हें ग्रामीण जनता पूजा के लिए निर्मित करती थी। इनके शरीर पर धोती-चादर हैं। कमरबन्द में गाँठ है। गले तथा बाँह में आभूषण हैं। विदिशा में अनेक विशालकाय यक्ष प्राप्त हुए हैं। कला के समीक्षकों की धारणा है कि यक्ष प्रतिमा ने सांची कला को प्रभावित किया। स्तम्भ पर यक्ष-यक्षिणी खोदे गए। बरौदा यक्ष के अनुकरण पर मथुरा केन्द्र में बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएँ बनीं। कंकाली टीले से प्राप्त जैनमूर्ति भी लम्बी-चौड़ी है। सम्भवतः इस यक्ष मूर्ति का प्रभाव अमरावती कला पर भी पड़ा। इस कारण अमरावती की बुद्धमूर्ति लम्बी तैयार की गई। लंका के अनुराधापुर में भी इसका अनुकरण किया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि यक्ष आकृति ने मथुरा एवं अमरावती कला को तथा लंका के अनुराधापुर मूर्ति-निर्माण को अवश्यमेव प्रभावित किया था।

(३)

पटना के समीप दीदारगंज से प्राप्त यक्षिणी—इस मूर्ति पर मौर्ययुग का लेप वर्तमान है। सिरे पर टीका, बाँह में चूड़ियों की अधिकता, करधनी तथा पैर में कड़ा आदि इसे ईसवी सन् पूर्व की कलाकृति घोषित करते हैं। धोती तथा चादर तथा दाहिने हाथ में चँवर दीख पड़ता है। इस प्रकार की चूड़ियाँ तथा कड़ा शुंगकालीन नमूनों में भी स्पष्ट हैं।

(४)

रमपुरवा का स्तम्भ-शीर्ष अशोक के अनेक स्तम्भों में एक नया नमूना उपस्थित करता है। इसकी विशेषता यह है कि साँड़ का मांसल शरीर, चेहरे की बनावट तथा खड़े कान इनकी सजीवता के चिह्न हैं। शक्ति तथा रक्त से भरा शरीर कला की श्रेष्ठता का द्योतक है। अशोक के तीन स्तम्भ चम्पारन जिले में स्थित हैं जहाँ मोतिहारी से सुगमता के साथ यात्री जा सकते हैं। अशोक ने स्तम्भ के ऊपर ताँबे की कील से शीर्ष को जोड़ दिया था। उसके तीन भाग देखे जाते हैं।

(अ) कमलनुमा अधोभाग,

(ब) पीठ (Abacus) मध्यभाग,

(स) पशु की आकृति का ऊपरी भाग।

अनेक स्तम्भों में पहले भाग में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु मध्य भाग की बनावट विभिन्न है। लोरियानन्दन में इस भाग पर हंस की कतार बनी है। रमपुरवा में उसे लतापुष्प से आभूषित किया गया है। सबसे ऊपरी भाग में रमपुरवा का साँड

अशोक की कलाकृतियों का सुन्दर एवं श्रेष्ठ नमूना है। लोरिया का सिंह इसके समक्ष उत्तम नहीं कहा जा सकता। ईसवी पूर्व सदियों में वृक्ष या पशु को कला में स्थान देते रहे। सम्भव है, अशोक ने पूर्व प्रचलित परिपाटी के अनुसार या बौद्धमत से सम्बन्धित (?) होने के कारण पशुओं (हाथी, सिंह, बैल) को स्तम्भों पर स्थान दिया हो।

(५)

मायादेवी का सपना

बौद्धमत में ऐसा कथानक उपलब्ध हैं कि सिद्धार्थ गौतम की माता मायादेवी (शुद्धोदन की पत्नी) ने सपना देखा। उस प्रसंग में एक हाथी उनके गर्भ में प्रवेश कर रहा है और उसी समय से गौतम गर्भ में आए। ब्राह्मणमत में राम तथा कृष्ण के जन्म सम्बन्धी जो भविष्यवाणियाँ की जाती हैं उसी के सदृश बोधिसत्त्व की कहानी अमरावती में खुदी है। स्वर्ग में बोधिसत्त्व मनोरंजन में लीन हैं। लोगों ने आग्रह किया कि संसार में आप आएँ। उस समय यह घोषणा हुई कि मायादेवी के गर्भ में सफेद हाथी के रूप में प्रवेश करूँगा। इस दृश्य में वही प्रदर्शित है। मायादेवी सो रही है। दासियों से घिरी हैं। हाथी की आकृति ऊपर बनी है। सिरे पर लेख खुदा है - भगवतो रुक्रन्ति (भगवान् का जन्म है)। अमरावती में उसके साथ दो आकृतियाँ जुड़ी हैं। सिंहासन पर हाथी तथा स्वर्ग में बोधिसत्त्व अप्सराओं का नृत्य देख रहे हैं। तीनों चित्र एक प्रस्तर पर खुदे हैं। भरहुत में केवल अन्तिम दृश्य को ही स्थान दिया गया। दोनों समकालीन कलाकृतियाँ हैं।

(६)

महाकपि जातक

बुद्धजन्म के सैकड़ों कथानकों में महाकपि प्रमुख माना जाता है। कथानक संक्षेप में यह है कि काशिराज ब्रह्मदत्त ने रानी के कहने पर मीठे फल खाने वाले पशु के हृदय को लाने की आज्ञा दी। सैनिक नदी के किनारे जाते हुए एक वृक्ष पर बन्दरों को देखा जो वैसा ही फल खा रहे थे अतएव उन्हें मार कर हृदय निकालने की इच्छा से सैनिकों ने बन्दरों पर आक्रमण किया। बोधिसत्त्व को इसका पता लग गया अतएव नदी के दोनों किनारों पर स्थित वृक्षों पर अपना शरीर फैलाकर पुल बना दिया। बन्दर पीठ पर चढ़कर पार चले गए। चित्र में वृक्षों पर बन्दर हैं। बीच में एक बन्दर का लम्बा शरीर है। पैर एक किनारे तथा बाँह दूसरे किनारे पर फैले हैं। बन्दर भाग रहे हैं। नीचे मनुष्य के सामने बन्दर बैठ कर शिक्षा (अहिंसा परमोधर्मः) दे रहा है। यह चित्र-स्तम्भ के मध्य में वृत्ताकार खुदा है।

(७)

मथुरा की वेष्टनी का भाग

इन दो स्तम्भों पर स्त्री आकृतियाँ खुदी हैं। सूची से दोनों स्तम्भ जुड़े हैं। एक पर वामन की पीठ पर प्रसाधिका की आकृति है। दोनों हाथ में प्रसाधन की सामग्री लिये है। दूसरी आकृति यक्षिणी की है। इसमें स्त्री आकृतियाँ नग्न हैं किन्तु शरीर पर आभूषण विद्यमान है। चूड़ियाँ तथा पैर का मोटा कड़ा ईसवी पूर्व सदी के कला-कृतियों में ही पाया जाता है। अतः वेष्टनी की तिथि ईसा पूर्व मानी जाती है।

(८)

मनकुंआर बुद्ध-प्रतिमा

गुप्तकाल में प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में इसकी प्रतिष्ठा की गई थी। प्रतिमा पीठ पर खुदे लेख से पता चलता है कि भिक्षु बुद्धमित्र ने गु० स० १२९ (=४४८ ई०) में इसे स्थापित किया था। इसकी विशेषता यह है कि यह प्रतिमा मथुरा शैली की है। कपर्दिन सिर, बायें कन्धे पर वस्त्र (चादर), दाहिना खाली, मांसल शरीर, गहरी नाभि, नारी के सदृश छाती तथा चौड़ा कन्धा मथुरा शैली की विशेषता बतलाते हैं। आश्चर्य यह है कि बुद्ध की बैठी मूर्ति में अभयमुद्रा अन्यत्र दीख नहीं पड़ता। बुद्ध पद्मासन मारे सिंहासन पर बैठे हैं। प्रभामण्डल अनलंकृत है केवल चन्द्रमा की आकृतिनुमा खुदाई चारों तरफ दीख पड़ती है। दोनों ओर बोधि-सत्त्व खड़े हैं।

(९)

सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा

कनिष्क के तीसरे वर्ष यानी शासन के प्रारम्भ में (३+७८=८१ ई०) राजा के महाक्षत्रप खरपल्लान ने इस प्रतिमा को सारनाथ में स्थापित की थी। इस प्रतिमा को अभिलेख में बोधिसत्त्व कहा है किन्तु प्रतिमा के परीक्षण से यह मूर्ति (अनलंकृत, तथा केशकटे सिर) बुद्ध की कही जायेगी। अस्तु, इसे मथुरा में तैयार किया गया था। विशालकाय मांसल शरीर, मुण्डित सिर, वस्त्र में लहरनुमा बनावट, चौड़ा कन्धा, गहरी नाभि, सम्मुख आँखें आदि विशेषतायें मथुरा शैली की प्रतिमा में मिलती है। सम्भवतः मथुरा ऐसी प्रतिमाओं का केन्द्र था, जहाँ से मूर्तियाँ अन्य-अन्य स्थानों पर जाया करती थीं। विद्वानों का मत है कि इस प्रकार की प्रतिमा पर यक्ष आकृति का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। बरोदा की विशालता में यक्ष का अनुकरण माना जा सकता है।

(१०)

मगध की बुद्ध-प्रतिमा

सातवीं सदी के पश्चात् मगध में बुद्धप्रतिमा का निर्माण होने लगा जिसमें

सारनाथ शैली का अनुकरण किया गया। इस मूर्ति में नयी बातें समाविष्ट की गईं। वज्रयान मत में देवता समूह में अनेक नए देवताओं की कल्पना की गई थी किन्तु वैष्णव मत का प्रभाव बुद्धप्रतिमा पर ही दीख पड़ता है। कल्पित देवताओं पर कलात्मक प्रभाव नहीं है। इसके कारण बुद्धमूर्ति को चीवर के स्थान पर वस्त्राभूषण से अलंकृत किया गया और सिर पर विष्णु की तरह किरीट मुकुट स्थिर कर दिया गया। यह बुद्धप्रतिमा भूमि-स्पर्शमुद्रा में निर्मित है। दोहरे कमलासन पर बैठी है। सबसे ऊपर बोधिवृक्ष की शाखाएँ दिखलाई पड़ती हैं। यानी उसी के नीचे बैठकर गौतम को बुद्धत्व की (ज्ञान की) प्राप्ति हुई थी। यह राजमहल प्रस्तर की बनी है।

(११)

मध्ययुगी विष्णु-प्रतिमा

मगध बुद्धप्रतिमा का आदर्श नमूना इस विष्णु-प्रतिमा से लिया गया था, जो उसके समकालीन है। मगध में काले प्रस्तर की प्रतिमायें बनती रहीं। इसमें किरीट मुकुट, गले में हार, भुजबन्द, कड़ा तथा वनमाल दीख पड़ता है। चतुर्भुजी मूर्ति के हाथों में शंख, पद्म, गदा एवं चक्र वर्तमान है। दोनों पार्श्व में सरस्वती तथा लक्ष्मी विद्यमान हैं।

(१२)

योगासन विष्णु-प्रतिमा

साधारणतया भगवान् विष्णु की खड़ी प्रतिमा लक्ष्मी-नारायण का पूजन समाज में होता है। बैठी (आसन) प्रतिमाएँ कम संख्या में मिलती हैं। विष्णु मूर्ति के विकास में इस प्रतिमा का विशेष स्थान है। यह कहा जा चुका है कि कलात्मक दृष्टान्तों में बुद्ध की मूर्तियाँ प्राचीनतम हैं। इस प्रतिमा को ध्यानमुद्रा में प्रदर्शित किया गया है जो वैष्णव कला के लिए उपयुक्त नहीं। हाथों की मुद्राएँ केवल बौद्ध तथा जैनकला में मिलती हैं। गौतम बुद्ध ने मानव होकर ज्ञान प्राप्त किया और बोधगया में उन्हें ज्ञान मिला। महावीर भी ध्यानावस्थित होकर मनन-चिन्तन किया करते थे। परन्तु विष्णु के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। देवीशक्ति को ध्यानमुद्रा में दिखलाना अनुपयुक्त होगा। किन्तु विद्वानों की धारणा है कि बोधिसत्त्व के अनुकरण पर तथा बुद्ध के ध्यान को समाविष्ट कर वैष्णव कलाकारों ने विष्णु को ध्यानमुद्रा में प्रदर्शित किया। यह घटना पहली सदी की मानी जा सकती है। बैठी चतुर्भुजी प्रतिमा में दो हाथों में चक्र तथा गदा है। आगे के दो हाथ ध्यानमुद्रा में हैं। शंख सिरे भाग पर तथा कमल पीठ (आसन) पर खुदे हैं। किरीट मुकुट तथा वनमाल दीख पड़ते हैं।

(१३)

मौनव्रतिम् विष्णु

यह विष्णु प्रतिमा खजुराहो (मध्य प्रदेश) से प्राप्त हुई है। चतुर्भुजी प्रतिमा के पिछले हाथों में चक्र एवं गदा है। अन्य दो आयुध मूर्ति की पीठ पर खुदे हैं। बाएँ

हाथ की तर्जनी होंठ को स्पर्श कर रही है। सम्भवतः शान्ति का भाव प्रदर्शित किया गया है। विद्याधर ऊपर दीख पड़ते हैं। ऐसी प्रतिमा अन्यत्र नहीं मिली है। यह अकेला नमूना है।

(१४)

गरुड़वाही विष्णु

भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ पक्षी है। इसमें गरुड़ के कन्धे पर बैठे विष्णु की प्रतिमा बनी है। गदा तथा चक्र स्पष्ट दीख पड़ते हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्राह्मण-मत का प्रसार हुआ था। यह प्रतिमा खजुराहो से प्राप्त हुई है। मध्ययुगी मूर्ति में गरुड़वाही विष्णु के नमूने कम ही मिलते हैं।

(१५)

स्थानक विष्णु

गुप्तकाल वैष्णवमत का स्वर्णयुग माना जाता है। उस समय विष्णु की अनेक प्रकार की प्रतिमाएँ बनी। गुप्तकालीन प्रतिमा में देव के सिरे पर किरीट मुकुट, गले में हार, भुजबंद, कुण्डल, यज्ञोपवीत तथा वनमाल के अवशेष दीख पड़ते हैं। मूर्ति के दो हाथ हैं, जो खण्डित हैं।

(१६)

मध्ययुगी विष्णु-प्रतिमा

उत्तर गुप्तकाल में विष्णु की प्रतिमाएँ अधिक सुन्दर ढंग से बनती रहीं। पालकालीन काले चिकने प्रस्तर पर (राजमहल से प्राप्त) यह आकृति खुदी है जो सर्वाङ्गीण है तथा सब प्रकार से उत्तम कही जाती है। भगवान् विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा के पिछले दो हाथों में (जो ऊपर उठे हैं) गदा तथा चक्र है। अगले दो हाथ लटके हैं जिनमें कमल तथा शंख दृष्टिगोचर होता है। दोनों पार्श्व में लक्ष्मी तथा सरस्वती खड़ी हैं। इसकी विशेषता यह है कि मुख्य प्रतिमा के चारों ओर प्रस्तर पर दशावतार की आकृतियाँ खुदी हैं। सिरे पर दो विद्याधर हैं। उनके ऊपर मत्स्य तथा कूर्म की पशु आकृतियाँ हैं। दाहिनी ओर सिर के सीध में वराह तथा बाईं ओर नरसिंह अवतार प्रदर्शित है। इसी प्रकार क्रमशः अन्य अवतार दिखलाए गए हैं। मध्ययुगी विष्णु प्रतिमा दोहरे कमलासन पर खड़ी है। किरीट मुकुट, हार, रामनामी, कुण्डल, भुजबन्द, कंगन एवं वनमाल स्पष्ट दीख पड़ते हैं।

(१७)

विष्णु-प्रतिमा

राजस्थान में १०वीं सदी तक विष्णु-प्रतिमा का निर्माण होता रहा। इसमें पूर्वी भारत की प्रतिमा का अनुकरण है किन्तु दोहरे कमलासन का अभाव-सा है।

सिरे भाग पर पुष्प पर मछली तथा कूर्म की आकृति है जो अवतार के रूप में खुदी है। दाहिनी ओर दूसरी आकृति नरसिंह की तथा बाएँ में वराह की है। इस प्रकार दशावतार सहित विष्णु प्रतिमाएँ सातवीं सदी से तेरहवीं सदी तक प्रचलित रहीं।

(१८)

विष्णु की शयन प्रतिमा

मध्यप्रदेश के विदिशा के समीप उदयगिरि गुहा में भगवान् विष्णु शयन करते खोदे गए हैं। आसन, स्थानक तथा शयन - तीन प्रकार की विष्णु मूर्तियाँ मिली हैं। विद्वानों का सुझाव है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण प्रतिमा से यह भाव ग्रहण किया गया होगा। इसमें विष्णु के शरीर का दो भाग शेषनाग की गेंडुरी पर है। बायें हाथ से सिर को सहारा दिए हैं। चतुर्भुजी प्रतिमा में दो आयुधपुरुष दीख पड़ते हैं। लक्ष्मी पैर सेवन कर रही हैं।

(१९)

दक्षिण भारत के महाबलिपुरम् के विशाल चट्टान पर विष्णु की शयन प्रतिमा खुदी है। यह उत्तरी भारत से कुछ भिन्न है। शेष की गेंडुरी पर पूर्ण रूप से भगवान् शयन कर रहे हैं।

(२०)

उदयगिरि की वराह प्रतिमा

विदिशा के समीप उदयगिरि गुहा में गुप्तकाल में यह प्रतिमा खोदी गई थी। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का लेख भी उसी स्थान पर अंकित है जिसकी तिथि गु० स० ८२ (=४०१ ई०) है। अतएव उसी समय यह वराह अवतार की प्रतिमा खोदी गई थी। बाईं ओर विशालकाय वराह का विष्णु खड़े हैं। सिर वराह तथा धड़ मनुष्य का। बाएँ हाथ पर पृथिवी की आकृति है जिसे वराह ने बचाया था। दाहिनी ओर देवसमूह वराह को देख रहा है। मकरवाही गंगा तथा कूर्मवाही यमुना की भी आकृतियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं।

(२१, २२ एवं २३)

वामनावतार विष्णु

विष्णु के वामन अवतार को कला में दो रीतियों से प्रदर्शित किया गया है। एक छोटा वामनरूप जिसे चित्र २० में दिखलाया गया है। यह आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित है। चतुर्भुजी मूर्ति है। चारों आयुध—शंख, कमल, चक्र तथा गदा दीख पड़ते हैं। किरीट मुकुट, हार, यज्ञोपवीत तथा वनमाल वर्तमान हैं। लक्ष्मी तथा सरस्वती की आकृतियाँ दोनों पार्श्व में खड़ी हैं। चित्र सं० २१ में विष्णु का विराट् स्वरूप है जो बादामी से प्राप्त हुई है। बायाँ पैर आसमान की ओर उठा हुआ है। उसके नीचे बलि तथा उसकी पत्नी खड़ी है। यह चतुर्भुजी प्रतिमा है।

चित्र संख्या २२ में वही विराट् स्वरूप की सुन्दर आकृति है। इसे त्रिविक्रम भी कहते हैं। बाँया पैर सिर के समानान्तर ऊपर है। राजा-रानी नीचे खड़े हैं। इसमें देवता के सिर पर मुकुट, गले में हार, वनमाल, भुजबंद, करधनी तथा यज्ञोपवीत सुन्दर रीति से बने हैं। और ऊपर वाले पैर से गंगा नदी बह रही हैं। जलधारा तथा मछलियाँ दीख पड़ती हैं।

(२४)

त्रिविक्रम विष्णु

यह आकृति महाबलिपरम् के विशाल चट्टान को खोद कर बनी है। उत्तरी भारत से पर्वत प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं लेकिन दक्षिण से पर्वत खोद कर तथा धातु की भी विष्णु के विराट् स्वरूप की आकृतियाँ मध्ययुग में बनती रहीं।

(२५)

लक्ष्मी-नारायण

भगवान् विष्णु की युगल प्रतिमा गुप्तयुग से निर्मित होने लगी थी परन्तु गरुड़-वाही नारायण की मूर्ति अधिक संख्या में नहीं मिलती। दक्षिण भारत में १२वीं सदी में होयसल शैली की यह प्रतिमा अतीव सुन्दर तथा भारतीय कला का उत्कृष्ट नमूना है। होयसल शैली में सर्वोत्कृष्ट खुदाई की विशेषता है। ऐसी खुदाई यन्यत्र नही मिलती।

(२६)

लिङ्गोद्भव शिव

भारतीय कला में शिव-प्रतिमा का क्रमिक विकास हुआ। ऐसा इतिहास किसी देवप्रतिमा में नहीं दीख पड़ता। सर्वप्रथम शिवलिङ्ग (प्रतीक) के रूप में पूजे जाते थे। अनार्य तथा हड़प्पा संस्कृति में लिङ्गपूजा का प्रचार ज्ञात होता है। यह क्रम गुप्तकाल तक चलता रहा। करमदण्डा शिवलिंग उसका अन्तिम उदाहरण है। मनुष्य निर्मित शिवलिंग से मनुष्याकार की उत्पत्ति की कल्पना की गई। उसी का दृष्टान्त इस प्रतिमा में है। दक्षिण भारत के लिंग से शिव निकलते दिखलाए गए हैं।

(२७)

गुडीमल्लम् शिव

दक्षिण भारत से शिवलिंग की यह प्रतिमा उपलब्ध हुई है। इसमें त्रिशूल लिये राक्षस की पीठ पर मनुष्याकार में भगवान् शिव खड़े हैं। पीछे शिवलिंग दिखलाई पड़ता है।

(२८)

एकमुख शिवलिंग

शिवप्रतिमा के विकास में यह दूसरी श्रेणी है जिसमें शिवलिंग के एक ओर

मुख की आकृति बनी हुई है। शिव के सिर पर जटा-मुकुट, (चन्द्रसहित), ललाट पर तीसरा नेत्र स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। मध्यप्रदेश के नगोद रियासत से ऐसी प्रतिमा प्राप्त हुई है।

(२९)

चतुर्मुख शिवलिङ्ग

प्रतिमा विकास की तीसरी सीढ़ी में लिंग के चारों ओर मुखाकृति बनी है। सम्मुख आकृति में तृतीय नेत्र, चन्द्रसहित जटा-मुकुट सुन्दर रीति से निर्मित है।

(३०)

शिव-पार्वती

गुप्तकाल (चौथी सदी) से भारत में शिव तथा पार्वती की युगल प्रतिमा निर्मित होने लगी। इसे आलिंगन शिव कहते हैं। पार्वती शिव की जाँघों पर पर बैठी हैं। दाहिना हाथ शिव के गले में है। बायें में दर्पण है। शिव की चतुर्भुजी प्रतिमा है। दाहिने हाथ में त्रिशूल लिये हैं। प्रतिमा के नीचे गणेश की आकृति दीख पड़ती है। शिव के वाहन नन्दि तथा पार्वती के वाहन सिंह की आकृतियाँ वर्तमान हैं। मध्ययुग में ऐसी युग्म मूर्ति तैयार होने लगी थी।

(३१)

शिव-पार्वती

शिव के बाईं ओर पार्वती बैठी हैं। शिव के एक हाथ में त्रिशूल तथा दूसरे में सर्प है। प्रतिमा पीठ पर नन्दि तथा सिंह दीख पड़ते हैं। इसे उमामहेश्वर का नाम दिया गया है। मद्रास प्रदेश से यह प्रतिमा प्राप्त हुई है।

(३२)

महेश मूर्ति

बम्बई के समीप, एलिफेण्टा टापू की गुहा में यह प्रतिमा विशाल चट्टान को खोद कर बनाई गई है। इसमें तीन सिर है जिसे लोग त्रिवेद ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव मानते थे। इस मूर्ति के विश्लेषणात्मक परीक्षण से यह प्रकट होता है कि सामने का भाग शिव (कल्याणकारी देवता), दाहिना रुद्र (भयंकर रूप यानी संहार शिव), तथा बाईं ओर पार्वती की आकृति खुदी है। अतएव इसे महेश मूर्ति का नाम दिया दिया गया है।

(३३)

अर्द्धनारीश्वर शिव

एलिफेण्टा के गुहा में शिव के अनेक प्रतिमाओं में अर्द्धनारीश्वर की विशाल प्रतिमा भी है। यह मूर्ति त्रिभंग अवस्था में खड़ी है। चतुर्भुजी प्रतिमा का

दाहिना अगला हाथ नन्दि की पीठ पर स्थित है। दूसरे में त्रिशूल है। बाईं ओर अगला चादर पकड़े हैं तथा पिछले में दर्पण दीख पड़ता है। सिर पर जटा-मुकुट, नाना आभूषण है। छाती की बाईं ओर एक स्तन बनाया गया है जिसके कारण इसे आधा स्त्री तथा आधे पुरुष का मिश्रित रूप (अर्द्ध + नारी + ईश्वर) मानते हैं। दार्शनिक विचार में यह प्रतिमा ब्रह्म का रूप है जिसमें ईश्वर तथा माया दोनों सन्निहित हैं। चारों तरफ विद्याधर तथा अन्य देवता दिखलाई पड़ते हैं।

(३४)

शिव-पार्वती (स्थानक) प्रतिमा

शैव प्रतिमाओं की एक विशेषता है कि शिव के विभिन्न कथानकों का भी प्रदर्शन किया गया है। पार्वती से शिव-विवाह का प्रदर्शन एलिफेण्टा गुहा में विस्तृत रूप से मिलता है। पूर्वी भारत से मध्ययुगी ऐसी शिव-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इस प्रतिमा में शिव खड़े हैं, उनके समीप आगे पार्वती हैं। विवाह के समय सप्तपदी के अवसर पर स्त्री-पुरुष (कन्या-वर) इसी रूप में खड़े होते हैं। शिव-पार्वती विवाह के अनुकूल वस्त्राभूषण से सुसज्जित हैं। शिव के हाथ में त्रिशूल है। दोहरा कमल का आसन मध्ययुग की विशेषता है।

(३५)

कल्याणसुन्दर मूर्ति

बम्बई से समीप टापू एलिफेण्टा के पर्वत चट्टानों के खोदकर शिव के जीवन-कथाओं का प्रदर्शन किया गया है। अन्य देवताओं के कथानक का ऐसा चित्र कहीं नहीं मिलता। इसमें पार्वती के साथ शिव-विवाह का प्रदर्शन है। दोनों खड़े हैं। अन्य देवतागण देख रहे हैं। इसका विशिष्ट नाम दिया गया है—कल्याण-सुन्दर मूर्ति।

(३६)

कालारि मूर्ति (शिव)

शिव के अनुग्रह रूप के अतिरिक्त रौद्र स्वरूप का भी प्रदर्शन कला में मिलता है। उन संहार प्रतिमाओं में कालारि (काल + अरि) मूर्ति भी प्रमुख मानी जाती है। भयंकर रूप धारण कर शिव काल को नष्ट कर रहे हैं। तंजोर से यह प्रतिमा प्राप्त हुई है।

(३७)

गजासुर संहार प्रतिमा

शिव के अनेक रौद्र रूपों में गजासुर (गज + असुर) की भी गणना होती है। इस राक्षस को नष्ट कर भगवान् ने उसके चमड़े को दो हाथों से उठा लिया था जिसका भी प्रदर्शन मिलता है।

(३८)

नृत शिव-प्रतिमा

भगवान् शिव की तीसरी श्रेणी की प्रतिमाओं में नृत रूप की गणना होती है। सर्वप्रथम प्रस्तर पर ही नृत मूर्ति खोदी गई थी जो कालान्तर में धातु प्रतिमा में परिवर्तित हो गई। इसका विशेष दार्शनिक महत्त्व था। एलिफेण्टा की गुफा में भी खोद कर उसी रूप का प्रदर्शन हुआ था।

राक्षस अप्समार की पीठ पर शिव नृत कर रहे हैं। दक्षिण भारत में प्रस्तर प्रतिमा का यह एक उदाहरण है।

(३९)

शिव ताण्डव

शिव की विशाल प्रतिमा नृत करती हुई एलिफेण्टा के गुहा में पर्वत खोद कर बनी है। इसमें पैर का भाग खण्डित है किन्तु मुद्रा से ताण्डव प्रतिमा प्रकट होती है। पूर्वी भारत की मूर्ति के सदृश इसमें दाहिना हाथ बाएँ पैर की ओर संकेत कर रहा है। (देखिए चित्र सं० ४०)

भगवान् शिव की नृत प्रतिमामा नवीं सदी से धातु की बनने लगी। सम्भवतः यह नृत प्रतिमा कांसे की प्रथम उदाहरण है जिसमें प्रभावली का अभाव है। अप्समार, पैर तथा हाथों की की मुद्राएँ उल्लेखनीय हे जिनका विशिष्ट महत्त्व है।

(४१)

नटेश

पूर्वी भारत से प्राप्त बारहभुजी शिव प्रतिमा + नन्दि की पीठ पर नृत कर रही है। हाथों में विभिन्न आयुध हैं। पार्वती नन्दि के समीप खड़ी हैं। यह प्रस्तर मूर्ति है।

(४२)

नटराज शिव

दक्षिण भारत में चोल राजाओं ने ताम्बे की शिव-प्रतिमा का निर्माण कराया था जिसमें नटराज सर्वप्रसिद्ध हैं। यह मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें अप्समार (अज्ञात स्वरूप राक्षस) को पददलित कर शिव ज्ञान का प्रसार कर रहे हैं। चारों ओर प्रभामण्डल है। शिव का एक पैर राक्षस की पीठ पर तथा दूसरा ऊपर की दिशा में दीख पड़ता है। उसी पैर को बाएँ हाथ से संकेत कर रहे हैं। दाहिना अभयमुद्रा में है। दार्शनिक विचारधारा के विद्वान इसे संसार से विरक्ति की बातें सोचते हैं। भगवान् की शरण में जाने से मनुष्य अभय होकर ज्ञान को प्राप्ति करता है। यानी मोक्ष मिलेगा। उसका मार्ग ही अज्ञान का विनाश तथा ज्ञान का प्रसार समझा जाता है। यही इस प्रतिमा से परिलक्षित होता है।

(४३)

महिषासुरमर्दिनी दुर्गा

मद्रास के समीप महाबलिपुरम् की चट्टान पर महिषासुर को नाश करनेवाली दुर्गा की सुन्दर आकृति है। दाहिनी ओर राक्षस का सिर + महिष (सींग के साथ) तथा शरीर का धड़ मनुष्य के सदृश है। वह अस्त्र प्रहार कर रहा है। बाईं ओर सिंह-वाहिनी दुर्गा की बहुभुजी प्रतिमा है। विभिन्न अस्त्र-शस्त्र से महिषासुर को मार रही हैं। युद्ध का दृश्य हैं।

(४४)

चामुण्डा देवी

शिव की शक्ति विनाश के रूप में प्रदर्शित की गई है। उस भयंकर स्वरूप का सिर मात्र इस चित्र में दीख पड़ता है। गहरी तथा डरावनी आँखें हैं। सिर पर कंकाल का सिर वर्तमान है। मध्य भारत से प्राप्त चामुण्डा विदिशा संग्रहालय में सुरक्षित है।

(४५)

कौमारी

सप्तमातृका में कौमारी की भी गणना होती है। बच्चे को गोद में लिये (मातृत्व का भाव प्रदर्शित करते) कौमारी का चित्र है। कार्तिकेय की पत्नी इसी नाम से प्रसिद्ध है। कार्तिकेय का वाहन मोर भी प्रदर्शित है।

(४६)

गज-लक्ष्मी

गजलक्ष्मी की आकृति सांची के तोरण पर सर्वप्रथम मिलती है। ईसवी सन् पूर्व से ही गजलक्ष्मी की मूर्ति बनने लगी जिसमें देवी के सिर पर दो हाथी घड़े से जल डाल रहे हैं। इस चित्र में वही दृश्य दिखलाया गया है। यह चित्र कौशाम्बी से प्राप्त हुआ जो पक्की मिट्टी का बना है। सम्भवतः ग्रामीण कला में पाषाण की सुन्दरता न मिल पाई।

(४७)

हारीति

बौद्ध देवी प्रतिमाओं में हारीति का नाम सर्वप्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में कथानक यह है कि यह देवी बच्चों का विनाश करती थी। हारीति के सौ पुत्र थे। अचानक एक खो गया। वह बुद्ध के पास दौड़ी गई। भगवान् ने उसके बच्चे का पता लगा दिया, परन्तु हारीति से वचन लिया कि वह उस दिन से किसी बालक का नाश न करेगी। हारीति का रूप बदल गया। विनाशक से रक्षक हो गई। इसी कारण उसके गोद में बालक बैठा है। ब्राह्मणमत में इसे षष्ठी के नाम से अनुकरण किया गया।

प्रत्येक बच्चे के छठे जन्मदिवस पर षष्ठी की पूजा होती है। कार्तिक की गोषष्ठी सर्वप्रसिद्ध है।

(४८)

ब्रह्मा मूर्ति

मध्ययुग की ब्रह्मा की प्रतिमा दक्षिण भारत (मैसूर) से प्राप्त हुई है। देव के तीन सिर तथा चार भुजाएँ दीख पड़ती हैं। हाथों में कमण्डलु, स्रुवा, अक्षमाल तथा एक आहुति डालने की मुद्रा में है। हंस की आकृति भी बनी है।

(४९, ५० एवं ५१)

सूर्य प्रतिमा

ईसवी पूर्व में सूर्य को रथ में इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता था कि उसके पैर को कोई देख न सके। अतः चित्र सं० ४९ में सूर्य रथ में खड़े हैं। दोनों हाथों में कमल है। अरुण सारथी सात घोड़ों का रथ हाँक रहा है। यह आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित है।

चित्र संख्या ५० में सूर्य की बैठी प्रतिमा है। दोहरे कमल का आसन है। दो कमल पुष्प दोनों हाथ में दीख पड़ते हैं। कमलासन से नीचे सात घोड़ों की आकृति है। दो कमल तथा सात घोड़े सूर्य प्रतिमा की विशेषता प्रकट करते हैं। बैठी सूर्य प्रतिमा बहुत कम उपलब्ध हुई है। चित्र संख्या ५१ में सूर्य की स्थानक प्रतिमा है। दो कमल तथा प्रतिमा पीठ पर सात घोड़ों की आकृवि दीख पड़तो है। पिंगल तथा दण्ड दोनों ओर खड़े हैं। ज्यों-ज्यों कला में सूर्य-प्रतिमा का विकास होता गया उसमें मुख्य प्रतिमा के पार्श्व में आकृतियाँ जुड़ती गईं। मध्ययुग में पराकाष्ठा को पहुँच गईं।

(५२)

मध्ययुगी सूर्य-प्रतिमा

पालयुग में काले चिकने प्रस्तर को खोद कर एक ओर सूर्य की आकृति सुन्दर रीति से तैयार होने लगी। यद्यपि प्रस्तर की एक ही ओर मूर्ति बनी है (Stele form) परन्तु देखने से पूर्ण ज्ञात होती है। प्रस्तर के सिरोभाग पर विद्याधर खुदे हैं। सूर्य-प्रतिमा में मुकुट वर्तमान है तथा प्रभामण्डल बना है। कन्धे के समानान्तर दो कमल हैं जिनका नाल प्रतिमा के हाथ में है। वस्त्राभूषण सहित प्रतिमा का पैर दीख नहीं पड़ता। लम्बा उपानह है। दोनों पैर के बीच में पृथिवी खड़ी है जिसके पैर तले अरुण सारथी वर्तमान है। सूर्य के पास पार्श्व मे उनकी पत्नियाँ—उषा, प्रत्यूषा, दण्ड तथा पिंगल खड़े हैं। प्रतिमा पीठ पर सात घोड़ों की आकृति है। ऐसी सर्वाङ्गीण भव्य प्रतिमा अन्यत्र नहीं मिलती।

(५३)

शक्ति सहित गणेश

मंगलमूर्ति गणेश की एकाकी प्रतिमा का पूजन होता है। इस चित्र में गणेश

अपनी शक्ति सिद्धि के साथ बैठे हैं। ऐसी प्रतिमा अधिक ज्ञात नहीं है। सिद्धि सूँड़ को गोद में लिए हैं। ऐसी प्रतिमा के पूजन से मानव मोक्ष प्राप्त करता है।

(५४)

गणेश

चतुर्भुजी गणेश की एकाकी प्रतिमा का पूजन समाज में प्रचलित है। दोहरे कमलासन पर गणेश बैठे हैं। सिर पर मुकुट है तथा पद्मासन की स्थिति में है।

(५५)

नृत-गणेश

गणेश को नृत्य करती प्रतिमा साधारणतया उपलब्ध नहीं होती। इसमें अष्ट-भुजी प्रतिमा नाचने की मुद्रा में है।

(५६)

हनुमान

रामभक्त हनुमान से सभी परिचित हैं। पुराने कलात्मक दृष्टान्तों में हनुमान की आकृति नहीं मिलतो। कल्चुरी सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति खुदी है। यह मध्य-युगी प्रतिमा है।

(५७)

कार्तिकेय

शिव के सेनानी पुत्र को कार्तिकेय कहते हैं। यह युद्ध के देवता हैं। वाहन मोर दाहिनी ओर खुदा है। सेनानायक कार्तिकेय खड़े हैं। उनके बाईं ओर शक्ति दीख पड़ती है।

(५८)

कुबेर

धन के देवता कुबेर की प्रतिमा अधिकतम मध्ययुग में बनने लगी। इसे बौद्ध लोगों ने भी अपनाया। इस चित्र में धन के स्वामी कुबेर अर्द्ध पद्मासन में बैठे हैं। बाएँ हाथ में नेवला है जिसके मुख से रत्न निकल रहा है। सब से नीचे धन से भरे कुम्भ पड़े हैं। पेर बड़े आकार का तथा शरीर पर आभूषण दीख पड़ते हैं।

(५९)

प्राचीन भारत में मिट्टी की भी मूर्तियाँ बनती थीं। उनको ग्रामीण कला में विभाजित करते हैं। विश्व के इतिहास में शक्ति की पूजा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से वर्णित है। उस शक्ति को माँ-मातृदेवी कहते थे। कला का अधिक विकास न हो सका था, अतएव मिट्टी की मूर्ति हाथों से तैयार होती रही। भारत में हड़प्पा संस्कृति में भी मातृदेवी की मूर्ति मिली है। उसी समय में यह मृण्मूर्ति तैयार हुई जिसके सिरे का भाग पंखानुमा चौड़ा निर्मित किया गया था। गले तथा बांह का

आभूषण मिट्टी का ही बनता था। कमर से नीचे का वस्त्र अत्यन्त विचित्र चौड़ा लहंगा के ढंग का तैयार किया जाता था। गले में हार तथा हाथ में कड़ा दीख पड़ता है।

(६०)

मातृदेवी

भारतीय साहित्य में भी प्रकृतिदेवी, मातृदेवी अथवा विश्वशक्ति का वर्णन आता है। उसी को ग्रामीण कलाकार अपने ढंग से तैयार करते थे। मौर्यकालीन मातृदेवी की मृण्मूर्ति के हर एक अंग हाथ से बनाए गए हैं। सिर के चारों तरफ केशविन्यास मिट्टी का है। आभूषण, करधनी आदि सभी वस्त्राभूषण हाथ से बने हैं। तात्पर्य यह है कि ग्रामीण कलाकार किसी औजार का प्रयोग नहीं करते थे।

(६१)

दम्पति की आकृति

ईसापूर्व सदियों में मृण्मूर्ति में शक्ति की आकृति की प्रचुरता थी। परन्तु सामाजिक विषय को भी स्थान दिया गया था। इस मिट्टी की मूर्ति में दम्पति (राजा-रानी) की आकृतियाँ एक साथ साँचे द्वारा तैयार की गईं। मौर्ययुग के पश्चात् साँचे में ढाल कर मिट्टी की मूर्तियाँ बनने लगीं जिसकी समानता प्रस्तर प्रतिमा से की जा सकती है। वस्त्राभूषण उसी रूप के हैं, इसमें मिट्टी की मोटाई बहुत कम रहती है। साँचे में ढालकर शुङ्ग कलाकार सभी प्रकार की आकृतियाँ तैयार करने लगे। अहिच्छत्तर से प्राप्त ई० पू० पहली सदी।

(६२)

मृण्मूर्ति-स्त्री

साँचे में मिट्टी डालकर धार्मिक तथा सामाजिक चीजों के स्वरूप को लेकर कलाकार आकृतियाँ बनाने लगे। यह स्त्री की आकृति है जिसका केश-विन्यास, पैर का कड़ा तथा हाथों की चूड़ियाँ शुङ्गकालीन प्रस्तर प्रतिमा से ली गई हैं। बड़े स्तन सहित छाती, कमर पतली तथा बड़ा नितम्ब आदि विशेषताओं को लेकर कलाविद् स्त्री-प्रतिमा तैयार करते थे। इसमें मिट्टी की मोटाई बहुत कम है जो स्वतः बतलाता है कि यह आकृति हाथ से तैयार नहीं है।

(६३)

पुरुष आकृति

ईसवी पूर्व सदियों में पुरुष की मृण्मूर्ति निर्माण की प्रथा चल पड़ी थी। साँची के तोरण पर पुरुष की आकृतियाँ बल्लियों के बीच में बनी थीं किन्तु उनका उपयोग अलंकरण के लिए किया गया था। कनिष्क काल में पुरुष की आकृति हमें मिलती है। आश्चर्य यह है कि ईसवी पूर्व सदियों में पुरुष का आकार ग्रामीण कला में आ गया था।

(६४)

स्त्री का धड़

गोलकपुर पटना से प्राप्त। ईसवी पूर्व दूसरी सदी में भी सामाजिक आकृतियाँ बनने लगी थीं।

(६५)

स्थानक बुद्ध-प्रतिमा (धातु)

भारत में प्रस्तर पर कार्य करनेवाले कलाकार अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा तैयार करते रहे और गन्धार, मथुरा, सारनाथ तथा मगध शैलियों में हमें देवताओं की प्रतिमाएँ मिलती हैं। मगध में सारनाथ शैली का अनुकरण हुआ तथा काले चिकने प्रस्तर (जिसे कसौटी प्रस्तर भी कहते हैं) की बुद्ध-प्रतिमा बनती रही। मध्ययुग (७वीं सदी) से मगध में धातु-प्रतिमा का निर्माण आरम्भ हुआ जिसका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया गया है। इस चित्र में बुद्ध खड़े हैं तथा हाथ अभयमुद्रा में है। शरीर पर संघाटी में लहर की बनावट है। सिर पर उष्णीस दीख पड़ता है। दोहरे कमलासन तथा धातु का प्रयोग नालंदा तथा कुर्कोहर की प्रतिमाओं में मिलता है। कलाकार ताँबे अथवा कांस्य को गला कर प्रस्तर के अनुरूप प्रतिमा तैयार करने लगे। यह उत्तर भारत का नमूना है।

(६६)

कांस्य बुद्ध-प्रतिमा

मध्ययुग से धातु का प्रयोग मगध में होने लगा। बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण प्रतिमाएँ धातु में तैयार की जाने लगीं। इस चित्र में भगवान् बुद्ध खड़े हैं। दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। बाएँ हाथ से संघाटी का छोर पकड़े हैं। इस प्रतिमा के चारों तरफ प्रभामण्डल दीख पड़ता है जो प्रतिमा के पीछे जोड़ा गया है। बुद्ध-प्रतिमा वैष्णव-धर्म से प्रभावित है। आठवीं-नवीं सदी में वैष्णव मत के प्रभाव के कारण बुद्ध-मूर्ति में किरीट, मुकुट तथा अंगों में आभूषण दिखलाया गया। इस प्रतिमा में भी कुण्डल, हार, कड़ा, भुजबन्द विद्यमान हैं। बुद्ध-प्रतिमा चित्र संख्या ६३ में इनका अभाव है। यानी यह मूर्ति मध्ययुग के उत्तरार्द्ध काल में तैयार की गई थी। दोहरा कमल का आसन ऊँचे चबूतरे पर बनाया गया है। प्रतिमा की सुन्दरता के लिए इस तरह का ऊँचा आसन बना करता था।

(६७)

आसन बुद्ध-प्रतिमा

कांस्य धातु की यह बुद्धमूर्ति अनेक प्रकार के अलंकरणों को लेकर बनी है। दोहरे कमलासन को सिंह की पीठों पर स्थित किया गया है। बुद्ध सिंहासन पर भी प्रदर्शित किए जाते थे किन्तु मध्ययुग में दोहरे कमलासन की स्थिति आवश्यकतावश बनाई जाती थी। भगवान् बुद्ध भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठे हैं किन्तु सिरे के भाग पर वृक्ष

की आकृति स्पष्ट नहीं है। सिर के चारों तरफ प्रभामण्डल भी मध्ययुग की विशेषता है। यह पूर्वार्द्ध काल (७वीं या ८वीं सदी) में बनी होगी। सिर पर उष्णीस दीख पड़ता है। दाहिना कन्धा खाली तथा बाँया संघाटी से ढँका है। व्याल तथा विद्याधर भी वर्तमान हैं। यह धातु-प्रतिमा कुर्कीहर (बिहार प्रदेश) से प्राप्त हुई है।

(६८)

अवलोकितेश्वर

बोधिसत्त्व की कल्पना महायान की देन है। तीन प्रकार के बोधिसत्त्व की प्रस्तर प्रतिमाएँ मिली हैं—

(अ) पद्मपाणि (ब) वज्रपाणि (स) मंजुषापाणि

प्रथम को अवलोकितेश्वर कहते थे। गन्धार कला से मगध तक इनकी प्रतिमाएँ मिलती हैं। मध्ययुग में वज्रयान के देवता समूह में प्रत्येक देव किसी-न-किसी ध्यानीबुद्ध से उत्पन्न माने जाते हैं। इसलिए प्रतिमा के सिरे पर बुद्ध की छोटी आकृति बनती रही। इस चित्र में चतुर्भुजी अवलोकितेश्वर बाएँ हाथ में कमल पुष्प लिये हैं। सिरे के मुकुट पर बुद्धमूर्ति खुदी है। दोहरा कमलासन इस प्रतिमा को मध्ययुगी घोषित करता है। यह धातु-प्रतिमा मगध में तैयार हुई थी।

(६९)

विष्णु की धातु-प्रतिमा

दोहरा कमल तथा ऊँचा आसन बतलाते हैं कि यह धातु-प्रतिमा मध्ययुग में निर्मित हुई थी। मूर्ति के दो हाथ हैं जिसमें चक्र तथा गदा दीख पड़ते हैं। सिर पर किरीट, मुकुट तथा गले में वनमाल स्पष्ट रूप से बनाए गए हैं।

(७०)

नटराज शिव

साधारणतया नृत-शिव प्रतिमा दक्षिण भारत से उपलब्ध हुई हैं। मध्ययुग में ही ऐसी प्रतिमाएँ बनने लगीं जब उत्तरी भारत में मगध में बौद्धमूर्तियाँ बन रही थीं। शिव नृत अवस्था में अप्समार की पीठ पर खड़े हैं। बायाँ पैर ऊपर उठा हुआ है।

चारों हाथ विभिन्न मुद्राओं में हैं। एक में डमरू तथा पिछला बायाँ में अग्नि। सामने का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में तथा बायाँ उठाए पैर को संकेत करता हुआ। सिर से ज्ञान की ज्वाला निकल रही है। अज्ञान से हट कर ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य अभय हो जाता है। भगवान् शिव की शरण में जाने से ही ज्ञानलाभ हो सकता है।

(७१)

पार्वती

दक्षिण भारत में शिव की नृत मूर्तियों की अधिकता है किन्तु शिव की शक्ति

पार्वती की भी धातु-प्रतिमा प्रकाश में आई है। देवी का दाहिना पैर आसन पर है। बायाँ नीचे लटका है। प्रवचन की मुद्रा में बेठी हैं।

(७२)

गन्धार बुद्ध

ईसवी सन् के आरम्भ से महायान मत का उदय हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध की प्रतिमा निर्मित होने लगी। सर्वप्रथम उत्तर-पश्चिम भारत (गन्धार का भूभाग) में मूर्ति का शुभारम्भ हुआ। इस चित्र में बुद्ध का केवल सिर दिखलाई पड़ता है।

बालों को सँवार कर केशग्रन्थि के रूप में ऊपर बाँधते थे। उसमें लहर भी प्रकट होती है। शान्त चेहरा, ललाट पर तिलक तथा आँखें आधी खुली दीख पड़ती हैं। यह भूरे (स्लेटी) प्रस्तर का बना है। इसके पश्चात् प्रतिमा में क्रमिक विकास होता गया।

(७३)

बुद्ध (आसन अवस्था में)

गन्धार के समकालीन मथुरा में भी बुद्ध-प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं थी। वहाँ के कलाकारों के सम्मुख मध्य भारत भी यक्ष प्रतिमा (चित्र सं० २) का आदर्श नमूना था, अतएव मथुरा में विशालकाय स्थूल रूप में बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं। उसी शैली की (चित्र सं० ९) यह बैठी प्रतिमा है। सिर पर उष्णीस, दाहिना कन्धा खाली, बायाँ संघाटी से ढँका हुआ तथा पद्मासन इसकी विशेषता है। नाभि की गहराई, स्थूलकाय, चौड़े कन्धे तथा स्त्री के अनुरूप छाती मथुरा शैली की याद दिलाती है। यह चौथी सदी में निर्मित हुई। बोधगया से प्रकाश में आई है।

(७४)

अवलोकितेश्वर

मध्ययुग से वज्रयान मत में १०८ बोधिसत्त्व की कल्पना की गई थी जिसमें अवलोकितेश्वर (लोकेश्वर नाम भी दिया गया) को प्रमुख स्थान भी दिया गया है। वज्रयान देवता समूह मे प्रत्येक देव किसी ध्यानीबुद्ध से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा माना जाता है। इस कारण वर्तमान चित्र में इस बोधिसत्त्व के सिरे पर ध्यानीबुद्ध अमिताभ की छोटी आकृति खुदी है। बायें हाथ में कमल है अतएव यह पद्मपाणि अवलोकितेश्वर कहे जाते हैं। दाहिना हाथ वरदमुद्रा में है। मध्ययुग में ही बैठी लोकेश्वर की प्रतिमायें मिली हैं।

(७५)

मंजुश्री

बोधिसत्त्व में मंजुश्री नाम प्रसिद्ध है। इनके हाथ में मंजुषा (पुस्तक) रहती

है अतएव मंजुश्री नाम पड़ा। यह स्वतन्त्र देवता माने जाते हैं। इनकी पूजा से ज्ञान-लाभ होता है।

(७६)

तारा-वज्रयान की देवी

वज्रयान मत में ध्यानीबुद्ध की शक्ति का नाम तारा है। जैसे हिन्दू देवता में विष्णु या शिव की देवी लक्ष्मी या पार्वती का स्थान है। पांचध्यानी बुद्ध की पाँच तारा रङ्गों (हरा, पीला, लाल, सफेद, श्याम) से पृथक्-पृथक् वर्णित है किन्तु प्रस्तर प्रतिमा में वैसा विभेद सम्भव नही। तारा देवी की अपनी विशेषता है। इनके विशिष्ट गुणों में अर्द्धपद्मासन, दोहरे कमल का पीठ, बायाँ पैर कमलासन पर, दाहिना नीचे लटका हुआ, हाथ वरदमुद्रा में तथा बायें में नीलोत्पल (पुष्प), सिर पर मुकुट, अङ्गों में आभूषण, केशग्रन्थि आदि की गणना होती है। किसी मूर्ति में सिरे पर अमोघसिद्धि की आकृति दीख पड़ती है परन्तु अधिकतर मूर्तियों में कोई ध्यानी-बुद्ध नहीं दीख पड़ते। इस तारा के पार्श्व में अशोकक्रान्ता, मारीचि तथा महामायूरी खड़ी हैं। इसे वरदतारा भी कहते हैं। तारा के स्मरण का मन्त्र है—

ॐ तारे तु तारे तुरे स्वाहा।

(७७)

खदिरवणि तारा

वज्रयान में शक्ति को तारा पुकारते हैं। हरे रंग वाली तारा को खदिरवणि का नाम दिया गया है। तारा के विशिष्ट गुण तो सभी में वर्तमान नहीं हैं परन्तु मुकुट, आभूषण, उत्पल आदि स्पष्ट दीख पड़ते हैं। सिरे भाग में पाँच ध्यानीबुद्ध की आकृतियाँ खुदी हैं जिससे स्पष्टतया वज्रयान देवी सिद्ध होती है। चित्र सं० ७३ में देवी खड़ी है। बायें हाथ में पुष्प दिखलाई पड़ता है परन्तु दाहिना खण्डित है। महोबा (मध्य प्रदेश) से यह प्राप्त हुई है।

(७८)

खसरपण

दोहरे कमलासन पर खड़ी वज्रयान देव प्रतिमा पूर्वी भारत (नालंदा) से प्राप्त हुई है। पाँचों ध्यानीबुद्ध की आकृतियाँ सिरे भाग पर खुदी हैं। इसे खसरपण नाम से पुकारते हैं। इसके सहयोगियों की आकृतियाँ स्पष्ट हैं।

(७९)

मुकुटधारी बुद्ध-प्रतिमा

मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में ऐसी बुद्ध-प्रतिमाएँ बनती रहीं, जिन पर वैष्णव मत का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रतिमा में बुद्ध चीवर में नहीं हैं किन्तु किरीट, मुकुट धारण किए वस्त्राभूषण से सुसज्जित हैं। दोहरे कमल पर बैठे हैं जो सिंहासन पर रक्खा

है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विष्णु मूर्ति की तरह इस प्रस्तर (Stele) पर भी बुद्ध के जीवन की घटनाएँ प्रदर्शित हैं। कमलासन में दाहिने जन्म का प्रदर्शन है। बाईं ओर ध्यान, उसके ऊपर धर्मचक्र परिवर्तन तथा सिरे पर महापरिनिर्वाण दिखलाया गया है। इस प्रकार चारों घटनायें - जन्म, ज्ञान, उपदेश तथा मृत्यु–मुख्य प्रतिमा के चारों ओर प्रदर्शित हैं (विष्णु मूर्ति में अवतार दिखलाया गया है, देखिए चित्र संख्या १४)। इससे दोनों प्रतिमायें समकालीन मानी जाती हैं।

(८०)

आयागपट्ट

जैन प्रतिमा का आरम्भ मौर्ययुग में ही हो गया था। लोहानीपुर (पटना) की दिगम्बर प्रतिमा में अशोक स्तम्भ के सदृश लेप (Police) है अतएव वह ईसवी पूर्व चौथी सदी में तैयार की गई होगी। शुंगकालीन कंकाली टीला (मथुरा) जैन स्तूप के अवशेष मिले हैं तथा उसी समय के प्रस्तर के पूजापट्ट भी उपलब्ध हुए हैं जिन्हें आयागपट्ट कहा जाता था (देखिए विवरण)। यह प्रस्तर अलंकृत है तथा आठ मांगलिक चिह्नों से युक्त है। पूजा निमित्त अमोहिनी ने इसे प्रदान किया था।

(८१)

महावीर प्रतिमा सहित पट्ट

ईसवी सन् पूर्व में निर्मित महावीर की प्रतिमा नहीं मिलती। उसका एक मात्र उदाहरण आयागपट्ट के मध्य में खुदी आकृति में पाया जाता है। इसमें महावीर ध्यानमुद्रा में बैठे हैं।

(८२)

वृषभनाथ एवं महावीर

जैनमत में दिगम्बर मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं। इस युग्म प्रतिमा में पहला वृषभनाथ या आदिनाथ की आकृति है जो जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। पुराणों में भी वृषभनाथ का उल्लेख मिलता है। उसी के साथ दाहिनी ओर महावीर की आकृति है जो २४वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। इस प्रकार इन दो आकृतियों (प्रथम तथा चौबीसवें तीर्थंकर) से जैनी चौबीस तीर्थंकरों की कल्पना करते हैं। आदि तथा अन्त की दो मूर्तियों के अन्दर अन्य सभी समाहित हैं। प्रतिमा पीठ पर आदिनाथ का प्रतीक वृषभ तथा महावीर के प्रतीक सिंह की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। दोनों नग्न हैं। महावीर के सिरे पर उष्णीस है। वृषभनाथ मुकुट धारण किए हैं।

(८३)

नेमिनाथ

जैनमत के तीर्थंकरों में नेमिनाथ को इक्कीसवां स्थान देते हैं। इनके कन्धों

पर केश लटके दिखलाए गए हैं। ध्यानमुद्रा में स्थित हैं। पीठ पर बकरे (चिह्न) की आकृति खुदी है। अलंकृत प्रभामण्डल का एक अंश दिखलाई पड़ता है।

(८४)

मध्ययुगी नेमिनाथ

राजगिरि जैनियों का तीर्थस्थान माना जाता है। सप्तपर्णि गुहा के मार्ग में एक जैन मंदिर का अवशेष है जहाँ से अनेक तीर्थकरों की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। नेमिनाथ की प्रतिमा उसी स्थान से प्राप्त हुई है।

(८५)

पार्श्वनाथ

जैनमत के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। नग्न प्रतिमा से दिगम्बर मूर्ति सिद्ध होती है। सिरे पर सर्प के फन का स्वरूप पार्श्वनाथ का प्रतीक है। नागपूजा अनार्य थी। आर्य लोगों ने विष्णु एवं शिव के साथ सम्बन्धित किया। बौद्धमत में मुचलिन्द तथा इलापेट्रा को स्थान दिया गया। जैनियों ने नागफन को पार्श्वनाथ के सिरोभाग पर स्थिर किया जो तेईसवें तीर्थङ्कर का प्रतीक है। छाती पर श्रीवत्स दीख पड़ता है। जैन प्रतिमाओं की विशेषताओं में श्रीवत्स को प्रमुख माना जाता है। यह काले प्रस्तर की मूर्ति राजस्थान से प्रकाश में आई है।

(८६)

बृहत्तर भारत की बौद्ध-प्रतिमा

भारत के बाहर बृहत्तर भारत में भी भारतीय कला का प्रचार एवं विकास हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया में बुद्धमत तथा ब्राह्मणधर्म, दोनों का प्रसार समयानुकूल हुआ था। इस कारण वहाँ के भूभाग में बुद्ध तथा ब्राह्मण देवताओं की प्रतिमाएँ मिली हैं। इस प्रतिमा में दार्शनिक पद्धति पर त्रिरत्न का (बुद्ध, धर्म तथा संघ) प्रदर्शन मिलता है। मध्य की प्रतिमा बुद्ध, दाहिने धर्म तथा बाईं ओर संघ का मूर्तिमान रूप है। मध्य जावा से यह प्रकाश में आई है। बुद्ध-प्रतिमा के सिर पर किरीट मुकुट पर ध्यानीबुद्ध आसीन हैं। शरीर पर अलंकार दीख पड़ता है। मध्ययुगी भारतीय कला का अनुकरण जावा में किया गया था।

(८७)

बुद्ध-धर्मचक्रपरिवर्तन

भारतीय कला में बुद्ध के प्रथम प्रवचन का प्रदर्शन सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा में मिलता है। उसमें भगवान् अर्धउन्मीलित नेत्र के साथ पद्मासन मारे बैठे हैं। दोनों हाथ की अँगुलियाँ प्रवचन मुद्रा में हैं। धर्मचक्रपरिवर्तन नाम से विख्यात है। पश्चिमी जावा से यह मूर्ति प्राप्त हुई है। इस पर गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा का प्रभाव है। शरीर पर पारदर्शक वस्त्र है। हाथों पर संघाटी का भाग दीख पड़ता है।

(८८)

बुद्ध की धातु-प्रतिमा

मध्ययुग से नालंदा के भूभाग में धातु-प्रतिमाओं की ढलाई होने लगी थी। सम्भवतः उसी कला का प्रभाव दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में भी हुआ। बोनियो की वर्तमान कांस्य प्रतिमा उसी शैली की नकल है। प्रतिमा खड़ी दशा में है। दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। बायें हाथ से चादर का कोना पकड़े है। दाहिना कंधा वस्त्र-रहित है। पालशैली का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

(८९)

ब्रह्मा की प्रतिमा

दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में ब्राह्मणमत के प्रचार से त्रिदेवों की पूजा आरम्भ हो गई। अतएव ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। यह ब्रह्माप्रतिमा जावा के पूर्वी भाग से प्रकाश में आई है। चार हाथ तथा तीन सिर हैं। हाथों में कमण्डलु तथा स्रुवा दीख पड़ता है। सिरे पर रत्नजटित मुकुट है।

(९०)

विष्णु-प्रतिमा

यह कहा जा चुका है कि ब्राह्मणधर्म के प्रसार से त्रिदेवों की पूजा द्वीपों में प्रारम्भ हो गई थी। विष्णु-प्रतिमा जावा से प्रकाश में आई है। चतुर्भुजी भगवान् शंख, चक्र, गदा एवं पद्म लिये खड़े हैं। मध्ययुगी प्रतिमाओं में सुन्दरता का अभाव-सा है।

(९१)

शिव-मूर्ति

दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपसमूहों में त्रिदेवों की पूजा होती थी। अभिलेखों में भी पूजा-प्रसार का वर्णन है। यह शिवप्रतिमा (अनुग्रह स्वरूप) जावा से प्रकाश में आई है। मूर्ति के सिरे पर कंकाल की खोपड़ी दीख पड़ती है। बाईं ओर सर्प मौजूद है। तीसरा नेत्र भी स्पष्ट है। इस प्रकार शिवप्रतिमा के शरीर पर आभूषण भरे पड़े हैं। हार, कुण्डल, भुजबन्द, कड़ा आदि आभूषण सुन्दर रीति से प्रतिमा को विभूषित कर रहे हैं। चतुर्भुजी मूर्ति के हाथों में त्रिशूल (भग्न) तथा डमरू दिखलाई पड़ते हैं।

(९२)

गणेश प्रतिमा

जावा से गणेश मूर्ति पंचायतन पूजा के प्रचार का द्योतक है। गणेशजी के

सूँड़ तथा सिरे पर रत्नजटित मुकुट है। चतुर्भुजी मूर्ति के शरीर पर आभूषण तथा यज्ञोपवीत दीख पड़ते हैं। दोहरे कमलासन पर बालक रूप में गणेश बैठे हैं। दोनों दांत दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सूंड़ से लड्डू उठा रहे हैं।

(९३)

धनकुबेर प्रतिमा

ब्राह्मणधर्म के प्रचार के साथ प्रमुख देवताओं की पूजा बृहत्तर भारत में होती रही किन्तु गौण देवगण भी स्थान पा चुके थे। धनकुबेर उसी प्रकार के गौण देवता हैं। ऊँचे सिंहासन पर बैठे हैं। नीचे घड़े का आकार बना है जो सम्भवतः द्रव्य से भरा है। बाएँ हाथ में नेवला पकड़े हैं जो रत्न उगलता है। यही कारण है कि कुबेर का प्रतीक नेवला माना जाता है। सिर पर रत्नजटित मुकुट है। शरीर पर मूल्यवान आभूषण दीख पड़ते हैं। जावा से यह प्रतिमा प्राप्त हुई है जो भारतीय ढंग की है।

—:o:—

उपक्रमणिका

(१) विस्वन्तर जातक (पृष्ठ ३९–४४)

बुद्ध के जीवन-कथाओं में विस्वन्तर जातक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस कथानक से जनजीवन की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। जिस कारण राजा को भी प्रजा के सामने झुकना पड़ा। कथानक निम्न प्रकार से है—राजा विस्वन्तर पूर्वी पंजाब का शासक था। उसके पास एक सफेद हाथी था। हाथी को यह वरदान प्राप्त था कि वह जहाँ भी जायेगा, जोरों से वर्षा होगी। उड़ीसा प्रदेश में अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ा और वर्षा का नाम न था। इस कारण उड़ीसा के ब्राह्मण विस्वन्तर के समीप गए और अकाल सम्बन्धी दुःखभरी कहानी सुना कर राजा से हाथी माँगा। अनावृष्टि की करुणकथा सुनकर विस्वन्तर ने ब्राह्मणों को हाथी दान कर दिया। साँची तोरण के फलक के मध्य पट्टी पर विस्वन्तर जातक का प्रदर्शन किया गया है। उस दृश्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि प्रजा ने उस दान का विरोध किया, जिसके फलस्वरूप विस्वन्तर को राज्य त्यागना पड़ा। वह गद्दी छोड़ कर जंगल चला गया। अनेक कठिनाइयों के पश्चात् उसकी सचाई की परीक्षा ली गई। अन्त में उसे पुनः राज्य मिला। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा से इसकी तुलना की जा सकती है।

साँची तोरण के पट्टी के दोनों तरफ इस कथानक का प्रदर्शन कलाकारों ने सफलतापूर्वक किया है। प्रारम्भ में राजा द्वारा हाथीदान का दृश्य है। वृद्ध ब्राह्मण खड़े हैं, विस्वन्तर उन्हें विधिवत् हाथी दान कर रहा है। उसके आगे राजमहल से बाहर निकलते राजा, रानी तथा उनके पुत्रों की आकृतियाँ खुदी हैं। राजा रथ पर सवार होकर जंगल को जाता है यानी राजपाट त्याग कर दिया। जंगल के समीप वह रथ छोड़ देता है। जंगल की ओर जाते समय रथ के घोड़ों का जो मार्ग था, उसके विपरीत घोड़े लौटते दिखलाए गए हैं। तात्पर्य यह है कि विस्वन्तर राज्य की कोई वस्तु अपने साथ नहीं ले गया। एक ओर रथ के लौटने का दृश्य है तो आगे राजा जंगल में प्रवेश कर गया, इसे प्रदर्शित किया गया है। शेर, हिरन, बन्दर तथा अव्यवस्थित वृक्ष जंगल की स्थिति के द्योतक हैं। विस्वन्तर को जंगल में अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं। वन में प्रवेश करने पर तथाकथित ब्राह्मण साधुओं ने राजा से पुत्रों को दान में माँगा। विस्वन्तर दानी के रूप में प्रसिद्ध था अतएव पुत्रों को माँगने पर शीघ्र ही दान कर दिया। राजा-रानी दोनों घनघोर जंगल में पहुँच गए, जहाँ जंगली पशुओं (शेर, चीता आदि) की बहुलता थी। तोरण की पट्टी के पीछे इस घटना को प्रदर्शित किया गया है। महारानी पानी लाने अन्यत्र जाती हैं तो शेर रास्ते में उसे रोक देते हैं। पुत्रों को ब्राह्मण साधु कठिन दण्ड देने लगे। परन्तु राजा कर

ही क्या सकता था ? थोड़े समय के पश्चात् स्त्री को भी विस्वन्तर ने दान कर दिया क्योंकि वह साधुओं की माँग (स्त्री का दान) को तिरस्कृत नहीं कर सकता था। अन्त में वह स्वयं चिन्ता में पड़ा था (जैसे हरिश्चन्द्र श्मशान में असमंजस में पड़ गया था) किन्तु लाचारी थी। देवकृपा से राजा पुनः सिंहासनारूढ़ हो जाता है। इस प्रकार कथान्तक को समाप्त किया गया है। सम्भवतः हरिश्चन्द्र की कथा से विस्वन्तर जातक प्रभावित हुआ हो।

(२) षड्दन्त जातक (पृष्ठ ३९-४४)

भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं में षड्दन्त जातक प्रसिद्ध कथानक माना जाता है। हाथी के छः दाँत (षड् + दन्त) से सम्बन्धित यहाँ जातक है। उसमें कहा गया है कि बोधिसत्त्व की दो रानियाँ थीं-(१) चुल्लसुभद्रा, (२) महासुभद्रा। दोनों में प्रेम के बदले ईर्ष्या ने अधिक स्थान ले लिया था। बोधिसत्त्व की दो पत्नियों में एक का स्वर्गवास हो गया पर मरते समय उसने प्रार्थना की कि वह काशिराज ब्रह्मदत्त की पत्नी के रूप में पैदा हो ताकि अपनी सौत से बदला ले सके। ऐसा ही हुआ। दूसरे जन्म में चुल्लसुभद्रा काशिराज की पत्नी हुई। उसे आत्मज्ञान हुआ कि बोधिसत्त्व हाथी के रूप में पैदा हुआ है। उसके छः दाँत हैं तथा मानसरोवर (हिमालय पर्वतीय स्थान) में रहता है। अतएव चुल्लसुभद्रा से प्रेम न करने के कारण एवं काशिराज की पत्नी की स्थिति में आकर, रानी ने षड्दन्त को मार कर दाँत लाने के निमित्त आज्ञा प्रसारित की। काशिराज की सेना मानसरोवर पहुँची तथा व्याधों ने प्रयत्न किया कि वह षड्दन्त हाथी को मार डालें। साँची की पट्टी पर यह दृश्य खुदा है। ध्यानपूर्वक उस खुदाई के परीक्षण से पता लगता है कि षड्दन्त हाथी जल में स्नान कर रहा है। षड्दन्त के सिरे पर दूसरा हाथी छत्र धारण किए है। जो बोधिसत्त्व के महत्त्व को बतलाता है। भरहुत वेदिका पर भी षड्दन्त का प्रदर्शन मिलता है किन्तु साँची से कुछ भिन्न है। इसमें बोधिसत्त्व (षड्दन्त) दो पत्नियों (हथिनी) के साथ घूम रहा है। एक पत्नी पति (षड्दन्त) द्वारा प्रदत्त पुष्प सूँड़ से सिर पर रख रही है तथा दूसरी (जिसके प्रति बोधिसत्त्व उदासीन भाव रखता था) उदास मलिन चेहरे सहित खड़ी है। साहित्य ग्रन्थों में भी यह कथा बुद्ध तथा भिक्षुणियों से सम्बन्धित है। एक से भगवान प्रेम करते थे और दूसरी दोषयुक्त थी (साँची प्रदर्शन में)। भरहुत वेदिका पर जातक के नाम (Level) खुदे हैं जिससे उस दृश्य के समझने में कठिनाई नहीं होती है। उसमें शिथिलता यानी गति का अभाव है।

जिस मार्ग से वह छः दांत वाला हाथी घूमता है, उसके सिरे पर छत्र अवश्य दीख पड़ता है। जल में उस हाथी के पैर पानी में हैं। ज्यों-ज्यों वह बाहर निकल रहा है, उसका पैर दिखलाई पड़ता है। इस दृश्य में षड्दन्त की आकृतियाँ स्थान-स्थान पर बनी हैं। इसमें मुख्य पात्र (षड्दन्त) को एक ही प्रकार से कई जगहों पर चित्रित किया गया है। इस कारण कथानक के प्रदर्शन में गतिशीलता आ जाती है।

(Story-Narration)। अन्त में वह षड्दन्त तालाब किनारे एक पेड़ के नीचे खड़ा हो जाता है जिसके पीछे व्याधा छिपा है। साँची तोरण का प्रदर्शन यहीं समाप्त हो जाता है। छः दाँत निकाल कर रानी के सम्मुख उपस्थित करने की वार्ता साँची तोरण पर प्रदर्शित नहीं है। व्याधा की उपस्थिति से तथा हाथ में तीर-धनुष के कारण षड्दन्त की मृत्यु का आभास मिलता है।

अजंता गुफा के भित्तिचित्र में साँची का अनुकरण है परन्तु उसमें विस्तार नहीं है उसमें अगला अंश प्रदर्शित है। यानी काशिराज सहित रानी के सम्मुख एक व्यक्ति (व्याधा) टोकरी में हाथी के छः दाँतों को उपस्थित करता है जिसे देखकर रानी बेहोश हो जाती है। सम्भवतः उसे पति की हत्या कराने के दुष्कर्म से अकथनीय क्लेश का अनुभव हुआ वह औरमूच्छित हो गई। साँची तोरण के प्रदर्शन को अजंता के भित्तिचित्र सम्पूरित (Supplement) करते हैं। प्रस्तर के प्रदर्शन से पहला भाग तथा चित्र से उत्तरार्द्ध का परिज्ञान होता है। इस जातक के द्वारा मनुष्य के अन्तस्थित भावना की जागृति तथा दुष्कर्म के कठोर प्रभाव की अभिव्यक्ति की गई है।

(३) महाकपि जातक (पृष्ठ ३९-४४)

शब्दार्थ से भी प्रकट होता है कि इस जातक में महाकपि की कथा वर्णित है। बोधिसत्त्व की यह कथा सांची तोरण पर प्रदर्शित है। इसमें 'अहिंसा परमोधर्मः' की शिक्षा दी गई हैं। कथानक इस प्रकार है कि काशिराज ब्रह्मदत्त की राजसभा में एक मछुआ सुन्दर आम भेंट करने आया। रानी ने उसे चखा तो अत्यन्त मीठा था। रानी के मन में विचित्र विचार आया कि इस मीठे आम खाने वाले जानवर का हृदय (मांस का अंश) तो आम से भी अधिक स्वादिष्ट होगा। अतएव उसने आज्ञा दी कि आम खाने वाले जानवर का हृदय सामने लाया जाय। काशिराज की सेना ने आम्र के बढ़ते मार्ग का अनुसरण किया और एक स्थान पर नदी के किनारे उस प्रकार के आम्रवृक्ष को देखा। उस पेड़ पर सैकड़ों बन्दर उस सुन्दर तथा मीठे आम को खा रहे थे। राजा के सैनिकों ने उन बन्दरों को मारने का असफल प्रयत्न किया। उस कथानक में वर्णन है कि बोधिसत्त्व (जो बन्दरों के अगुआ के रूप में वहाँ वर्तमान थे) ने ऐसी योजना तैयार की कि समस्त बन्दरसमूह उस पेड़ से नदी पार पहुँच गए। उस कार्य में बोधिसत्त्व ने अपने शरीर को लम्बा बना कर नदी पर पुल तैयार कर दिया। उस पेड़ पर पिछले दो पैरों को स्थापित किया और अगले दोनों पैरों को नदी पार वृक्ष पर रक्खा। इस तरह बोधिसत्त्व का शरीर ही पुल हो गया और उसकी पीठ पर सारे बन्दर इस पार से उस पार चले गए और राजा के सैनिकों को कुछ हाथ न लगा।

साँची की पट्टी पर यह चित्र खुदा है। उसमें नदी दिखलाई पड़ती है। उस पर महाकपि का (बन्दर=बोधिसत्त्व) फैला शरीर पुल बन गया है। उसकी पीठ पर चलते बन्दर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कुछ नदी पार पहुँच भी गए हैं।

खुदे चित्र के ऊपरी भाग में यह दृश्य है तथा निचले भाग में एक मनुष्य पेड़ के तना के समीप बैठा है और दूसरे व्यक्ति से बातें कर रहा है। कथानक इस प्रकार है कि काशीनरेश के सैनिकों ने जिस समय बन्दरों पर आक्रमण शुरू किया, उसी समय बोधिसत्त्व (महाकपि) मनुष्य की आवाज में चिल्लाता है कि तुम सभी सैनिक निरपराध बन्दरों को क्यों मार रहे हो ? बन्दर के मुख से मनुष्य की आवाज सुन कर सैनिक स्तब्ध हो गए। उन लोगों ने उस बन्दर से प्रश्न किया कि तुम (वह) कौन हो जो मनुष्य की आवाज में बोलता है। उत्तर मिला, बोधिसत्त्व। मैं तुम सभी को 'अहिंसा' की शिक्षा देने आया हूँ। सैनिक शान्त हो गए। घर लौट कर काशिराज को सारा वृत्तान्त सुनाया।

(४) शृङ्गार दुर्गा (पृष्ठ १३७)

दुर्गा की प्रतिमा अधिकतम राक्षसों का विनाश करती प्रदर्शित की गई है। नव-दुर्गा की प्रतिमायें स्थान-स्थान से मिली हैं किन्तु कतिपय स्थानों से शृङ्गार करती दुर्गा की मूर्ति उपलब्ध हुई है। शिव के साथ स्वतन्त्र रूप से नृत्य करने के निमित्त देवी शृङ्गार करती दीख पड़ती हैं। विदिशा से ऐसी मूर्ति मिली है जो ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित है। चतुर्भुजी प्रतिमा के बाएँ हाथ में कमल पुष्प है तथा दाहिने हाथ में अमृतपात्र दीख पड़ता है। ऊपर के शेष दो हाथों से ललाटटीका (मांग टीका) द्वारा माथे को सजा रही है। इसी कारण इसे शृङ्गारमुद्रा सहित देवी प्रतिमा मानते हैं। सम्भवतः शिव के नृत पूर्व दुर्गा शृङ्गार कर रही है।

ब्रिटिश संग्रहालय (लंदन) में भी इससे मिलती-जुलती प्रतिमा सुरक्षित है। (चंदा-मिडिवल इण्डियन स्कल्पचर, ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन, फलक ८) गुजरात के एक मन्दिर पर खुदी आकृतियों में शृङ्गारदुर्गा की आकृति स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। यह प्रतिमा आसन (बैठी) अवस्था में है। देवी के आयुध नष्टप्राय हो गए हैं। बैठी प्रतिमा में पैरों में नुपूर बाँधते हुए देवी प्रदर्शित है तथा समीप में सिंह की आकृति खुदी है। अतएव इसे शृङ्गारदुर्गा कह देना सर्वथा उचित है। राज-स्थान में जयपुर के समीप आमेर संग्रहालय में भी एक दुर्गा की प्रतिमा सुरक्षित है जिसके बाईं ओर सिंह की आकृति दीख पडती है। प्रतिमा बहुभुजी है। एक हाथ में दर्पण है, दो हाथों से कर्णकुण्डल को पकड़े हैं तथा अन्य दो से नुपूर बाँध रही है।

इस प्रतिमा में ऋङ्गार के कतिपय कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। नुपूर तथा दर्पण उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं, सिंह की आकृति से देवी को दुर्गा कहना सर्वथा उचित है। शृङ्गार प्रतिभाएँ छठी सदी के उपरान्त भारतीय कला में प्रदर्शित की जाने लगी। राजस्थान की मूर्ति आठवीं सदी की है। अतः यह अनुमान यथार्थ होगा कि दुर्गा की प्रतिमाओं के साथ इस प्रकार की शृङ्गार मूर्ति बनी थी। उत्तर गुप्तकाल में इसकी प्रधानता प्रतीत होती है।

(५) एकानंशा की प्रतिमा (पृष्ठ १४८)

वैष्णव या शैवमत से संबंधी प्रमुख देवियों का वर्णन यथास्थान किया गया

है। एकानंशा नामक देवी का उल्लेख भी कुछ आवश्यक प्रतीत होता है। अतः उसकी विशेषताओं के कारण संक्षिप्त वर्णन युक्तिसंगत होगा। प्रचीन भारत के पौराणिक साहित्य में एकानंशा का विवरण उपलब्ध है। कुछ कलात्मक उदाहरण भी प्रकाश में आए हैं जिस आधार पर साहित्यिक विवरण की पुष्टि होती है। पुराणों में जिस रीति से एकानंशा का वर्णन है, धार्मिक उदाहरण नहीं के बराबर हैं। पुराणों में किसी एक नाम से इस देवी का वर्णन नहीं मिलता, यह आश्चर्य है। इस विभिन्नता का क्या कारण है, यह भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। विभिन्न कथानकों के साथ पृथक-पृथक नाम उल्लिखित हैं। महामति '(महाभारत)' यादवि (हरिवंश पुराण २।३।९) योगनिद्रा (भागवत पुराण १०,२।६) तथा एकानंशा (ब्रह्मवैवर्त पुराण) आदि नाम मिलते हैं।

हरिवंश पुराण में इसे कंस के कथानक के साथ सम्बद्ध पाते हैं। प्रसिद्ध वार्ता है कि वसुदेव कृष्ण (शिशु) को नंद के पास छोड़ कर नवजात कन्या को उठा कर मथुरा ले आए। कंस को इस बात का ज्ञान हो जाने पर वह कन्या को प्रस्तर पर फेंक दिया जो अन्तर्ध्यान हो गई और विन्ध्याचल (मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश) के समीप पुनः प्रकट (अवतरित) हुई। इसी देवी को 'विन्ध्यवासिनी देवी' का नाम दिया जाता है। इसी से उस देवी (जिसे एकानंशा कहा गया है) की पूजा होती है। इस देवी का सम्बन्ध शैवमत से भी जोड़ते हैं। पार्वती तथा एकानंशा का समान रूप से उल्लेख है। त्रिशूल तथा तलवार धारण करने के कारण इसे दुर्गा भी कहा गया है।

(हरिवंश—एकानंशेति विख्याता पार्वत्यश समुद्भवा)

अन्यत्र एकानंशा को वासुदेव तथा बलराम से सम्बद्ध करते हैं। वासुदेव तथा बलराम (संकर्षण) की पूजा व्यूह रूप में ईसवी सन् पूर्व में होती रही। घोसुंडी, तथा नानाघाट-अभिलेखों में वासुदेव संकर्षण के पूजा का उल्लेख मिलता है। इसके विशेष इतिहास में न जाकर यह कहना युक्तिसंगत होगा कि महाभारत के वृष्णि कुल से संकर्षण वासुदेव का सीधा सम्बन्ध मानते हैं। इस विवरण के आधार पर एकानंशा भी इनकी भगिनी सिद्ध हो जाती है। यशोदा के गर्भ से उत्पन्न योगनिद्रा (एकानंशा) की कथा पुराणों में वर्णित है। देवी भी वृष्णि कुल में पैदा हुइ थी, अतः वासुदेव संकर्षण की बहन समझी जाती है।

भारत के कलात्मक नमूनों में दो पुरुष के मध्य एक देवी प्रतिमा दीख पड़ती है। पुरी की जगन्नाथ प्रतिमा में रुक्मिणी से इसकी समता कर सकते हैं। इसी को एकानंशा का नाम दिया गया है। (एकानंशा कार्या बलदेव कृष्णयोर्मध्ये) अनेक भुजाएँ सहित इस देवी की प्रतिमा मिलती है। चार हाथों में (तीन में) पुस्तक, कमल पुष्प, अक्षसूत्र दीख पड़ता है, चौथा वरदमुद्रा में प्रदर्शित है।

राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा बिहार प्रदेश से ऐसी प्रतिमाएँ (दो पुरुष, मध्य में देवी) उपलब्ध हुई हैं। एक स्थान पर इसे लक्ष्मी (गज लक्ष्मी) से

समता करते हैं। कृष्ण बलराम के मध्य गजलक्ष्मी दीख पड़ती है (ज० वि० रि० सो० भा० ४५ पृ० १८६) उत्तर प्रदेश (एटा जिला) से चतुर्भुजी बलराम कृष्ण की प्रतिमा के मध्य देवी की आकृति मिली है। इसे एकानंशा लक्ष्मी कहा जा सकता है। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित तीन आकृतियों के मध्य मूर्ति को एकानंशा कहा गया है (बुलेटिन—म्यूजियम एंड आर्केलाजी यू० पी० भा० १ पृ० २४) डा० बनैर्जी ने इमादपुर कांस्य प्रतिमा को दर्पण-गौरी का नाम दिया है। बृहत्संहिता में एकानंशा भी दर्पण सहित वर्णित है। अतएव उसे एकानंशा मानना उचित होगा। बिहार प्रदेश के मुजफ्फरपुर जिले से प्राप्त पालयुगी तीन कांस्य प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिसे बलराम, कृष्ण एवं एकानंशा की प्रतिमाएँ मानते हैं (जे० वि० र० सो० भा० ५४ पृ० २४० फलक २९) इस विवरण से प्रकट होता है कि एकानंशा वैष्णव तथा शैव मत की देवी मानी जाती रही। मध्ययुगी प्रतिमाएँ अधिकतर वैष्णव धर्म से सम्बन्धित हैं। पौराणिक कथानकों को कलात्मक नमूनों से पुष्ट किया जा सकता है।

(६) रेवन्त (पृष्ठ ८१)

पौराणिक कथानकों के आधार पर रेवन्त तथा विष्णु के दशवें अवतार कल्कि को देवत्व दिया गया है। अग्निपुराण (अ० ४९) विष्णुधर्मोत्तर (खण्ड ३ अ० ७०) तथा बृहत्संहिता (अ० ५७) में दोनों देवताओं का वर्णन आया है। घोड़े पर सवार होने के कारण सम्भवतः समीकरण में संदेह हो जाता है किन्तु अन्य विशेषताओं को ध्यान में रखकर रेवन्त को (सूर्य के पुत्र) कल्कि से पृथक रखना सरल हो जाता है। कल्कि के सम्बद्ध आखेट का दृश्य नहीं मिलता, किन्तु रेवन्त के साथ शिकार करने की बातें स्पष्ट रूप से प्रकट होती हैं। यह सत्य है कि रेवन्त की मूर्ति बिहार प्रदेश से अधिक संख्या में उपलब्ध हुई है। किन्तु पूर्वी भारत में इस प्रतिमा की प्राप्ति यत्र-तत्र होती रही है। सुल्तानगंज से प्राप्त रेवन्त मूर्ति में देवता आखेट के वेश मे चित्रित है।

रेवन्तो अखारुढो मृगया क्रीडादि परिवारः (बृहत्संहिता अ० ५७)

अग्निपुराण में कल्कि का वर्णन विभिन्न रूप में मिलता है—

धौह तूणान्वितः कल्कि मलेच्छोत्सादकरोद्विजः
अथवाश्वास्थितः खड्गी शंखचक्र शरान्वितः।

मार्कण्डेय पुराण में रेवन्त का वर्णन सुनिए—

रेवन्तः खड्गी चर्मी तनुत्रधृक।
अश्वारूढो समुद्‌भूतो वाण तूण समन्तिः॥

इस प्रकार कल्कि तथा रेवन्त में कुछ समानता रहने के कारण समीकरण में संदेह हो जाता है। घोड़े पर सवार, ऊँचे जूते सहित, लम्बी टोपी पहने, छः

सहायक व्यक्तियों के साथ, पीछे से छत्रधारी सेवक, दोनों ओर कुत्ते की आकृति आदि विशेषताओं सहित रेवन्त की मूर्ति खुदी है।

प्रत्येक दशा में अश्वारोही रेवन्त की प्रतिमा मृगया के लिए उद्यत दीख पड़ती है। उस स्थिति के अनुकूल बाजे भी बजाए जा रहे हैं। प्रतिमा के परीक्षण तथा अनुशीलन से प्रकट होता है कि रेवन्त की मूर्ति गुप्तकाल में बनने लगी थी। मध्य युग तक पूर्वी भारत के कलाकार रेवन्त की प्रतिमा तैयार करते रहे। सम्भवतः पूर्व मध्य युग से सूर्य प्रतिमा के साथ रेवन्त की भी मूर्ति अवश्य निर्मित होती रही।

(७) साधनमाला (पृष्ठ २०५)

साधनमाला बौद्ध प्रतिमा निर्माण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस शब्द से ज्ञात होता है कि इस पुस्तक में अनेक साधनाओं (श्लोकों) का संग्रह है जिसमें बौद्ध प्रतिमा के सम्बन्ध में विवरण उपस्थित किया गया है। इसमें वज्रयान देवता समूह का उल्लेख मिलता है। आदि बुद्ध से लेकर ध्यानी बुद्ध तथा उनसे उत्पन्न देवी देवताओं का वर्णन साधनमाला में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त लोकेश्वर तथा तारा (विभिन्न देवियों) के अनेक स्वरूपों का वर्णन किया गया है। सब से विचित्र बात यह है कि साधनमाला के द्वारा ही ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म के पारस्परिक द्वेष सम्बन्धी तथा पददलित करने का दृष्टांत स्वरूप प्रतिमाओं का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। उनके अध्ययन से विदित होता है कि ब्राह्मण प्रतिमाओं को बौद्ध देवताओं ने पैरों से कुचल कर ईर्ष्या-द्वेष के विचारों का साकार उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इस ग्रन्थ में विघ्नान्तक (गणेश) जम्भल (कुबेर) तथा महासरस्वती के वर्णन से प्रकट होता है कि वज्रयान देवता समूह में हिन्दू देवताओं की प्रतिमा का समावेश हो गया था।

अनुक्रमणिका

प

ब